प्रज्ञा

R Phalagali

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका

अंक 29 (भाग 2) एवं 30 (भाग 1) वर्ष—1984

प्रज्ञा

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका

अंक 29 (भाग 2) एवं 30 (भाग 1)
वर्ष—1984

मूल्य : 21.00

मुद्रक : रत्ना प्रिंटिंग वर्क्स, कमच्छा, वाराणसी

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्थापक

पूज्य महामना
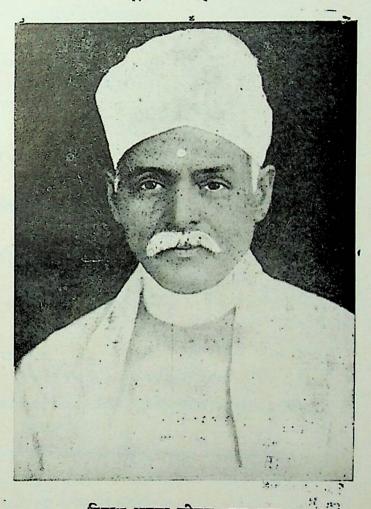
स्निग्ध अपना जीवन कर क्षार
दीप करता आलोक प्रसार
गला कर मृत्पिण्डों में प्राण
बीज करता असंख्य निर्माण

आविर्भाव : वि० सं० १९१८ पौषकृष्ण ८ (२५-१२-१८६१)
तिरोधान : वि० सं० २००३ मार्गशीर्षकृष्ण ४ (१२-११-१९४६)

विषय-सूची

आवरणसज्जा—अञ्जन चक्रवर्ती

CONTENTS

कालिदास के आद्य-बिम्ब (आर्किटाइप्स)

डॉ० जनार्दन उपाध्याय*

कालिदास की रचना में आद्य-बिम्बों (आर्किटाइप्स) का सन्धान एक चौंकाने वाला तथ्य हैं, परन्तु इसके परिप्रेक्ष्य में उसका मूल्यांकन अपना विशिष्ट महत्व रखता है। आद्य-बिम्ब मानव एवं सृष्टि के बीच अनादिकाल से स्थापित रागात्मक सम्बन्धों को विश्लेषित और व्याख्यायित करते हैं। ये प्रमुखतया आदि मनोवेगों के व्यंजक हैं। मिथकीय समीक्षा आद्य-बिम्बों पर आधृत है। अतः निश्चय ही आद्य-बिम्बों की दृष्टि से कालिदास की कृति का मूल्यांकन उसकी मिथकीय समीक्षा के उपक्रम को प्रस्तुत करता है। कालिदास की मिथकीय समीक्षा को प्रक्रिया में कुछ बिन्दुओं से विचार आवश्यक है :

(१) सर्वप्रथम उनकी कृत के मूलवर्त्ती मिथ (Myth) का सन्धान करना आवश्यक है।

(२) सम्पूर्ण कृति के विविध अंग किस प्रकार से केन्द्रीय मिथ को पल्लवित एवं प्रस्फुटित करते हैं।

(३) उनकी कृति के केन्द्रीय मिथ के परिप्रेक्ष्य में वस्तु संघटना के साथ चरित-विधान एवं बिम्ब योजना का विचार भी अपेक्षित है। उदाहरणार्थ "विक्रमोर्वशीयम्" की पुरूरवा एवं उर्वशी की कथा में वैदिक एवं शतपथ ब्राह्मण के सृष्टि विषयक मिथ के साथ आकाश-पृथ्वी के प्रणय मिथ का पल्लवन हैं। साथ ही पुरूरवा उर्वशी, औशीनरी का चरित्र तथा सर्जन का बिम्ब भी उभारा गया है।

प्रस्तुत विषय की सम्पूर्ण व्याख्या विश्लेषण के पूर्व आद्य-बिम्ब (Arche Types) का मनोवैज्ञानिक निरूपण एवं उसकी काव्य सन्दर्भ में सार्पक्षिकता का विचार समीचीन है। फ्रायड व्यक्ति अचेतन मानस की कल्पना करता है। इसमें चेतन मानस द्वारा दबायी गयी वासनाएँ निहित हैं। उनका प्रकाशन स्वप्न, कला, काव्य, मिथ के माध्यम से होता है। ये भावनाएँ मूलतः काम वर्जनाएँ हैं जिनकी अभिव्यक्ति के लिए उसने आद्य-बिम्बों (आर्किटाइप्स-'आडिप्स काम्प्लेक्स, एलेक्ट्रा काम्प्लेक्स, नारसीसीज्म आदि नाम दे रखा है। युंग व्यक्ति अचेतन की जगह सामूहिक अचेतन (Colletive unconcious) की कल्पना करता है। व्यक्ति-अचेतन मानस के नीचे एक ऐसा स्तर है, जहाँ जन्म जन्मान्तर से संस्कार रूप में भावनाएँ दवी पड़ी हैं। ये निर्विशेष स्मृति मात्र हैं। फिर भी ये जातीय समूह मानस की गहराई को व्यक्त करती हैं। युंग इसे ही "आर्किटाइप" कहता है (दे० : कन्ट्रिब्यूशन्स टु एनलिटिकल साइकॉलजी) आर्किटाइप आदिम, अकालिकसहजात प्रवृत्तियों का प्रकाशन हैं, जो सार्वभौम हैं तथा साथ ही इस तथ्य का साक्ष्य प्रस्तुत करता है कि समस्त परिवर्त्तनों के मध्य, वह मानवीय चैत्यकी यात्रा, में शाश्वत बना हुआ है। इस प्रकार युंग का कथन है कि 'आर्किटाइप' एक आकृति (Figure) है—चाहे, वह मनुष्य हो, दानव हो या प्रक्रिया (Process) सर्जनात्मक

---

* प्रवक्ता, प्राच्यविद्या एवं धर्मविज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।

कल्पना के सहज रूप से रूपायित होने पर यह आकृति या बिम्ब उसमें प्रकट होता है। युंग ने बहुत सी कविताओं में एक विशेष संवेगात्मकता को संकेतित किया है। इसका कारण है चेतन मन में अचेतन शक्तियों का स्पन्दन ये आद्य-रूप (आर्किटाइप) मानस में उसी प्रकार के असंख्य अनुभवों के अवशेष हैं जो व्यक्ति नहीं समूह अनुभव जन्य हैं। जो कवि इन आद्य रूपों के माध्यम से बोलता है, वह कहीं प्रभावशाली भाषा में बोलता है, कविता के सन्दर्भ में आद्य-बिम्ब मौलिक सामान्य और सार्वभौम नमूना (विशेषता) है।

फ्रायड, युंग, नीत्शे, शामनंहावर, गेटे, फाउस्ट शेक्सपीयर आदि ने अचेतन के गूढ़ रहस्यों का प्रभविष्णु एवं मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। पर कालिदास अचेतन मानस का दिव्यतम रूप प्रस्तुत करते हैं। उनके लिये यह "अबोध पूर्वा स्मृति है"

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकी भवति यत्सुसितोऽपि जन्तुः
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोध पूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तर सौहृदानि। (अ. श. ५।२।)

रमणीय वस्तुओं को देखकर, सुन्दर शब्दों को सुनकर सुखी जन्तु में भी पर्युत्सकी भाव आ जाता है। अर्थात् अन्तर मन में व्याकुलता आ जाती है। ऐसा लगता है कि श्रोता जन्म-जन्मान्तर से उन सौहार्दों को जो भाव रूप में मन में स्थिर हैं, अकारण ही स्मरण किया करता है। मनुष्य की आत्मा पर अनेक भावों का संस्कार है। सभी हर समय स्मरण में नहीं आते। पर इतना सत्य है कि सौन्दर्याधायक उपादानों का प्रत्यक्षीकरण किसी समानधेया पुरानी स्मृति को उकसा अवश्य देता है। कालिदास स्मृति के इसी 'उभार' की अबोधपूर्वा स्मृति' कहते हैं। यह ऐसी स्मृति है जिसमें विशेष तत्त्वों का स्मरण नहीं रहता। यह एक निर्विशेष स्मृति-मात्र है। नैयायिक भाषा में यह "प्रमृष्टतत्ताक स्मृति है। इसमें तत्तत वस्तुओं की विशेष चेतना नहीं रहती। चित्त में सद्यग्रहीत स्मृतियाँ तो रहती हैं। जैसे पुरूरवा की स्मृति में उर्वशी का चित्र। पर कवि या श्रोता के लिए मानस की इस उपरली भूमि में ग्रहीत स्मृति का महत्व नहीं है। उसके चित्त की भूमि कुछ और है। न जाने कितने जन्म जन्मान्तर के साक्षात्कृत उर्वशी का चित्र उसके मानस में है। इसलिए उसे उर्वशी एक ऐसी सनातन सुन्दर नारी का चित्र उभारती है, जो उसके अचेतन मानस की उपज है :

मैं नाम गोत्र से रहित पुष्प
अम्बर में उड़ती हुई मुक्त आनन्द शिखा
इत्तिवृत्त हीन
सौन्दर्य चेतना की तरंग
सुर, नर, किन्नर, गन्धर्व नहीं
प्रिय मैं केवल अप्सरा
विश्व नर के अतृप्त सागर से समुद्भूत[2]

कालिदास का उक्त श्लोक व्यक्ति अवचेतना के वैयक्तिकस्मृति बिम्ब और सामूहिक अव-चेतन के विश्वजनीन सत्य-बिम्ब को सांकेतित करता है। एक तरफ दुष्यन्त अपनी अवचेतना में

पड़ी शकुन्तला (प्रेमिका + पत्नी) की छायात्मक स्मृति का अस्पष्ट आभास देता है, दूसरी तरफ वह अनजाने एक निगूढ़ अधिमनोवैज्ञानिक सत्य का रहस्य भी उद्‌घाटित करता है। कालिदास ने यहाँ महत्त्व पूर्ण योजना द्वारा वैयक्तिक एवं सामूहिक दोनों प्रकार की अवचेतना का संकेत किया है। उनका प्राथमिक उद्देश्य है वैयक्तिक अवचेतना में पड़ी शकुन्तला की पूर्व जन्म की सी अस्पष्ट छाया स्मृति को उभारना और दूसरा उद्देश्य है एक विश्व जनीन सत्य का संकेतः— किस प्रकार असाधारण क्षणों में हमारी अन्तः सौन्दर्य चेतना काव्यात्मक संवेदनों को जगाती हैं। दुष्यन्त के कथन से इसका संकेत नही मिलता पर पाठक जानता है कि कहीं न कहीं अव-चेतना में शकुन्तला पड़ी है, जो एक जन्म की नहीं अपितु जन्म जन्मान्तर के सौहृद का फल है। आर्किटाइप इसी सामूहिक मानस की उपज है।

नार्थ्रोप फ्राई और लेस्ली फीडलर ने साहित्य का एक ही प्रतिष्ठित एवं मुख्य विषय माना हैं आर्किटाइपस्) प्रत्येक कवि उसी की अपने-अपने ढंग से व्याख्या करता है। कवि के मानस एवं जीवन को नकारा नहीं जा सकता, क्योंकि उसी के अनुरूप वह अभिव्यक्ति का रूप खड़ा करता है। इसीलिए फिडलर 'आदर्श-रूप' (आर्किटाइप्स) पर अपने हस्ताक्षर की बात करता है। कवि के मन में चिरन्तन आदर्श रूप (आर्किटाइप) और वैयक्तिक विचार भाव एकीकृत होकर मिथ या कविता के रूप में प्रकट होते हैं। इस दृष्टि से कालिदास के काव्य को नकारा नहीं जा सकता। कुछ स्थायी पैटर्न, अभिप्राय (Patterns & Motifs) एवं मिथ हैं जो उनके काव्य में आद्य-बिम्बों के रूप प्रकट होते रहते हैं और जिनमें अभिव्यक्ति की विभिन्नता पर भी अभिप्राय की मौलिक एकता है।

मिथकीय समीक्षा के परिप्रेक्ष्य में कालिदास की कृति के कलात्मक वैशिष्ट्य एवं मूल्यांकन को अधिक परिपूर्ण बनाने के लिए तुलनात्मक पद्धति अपेक्षित है। क्योंकि इससे रचना के केन्द्रीय मिथ के मूल प्रेरक तत्त्वों का ज्ञान हो जायेगा तथा साथ ही विभिन्न युगों की पारस्परिक सर्जनात्मक प्रक्रिया के विश्लेषण से उनकी कृति का वैशिष्ट्य भी निरूपित होगा। सर्व प्रथम उनकी 'विक्रमोर्वशी' की विश्लेषणात्मक व्याख्या प्रस्तुत है।

'विक्रमोर्वशीयम का केन्द्रीय मिथ ऋग्वेद के पुरूरवा-उर्वशी की कथा है। पुरूरवा उर्वशी से प्रणय निवेदन करता है। उर्वशी वायवीय है। वह उषा के समान उसके सम्मुख उपस्थित होती है। अतः वह शीघ्र लुप्त भी हो जाती है। पुरूरवा साग्रह याचना करता है। अपने पुरूषार्थ को उसके बिना व्यर्थ समझता है। संयोग से वह देवताओं की सहायता कर उर्वशी का साहचर्य पाता है। दोनों के सहवास से उर्वशी गर्भ धारण करती है और पुत्र को जन्म देती है। इसके बाद वह राजा को प्रजापालन का उपदेश देकर स्वयं स्वर्ग को लौट जाती है।

भारतीय मिथ में आकाश एवं पृथ्वी का प्रणय मिथ प्रख्यात है। वस्तुतः यह एक सार्व भौम सृष्टि विषयक मिथ है, जो ग्रीस एवं मध्य एशिया के देशों की मिथ कथाओं में समान रूप से उपलब्ध है। आकाश से वर्षा होती है पृथ्वी शस्य श्यामला बनती है। सर्जन की क्रिया प्रारम्भ होती हैं और इस प्रकार उर्वरता और सर्जन का भिन्न बनता है। इसी प्राकृतिक तथ्य के आधार पर आकाश पिता और पृथ्वी माता की कल्पना एवं प्रणय मिथ विकसित होता है। पुरूरवा उर्वशी का मिथ इस सृष्टि विषयक द्यावा-पृथ्वी के प्रणय मिथ का ही पात्र विपर्यय से आकार

ग्रहण करता है। वैदिक द्यावा पृथ्वी में पृथ्वी का प्रतिनिधित्व पुरूरवा और आकाश को उर्वशी करती है पर विपर्यय के कारण उर्वशी आकाशीय होते हुए भी नारी तत्त्व के रूप में और पुरूरवा पृथ्वी सम्भूत होकर भी पिता रूप में स्वीकृत है। उर्वशी एवं पुरूरवा में द्यावा-पृथ्वी का प्रणय मिथ और सर्जन मिथ का उपयोग है। पृथ्वी का राजा पुरूरवा हैं। आकाश विहारणी उर्वशी है। दोनों का प्रणय सम्बन्ध और पुत्र आयु का सर्जन सृष्टिपरक उर्वरक मिथ का व्यंजक है। पुत्र जन्म के बाद प्रेमियों का विलग होना मिथुन सम्बन्ध के सृष्टिमूलक उद्देश्य को रेखांकित करता है।

"शतपथ ब्रह्मण" पुरूरवा उर्वशी की कथा में कुछ और छोटे-छोटे मिथों का संयोजन कर उसके आकार को मूर्तित करता है। उर्वशी तीन अनुबन्धों को पुरूरवा के सम्मुख रख कर पत्नी बनना स्वीकार करती है :

(१) त्रिःस्म याऽल्कनो वैतसेन दण्डेन हतातः पुत्र की कामना से दिन में तीन वार उपभोग करना।
(२) अकामां स्मनिपद्यासः कामेच्छा न रहने पर उसके साथ रमण न करना।
(३) मो स्म त्वो नग्नं दर्शम्ः नग्न रूप में कभी सामने न आना (शतपथ–११।५।१) .

पुरूरवा उक्त अनुबन्धों को स्वीकार कर उर्वशी के साथ चिरकाल तक सहवास करता और पुत्र की प्राप्ति करता है। गन्धर्व उर्वशी के लिए व्याकुल हैं। अतः उनके षड़यन्त्र से मेष शावक की रक्षा के लिए पुरूरवा नग्न दौड़ पड़ता है। अनुबंध टूटने पर उर्वशी उसे छोड़ कर लुप्त हो जाती है। पुरूरवा के विरह को देखकर वह नारी रूप में पुनः प्रकट होती है और उससे कहती है कि "मैं वायु की तरह हूँ मेरा अस्तित्व उषा की तरह विलीन हो चुका है इसके बाद वह पुरूरवा को पुत्र प्रसव करने के उपरान्त एक रात को मिलने का वचन देकर चली जाती है। यथा समय गन्धर्वपद प्राप्ति के लिए वह उसे प्रेरित करती है। अन्त में गन्धर्व के वरदान से उसे गन्धर्वपद प्राप्त होता है और उर्वशी-पुरूरवा का पुनः मिलन होता है। इस प्रकार आकाश-पृथ्वी का प्रणय मिथ और सृष्टि मिथ के साथ देवत्व या अमरत्व की प्राप्ति का मिथ भी इस कथा में जुट गया है। पुत्र प्राप्ति के बाद ही कथा की समाप्ति नहीं है, अपितु गन्धर्व पद प्राप्ति पर कथा समाप्त होती है यहाँ उक्त दोनों मिथों प्रणय सम्बन्ध का जन्म सृष्टि मिथ और अमरत्व प्राप्ति मित्र के संयोग से संतति विकास द्वारा अमरत्व प्राप्ति के मिथ का निर्माण हुआ है।

कालिदास ने 'शतपथ ब्रह्मण' मिथ में कुछ और आयामों का संयोजन कर उसे पूर्ण सुगठित कलात्मक रूप दिया है। इनकी कथा के प्रमुख तत्त्व निम्नलिखित हैं।

(१) उर्वशी का पुरूरवा के प्रति आकर्षण।
(२) औशीनरी की कथा।
(३) स्वर्ग में नाटक का अभिनय और भरत का शाप।
(४) कार्तिकेय निषिध वन प्रदेश में उर्वशी का प्रवेश और दण्ड स्वरूप लता में परिणति।
(५) पार्वती के चरण की अरूण कान्ति से उत्पन्न संगमनि मणि द्वारा लता से नारी का रूपान्तरण।

(६) गंधमादन पर संयोग-वियोग का चित्र, प्रतिष्ठान पुर में च्यवन ऋषि आश्रम में पोषित आयु से मिलन और भरत शापवश उर्वशी का तिरोधान।

(७) देवासुर संग्राम में दोनों का चिरमिलन।

स्पष्टतया कालिदास की विक्रमोर्वशी में केन्द्रीय मिथ 'द्यावा-पृथ्वी' प्रणय सम्बन्ध जन्म सृष्टि एवं प्रणयमिथ का उपयोग है। कुछलघुतर मिथ उर्वशी कालता में रूपान्तरण प्रकाश-अन्धकार का द्वन्द (देवासुर-संग्राम), नायक का जन्म (आयु) पुष्ट से नायिका का उद्धार, लौकिक चरित्रों का सम्मिलन आदि का भी उपयोग है। वस्तुतः प्रेम, जन्म, मृत्यु रूपान्तरण आदि ऐसे विषय एवं प्रसंग हैं जिनका समावेश कविता में आद्यरूपात्मक प्रतिकृति के रूप में होता है।

'विक्रमोर्वशीयम् का बीज मिथ द्यावा-पृथ्वी का ही मिथ है उर्वशी स्वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है। अदम्य काम, स्वतंत्र जीवन ऐकान्तिक उन्मुकता एवं असीम सुख भोग वहाँ का जीवन धर्म है। वह स्वयं में पूर्ण सुखभोग है। अतः उसका कोई प्रयोजन नही है। वह एक रस वंध्या और अनुर्वरक है ! औशीनरी पृथ्वी वाचक है। पृथ्वी का पुरुषार्थ धर्म है। काम पुरुषार्थ के होते हुए भी उसे धर्म से अनुशासित होना चाहिए। अतः कर्ममूलक काम भोग या मर्यादित प्रेम पृथ्वी का मूल धर्म है। पृथ्वी का धैर्य एवं सर्जन भी गुण है। औशीनरी मर्यादित प्रेम एवं धैर्य को प्रतीकित करती है, जबकि सर्जन को उर्वशी आयु के प्रसव से प्रतीकित करती है। पृथ्वी का पुरुष रत्न पुरुरवा पार्थिव भोग की सीमा में अतृप्ति का अनुभव करता है, एक रस आनन्द में आमग्न डूबी उर्वशी मानवीय प्रेम की द्विधामयी चेतना-मधुर-तिक्त का भोग कर सर्जन के आनन्द मातृत्व की प्राप्ति के लिए पृथ्वी की ओर उन्मुख होती है। यहाँ तक द्यावा-पृथ्वी के आदि मिथ एवं ततजन्य सृष्टि मिथ का उपयोग कालिदास ने बड़े ही कलात्मक ढंग से किया है। उर्वशी कालता से नारी रूपान्तरण, भरत शाप, देवासुर संग्राम, पुरूरवा द्वारा उर्वशी का मार्ग में दुष्ट से उद्धार, संगमनिर्माण का चमत्कारी संस्पर्श आदि ऐसे अन्य लघुतर मिथ हैं जो इनमें कथानक को कलात्मक वैशिष्ट्य एवं सुसंगठन के लिए बड़े ही नाटकीय ढंग से संयोजित हैं।

'कुमार सम्भव का केन्द्रीय मिथ प्रणयमिथ है। प्रणयमिथ के साथ सृष्टि विषयक मिथ का इसमें संयोजन है। तारकासुर ने देव नगरी को विध्वन्स कर दिया है। आसुरी शक्ति ने दैवीशक्ति पर विजय प्राप्त कर ली है सर्वत्र महानाश की छाया व्याप्त हैं। देवताओं की स्तुति[३] पर ब्रह्मा ने यह स्पष्ट किया कि शिव-पार्वती के समागम से उत्पन्न पुत्र इस महासुर का विनाश कर सकता है। इसके लिए शिव को पार्वती की ओर आकृष्ट करना है क्योंकि शिव तम के पार रहने वाले परम ज्योति स्वरूप है। उनके तेज को पर्वतराज की पुत्री पार्वती ही ग्रहण कर कर सकती है।

सहि देवः परं ज्योतिस्तमः पारे व्यवस्थितम्।[४]
परिच्छिन्न प्रभाव वर्द्धिर्न मया न च विष्णुना ॥ (५८)
उमा रूपेण ये यूयं संयमस्तिमितं मनः।
शम्भोर्यतध्वमाकष्टुमयस्कान्तेन लोहवत् ॥ (५९)

उभे एव क्षमे वोढुमुभयोर्बीजमाहितम् ।
सावा शम्भोस्तदीया वा मूर्ति र्जलमयीमम ॥ (६०)
तस्यात्मा शितिकठंस्थ सैनापत्यमुपेत्यवः ।
मोक्ष्यते, सुरबन्दीनां वेणीवीर्यविभूतिभिः ॥ (६१)

यहाँ तक आसुरी एवं दैवी शक्ति के संघर्ष एवं प्रकाश अन्धकार के द्वन्द्व का मिथ आकार ग्रहण करता है तथा सर्जन की मिथकीय चेतना सजग होती है प्रातः काल सूर्य उषा-के द्वारा तमस का आवरण हटा देता है। उषा से सूर्य की रश्मियाँ तम का नाश करती हैं। सूर्य का तेज उषा में ही है। अन्य ग्रहण नहीं कर सकता। इस प्राकृतिक तथ्य के आधार पर तमो गुणी आसुरी शक्ति की पराजय के लिए तेज पुंज तमः पार व्यवस्थित शिव एवं ज्योति-स्वरूपा तमः पार व्यवस्थिता शिवा के समागम से कुमार जन्म का मिथ बनता है।

समाधिस्थ शिव में लालसा की तरंग को उद्वेलित करना कठिन है। इन्द्र ने कामदेव का इसके लिए चयन किया। कामदेव वसन्त की सहायता से जड़ चेतन में विक्षोभ पैदा करता है। शिव भी पूजन के लिए आयी पार्वती को कुछ क्षण देखकर आन्दोलित हो उठते हैं। शिव अपने इस विक्षोभ के हेतु को जानकर कामदेव को भस्म करते हैं। रति का विलाप होता है, कामदेव की पुनः प्राप्ति की आकाशवाणी होती है। यहाँ मूल में उर्वरक अभिप्राय है (Fertility Motif) सृष्टि मिथ के उर्वरक सिद्धान्त के आधार पर सर्जन के देवता काम का अभ्युदय होता है। काम या इराज (Eros) जीवन देने वाला फोर्स है और इसका विरोधी नायक मृत्यु भावना (Death Wish) है। काम का अभ्युदय और इसका भस्म होना नाश एवं सर्जन के मिथ को रूपायित करता है। वसन्त का आगमन, कामोद्रेक चित्त में लालसा एवं विक्षोभ आदि सब सर्जन मिथ के व्यंजक हैं।

"कुमार सम्भवम्" का केन्द्रीय प्रणय मिथ है। यह व्यक्ति नहीं विश्वमूर्ति शिव और ह्लादिनी शक्ति शिवा का प्रेम है। मनुष्य लोक से देवलोक तक प्रत्येक पिण्ड में यह प्रेमलीला व्याप्त है। पुरुष तत्व और स्त्रीतत्व का पारस्परिक आकर्षण शिव की आदि सिसृक्षा का विलास है। इस प्रकार शिव पार्वती सनातन पुरुषत्व स्त्रीत्व के प्रतीक हैं तथा पवित्र प्रेम के व्यंजक हैं।

"अभिज्ञानशाकुन्तलम्" का केन्द्रीय मिथ प्रणय और सृष्टिपरक मिथ से अमरत्व प्राप्ति का मिथ है अमरत्व प्राप्ति सन्तति सर्जन से गतिशील होती है। प्रणय मिथ का विकास पृथ्वी पति दुष्यन्त और शाकुन्तला के माध्यम से विकसित और पल्लवित होता है। इसमें कुछ मिथ अभिप्रायों (Mythic Motifs) का भी प्रयोग कलात्मक वैशिष्ट्य की उद्भावना के लिए किया गया है।

इस प्रणय कथा का मूलाधार महाभारत के आदिपर्व का शकुन्तलोपख्यान है। महा-भारत की कथा इस प्रकार है : एक दिन पुरुकुलोत्पन्न राजा दुष्यन्त कण्व के आश्रम में जाता है। कण्व अनुपस्थित है। शकुन्तला राजा का स्वागत करती हैं, दुष्यन्त को शकुन्तला को देख-कर कामोद्रेक होता है। दुष्यन्त की पृच्छा पर शकुन्तला अपना जीवन वृत्तान्त बतलाती है। राजा प्रलोभन देकर उससे पत्नी बनने की प्रार्थना करता है। शकुन्तला सशर्त तैयार होती है। शर्त है—उसका पुत्र ही सिंहासनारूढ़ होगा। शर्त स्वीकार राजा गन्धर्व रीति से विवाह करता

हैं। कुछ काल साथ रहकर वह अपनी राजधानी चला जाता है। इसी बीच गर्भवती शकुन्तला बच्चे का प्रसव करती है। बच्चा बड़ा ही पराक्रमी है। ६ वर्षों के उपरान्त कण्व बच्चे सहित शकुन्तला को दुष्यन्त के पास भेजते हैं। वह उसे अस्वीकार करता है। इस बीच भविष्यवाणी होती है और अन्त में वह उसे अपनी पटरानी बनाता है।

कालिदास ने उक्त कथा को कुछ नयी उद्भावनाओं सहित प्रस्तुत किया है। कालिदास को शकुन्तला स्वयं अपना परिचय नहीं देती। प्रियवंदा, अनुसूया उसका परिचय देती हैं। कालिदास ने भरत के प्रसव पूर्व ही शकुन्तला को दरबार में प्रस्तुत किया है कालिदास ने दीर्घकाल तक कण्व को आश्रम से अनुपस्थित दिखाया है। कालिदास की दो नयी उद्भावनाएँ हैं : दुर्वासा का शाप, उसकी निवृत्ति के लिए मुद्रिका प्रसंग। शाप के कारण विस्मृति एवं शाप विमोचन के लिए किसी सावन द्वारा स्मृति का जागरण एक मिथ अभिप्राय है। प्रणय कथा में इसका प्रायः उपभोग होता है। शाप से शकुन्तला की विस्मृति एवं अंगूठो प्रत्यभिज्ञान विप्रलम्भ एवं अन्तिम सम्मिलन को मार्मिक रूप में उपस्थापित करता है।

बौद्ध जातकों, लोक कथाओं में भारतीय एवं पाश्चात्य मिथों में एसे निजन्धरी प्रसंगों (Legendary themes) का प्रायः प्रयोग मिलता है जिसका मूल वस्तुगत सच्चाई में सन्निहित है। इस प्रसंग में "ओल्ड टेस्टामेन्ट" (Old Testa ment) के ज्यूड़ा और टमर का प्रसंग उल्लेखनीय हैं। ज्यूड़ा टमर के साथ वेश्या की तरह सम्भोग करता है। जाते समय स्मृति स्वरूप उसे वह एक अँगूठी देता है। ज्यूड़ा इसी अँगूठी से गर्भवतो टमर की पहिचान करता है। वस्तुतः वंश की विशुद्धता की रक्षा एवं सन्तान की वास्तविकता की प्रमाणिकता सिद्ध करने के लिए ऐसे प्रसंगों की अवधारणा जरूरी है।

बौद्धों के 'कठुहारि' जातक में राजा ब्रह्मदत्त जंगल में जाता है और सुन्दर स्त्री पर अनुरक्त होता है। वह उसके साथ कुछ काल तक रमण कर अपने नगर को लौट जाता है। जाते समय वह अँगूठी उसकी स्मृति में उसे पहनाता है। स्त्री बोधिसत्व बालक को जन्म देती है। उसके बड़े होने पर स्त्री राजदरबार में जाती है। अँगूठी दिखाती है। पर वह उसे नहीं पहिचानता।

लोक कथा में ऐसा उल्लेख है कि राजा अपनी विप्रयुक्ता प्रियरानी को प्रणय भोग की स्मृति में दी गयी अँगूठी से प्रत्यभिज्ञान कर उसके प्रति अत्याचारी व्यवहार करने वाले को दण्डित करता है। अतः लगता है कि अँगूठी से प्रत्यभिज्ञान एक ऐसा प्रचलित अभिप्राय है जो समूह मानस के बद्धमूल विश्वासों से सम्बद्ध होकर एक ऐसे जीवन मूल्य को व्यंजित करता है जो शाश्वत है। कालिदास का इसका प्रयोग इसी आर्किटाइप-बिम्ब के रूप में है।

शकुन्तला का मृगया दृश्य बिम्ब; एक ही जीवन सत्य को उद्घाटित करता है। मृगया आदिम प्रवृत्ति है। मृगया विम्ब कालिदास की नाट्य योजना में नयी भंगिमा से संयुक्त होकर जीवन सत्य की मार्मिक व्यंजना करता है। मृगया दृश्य प्रथमतः सम्मोहन (Hyp notism) का व्यंजक है। दुष्यन्त वेगवान सांरग के दुर्निवार आकर्षण से बलपूर्वक खिचता हुआ भटकता है। सूत्रधार कहता है :

तवास्मिगीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः
एष राजे व दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा ।। (५)
(अभिज्ञानशाकुन्तलयः प्रस्तावना)[६]

राजा सूत से कहता है : "सूत ! दूरममुना सारङ्गेण वयमाकृष्टाः[६] सारंग है शिकार और दुष्यन्त है सारंगिक या अहेरी सारंगिक भयभीत मृग के पीछे-पीछे प्रहणन रस लोभ वश मोह मूढ़ की भाँति दौड़ा जा रहा है। यह स्थूल मृगया विम्ब है। पर सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर लगता है मृग और अहेरी दोनों ही शिकार हैं। राजा दुष्यन्त मोह और काम के माध्यम से शिकार है। राजा दुष्यन्त मोह और काम के माध्यम से शिकार बन जायेगा मृग दुष्यन्त का कामुक मन है। उससे वह खींचा सीधे तपोवन में शकुन्तला के समीप जाता है। उसके रूप लावण्य पर मुग्ध दुष्यन्त कह उठता है:—

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररूहै
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमना स्वादितरसम् ।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तदरूप मनघं
न जाने भोक्तारं क मिह समुपस्थोस्यति विधिः ।।[७]

न जाने भोक्तकारं क मिह.........कामुक मन की अभिव्यक्ति है। दुष्यन्त का मन मृग शकुन्तला के सौन्दर्य से विद्ध है, वह स्वस्थ नहीं है क्योंकि वह मोह मूढ़ हो गया है। दुष्यन्त का मोह चित्र और रूप की यातना से विनष्ट होता है और प्रेम का सौन्दर्य निखरता है एवं आगे वात्सल्य में परिणति पाता है। कालिदास ने मृग और शकुन्तला दोनों निसर्ग है। आश्रम में मृगया निषिध है। स्पष्ट उक्ति है : 'राजन ! आश्रम-मृगोऽयम्ः न हन्तव्यः, न हन्तव्यः ।"[८]

न खलु, न खलु वाणः सन्नियात्योऽग्रमस्मिन
मृदुनि मृग शरीरे तूलराशाविवाग्निः ।।
क्ववत हरिणकानां जीवितं चातिलोलं
क्व च निशितनिपाता वज्रसाराः शरास्ते ।

ऐसे पवित्र आश्रम की मर्यादा का आखेट होगा। आखेटक है दुष्यन्त, मृगी है शकुन्तला। कितना विश्रुब्ध बातावरण है, जहाँ अपनी वाँयी आँख को मृगी कृष्ण मृग की सींग की एक नोक पर सहज भाव से खुजला रही है। न आँख फूटने का भय, न किसी प्रकार की आशंकाः

कार्यसैकतलीन हंस मिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभितो निषाणहरिणा गौरीगुरोः पावनाः
शाखालम्बित वल्कलस्य च तरोनिर्मातुमिच्छाम्यघः
श्रृङ्गो कृष्णमृगस्य वायमनयनं कण्डूथमाना मृगीम्[९]

शकुन्तला ने ऐसा ही किया पर उसे क्या पता कि वह उसकी आँख ही फोड़ देगा। दुष्यन्त। दुष्यन्त का आखेट दारूण रहा। पर अदृश्य कालमृगया से कौन बच सकता है।

सृष्टि परक मिथ का प्रणय मिथ के साथ ही सम्पुर्फन है। दुष्यन्त के प्रेमी हृदय से वात्सल्य का संयोग, सर्जन की ओर इंगित करता हैं। दुष्यन्त की कथा मात्र अनुराग निर्भर प्रिया पत्नी के वियोग का ही नहीं है अपितु इसका कारण और मार्मिक है कि उसके बाद

उसके पितरों का विधिपूर्वक पूर्वक कौन तर्पण करेगा। विधि पूर्वक तर्पण की कामना संतान उत्पत्ति की अभिलाषा को रेखांकित करती है और शकुन्तला से भरत की उत्पत्ति के माध्यम से प्रणय मिथ सृष्टि मिथ की परिणति में परिपूर्णत प्राप्त करता है।

सौन्दर्य बिम्बों का सर्जन भी मानस की अतल गहराई के प्रतिफल हैं :

"चित्रे (चित्रे) निवेश्य परिकल्पितसत्वयोगा।
रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृतानु ॥[10]

मानस में पहले उफान आता है। ऐसे समय मानस बिम्ब (Mental Image) को चाक्षुष बिम्ब में (Uisual Image) व्यक्त करना आवश्यक है इसके लिये बिम्बाधायक शब्दों का संयोजन चाहिये। पहले तो मानस कल्प ही होता है। यह मानस कल्प सर्जनात्मिका शक्ति में उद्बोधन पर चेतन को भी अचेतन के स्पन्दन से स्पन्दित करती है। रूप, लावण्य का सर्जन जन्म जन्मान्तर के सौहृदय का ही फल है। अचेतन मानस में कितने जन्मों का संस्कार पड़ा है। शकुन्तला जैसी नारी का चित्र मन में पैठा है, कई जन्मों से। तत्तत परिस्थितियों के आने पर वह अबोध पूर्वास्मृति से उभर कर बाहर आ जाती है और शकुन्तला का रूप चित्र आद्य-बिम्ब-नारी (Archetypal Woman) का चित्र बन जाता है :

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापिरम्यं
मलिनमणि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिक मनोज्ञा वल्कले नापि तन्वी
किमिवहि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥[11]

इसी प्रकार प्रेम-भाव व्यञ्जना में शिव और पार्वती का प्रेम शाश्वत एवं सनातन नर-नारी का प्रेम है। यह आदिम, सामान्य और सार्वभौम है। तपस्या से प्रेम-सौन्दर्य का संवर्द्धन उस शाश्वत तथ्य का वाचक है कि काम का परिमार्जन आवश्यक है। काम भोग विनाशक है। तपस्या की आंच में तप कर काम भस्म होता है और शुद्ध सात्विक प्रेम प्राप्त होता है। इसी से कालिदास कहते हैं : अवाप्यते वा कथं अन्यथा द्वयं, तथाविध प्रेम पतिश्च तादृश" ।[12] यह भावों की आद्य-रूपात्मक व्यञ्जना है। इसी प्रकार चरित्र, क्रिया कलाप, वस्तु, संख्या, परिवेश, घटना आदि की कल्पना की गई है, जो न विलक्षण है, न परिनिष्ठित है, अपितु वह सामान्य और सार्वभौम है। फ्राई के अनुसार आद्य-रूपों के प्रतीक मानव जीवन एवं जगत की समान धर्मिता पर आधृत हैं। रात, दिन सूर्य उदय-अस्त के साथ मानव जीवन में होने वाले परिवर्तनों से साम्य रखते हैं। इसके आधार पर मिथकीय कला का सर्जन होता है। देवासुर संग्राम, दानव युद्ध आदि अन्धकार-प्रकाश के संघर्ष एवं विजय गाथा के प्रतीक हैं। कालिदास ने अपनी रचना में अनेकों आद्य-बिम्ब रूपों का प्रयोग किया है। इससे उनकी रचना का कलात्मक वैशिष्ट्य भास्वर होता है। कालिदास के आद्य-बिम्बों को इस प्रकार देखा जा सकता है। इसके लिये अर्ध अंकित ग्राफ दर्शनीय है :—

2

(क) केन्द्रीय मिथ
(Central Myth)

↓ प्रणय मिथ

(कुमारसम्भवम्) शिव + पार्वती
(विक्रमोर्वशीयम्) पुरुरवा + उर्वशी)
(अभिज्ञान शाकुन्तलम्) दुष्यन्त + शकुन्तला
(मेघदूत) यक्ष + यक्षप्रिया

मिलन + विच्छेद

↓ अमरत्व मिथ
संतति जन्म द्वारा संवर्द्धन
(क) कार्तिकेय (कुमार:)
(ख) भरत (शाकु०)
(ग) आयु (विक्रमो०)

↓ सृष्टि मिथ

↓ प्रेम — कामदेव — सर्जन
सर्जन — सृष्टि
[कार्तिकेय + भरत + आयु]

(ख) सहवर्ती मिथ अभिप्राय
(Associated Myth Motifs)

उर्वरक मोटिफ प्रेम + सर्जन
↓ वसंतागमन
↓ काम का उद्भव

जन्म मृत्यु कामदेवगस्य
कामका पुनर्जन्म

प्रकाश + अंधकारद्वंद्व
देवासुर-संग्राम
(कु०) तरकासुर
(श०) दानव
(विक्र.) दानव

नायक जन्म
कार्तिकेय
भरत
आयु
↓ तपस्या से प्रेम + सौंदर्य- संवर्द्धन
पार्वती + शकुन्तला
का प्रेम + सौंदर्य

रूपान्तरण
उर्वशी का
लता से नारी
नारी से लता

मृगया
संमोहन
दुष्यन्त का
मृग आखेट

↓ अलौकिक + लौकिक मेल
उर्वशी →अप्सरा
शकुन्तला→अप्सरा पुत्री
पार्वती →अलौकिकदेवी
शिव→अलौकिक देवतत्व

सन्दर्भ

१. डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी : कालिदास की लालित्य योजना पृ० २२
२. रामधारी सिंह दिनकर : उर्वशी,
३. तस्मिन विप्रकृता: काले तारकेण दिवौकस:
तुरासाहं पुरोधाय धाम स्वायंभुवं ययु: (१) कुमारसम्भवम्—
४. कुमारसम्भवम् १।५८, ५९, ६०, ६१, ।—
५. अभिज्ञान शाकुन्तलम् : प्रस्तावना (५)
६. ,, ,, ,, प्रथम अंक
७. अभिज्ञानशाकुन्तलम्: द्वितीय अंक: (११)
८. ,, ,, ,, प्रथम अंक: (१०)
९. अभिज्ञानशाकुन्तलम्; ६।१७
१०. ,, ,, ,, २।१०
११. अभिज्ञान शाकुन्तलम्, प्रथम अंक, १९ ।
१२. कुमारसम्भव, ५ ।

प्रतीक : राजनीतिक व्याख्या

डॉ० हरिहर नाथ त्रिपाठी*

लास्वेल भौगोलिक बँटवारे से अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीकों में बद्ध मानव जाति का बँटवारा मानता है। प्रतीकों की उत्पत्ति मनुष्य की महत्त्वाकांक्षाओं को वैधता प्रदान करने एवं प्रतीक युक्त क्रियाओं की प्रकृति के उद्‌घाटन के लिए हुई है। राजनीतिक प्रतीक एकता के सूत्र में बाँधने में अधिक शक्तिशाली होते हैं। श्रीमती लैंजर तो विश्व समाज की स्थापना एवं बीसवीं शती में सांस्कृतिक असन्तुलन दूर करने में एक मात्र आशा प्रतीकों के प्रति व्यक्त की है। प्रोफेसर मुखर्जी मानव समाज से भी आगे बढ़कर ब्रह्माण्ड की सम्बन्ध स्थापना का आधार प्रतीकों को माना है। वैसे तो प्रतीकों का अभ्यास पशुओं में भी होता है किन्तु मनुष्य प्रतीकों का प्रयोगकर्त्ता और उनके परस्पर परिवर्त्तन का संयोजक भी होता है। इसलिए कैज़रर ने मनुष्य को भौतिक जगत् से परे प्रतीक जगत् का भी प्राणी माना है।

प्रतीक स्थानापन्न और बोधात्मक स्थानान्तरीकरण है। समान गुण (धर्म) वाले या आन्तरिक सह-सम्बन्धों द्वारा सम्बद्ध निगूढ़ विषय वस्तुओं की ओर इसका संकेत है। अर्नेस्ट जोन्स ने इसे अज्ञात मन की छिपी या दमित भावनाओं का प्रतीकीकरण माना है। कैज़रर के अनुसार मनुष्य की प्रमुख विशेषता या उसकी विभिन्नता का चिह्न, पदार्थ-शास्त्रीय या भौतिक प्रकृति का नहीं, वरन् मनुष्य की कृति है। यह वही कृति है, मानव क्रियाओं की वह व्यवस्था है जो 'मानवता' का वृत्त निर्धारित और परिभाषित करती है। भाषा, लोक-गाथा, धर्म, कला, विज्ञान, इतिहास आदि इस वृत्त के खण्ड या योजक हैं। सभी प्राणियों में ग्राहक संस्थान (रिसेप्टर सिस्टम) और प्रत्युत्तर संस्थान (इफेक्टर सिस्टम) होते हैं किन्तु मनुष्य में इन दोनों के बीच एक तीसरा योजक भी है जिसे हम प्रतीकात्मक संस्थान कहते हैं। श्रीमती लैंजर ने विषय, प्रतीक, अवधारणा और वस्तु को प्रतीक प्रक्रिया में चार शर्तें मानी हैं।

स्पष्टता के लिए प्रतीक और चिह्न का भेद समझना आवश्यक है। युंग ने मनोवैज्ञानिक ढंग से माना है कि जिसमें प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति का अर्थ किसी पूर्व परिचित समता मूलक और संक्षिप्त व्यंजना के रूप में होता है, वह चिह्नात्मक है। सापेक्षिक रूप से किसी अज्ञात वस्तु की यथा सम्भव अभिव्यक्ति जो किसी अन्य साधन द्वारा अधिक स्पष्ट और समीचीन रूप में नहीं व्यक्त हो सकती, प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। श्रीमती लैंजर ने यह अन्तर उदाहरण से स्पष्ट किया है : दैवी सत्ता का संकेत मात्र मानने पर क्रास चिह्न है लेकिन जब इसे अज्ञात रहस्यमयी अलौकिक सत्ता का व्यंजक माना जाय तब यह प्रतीक है। लॉक के अनुसार चिह्न में अर्थबोध प्रयोगकर्त्ता के द्वारा आरोपित होता है। चिह्न का प्रयोग जब अर्थ-बोध के साथ होता है तो वह प्रतीक बन जाता है। निश्चित ही अमूर्त्तता या अलौकिकता से जुड़े होने पर चिह्न प्रतीक हो जाते हैं। राजनीतिक प्रतीक चिह्नों में अन्य विशेषताओं के साथ मूल्य या आदर्श

* राजनीतिशास्त्र विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।

संल्लग्नता भी स्पष्ट रूप से दीख पड़ती है। स्पष्ट है कि आदर्शयुक्त प्रतीक से मानवीय ऐक्य की स्थापना होती है।

मिशेल्स और आर्नल्ड जैसे विद्वान् मानते हैं कि आधुनिक युग में समाज की अस्थिरता अन्य किसी क्षेत्र में इतने विस्तृत रूप में नही व्यक्त होती है जितना राजनीतिक क्षेत्र में प्रतीकों और प्रतीकात्मक नमूनों में, जिनके द्वारा नयी शक्ति की माँग होती है और सम्बन्ध ध्यान के केन्द्र तक खींचे जाते हैं। प्रस्तुत विषय पर विचार सोरेल ने (मिथ ऑफ दि रिवोल्यूशन) मार्क्स की सैद्धान्तिक समीक्षा करते हुए प्रस्तुत किया जिसे पैरेटो ने आगे बढ़ाया। मोस्का (पालिटिकल फार्मूला) मैनहाइम (आइडियलाजी एण्ड युटोपिया) से होते हुए यह धारा मरियम, लास्वेल और कैप्लैन में विकसित होती है। भारत में यह कार्य प्रोफेसर राधाकमल मुखर्जी ने शुरू किया।

आधुनिक समाज में धार्मिक प्रतीकों की अपेक्षा राजनीतिक प्रतीकों का प्रभाव बढ़ा है। वैज्ञानिक साधनों के विकास के साथ राजनीतिक प्रतीकों में जनसमूह का तादात्म्यीकरण सरलता से हो पाता है। फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति के समय समानता, स्वतन्त्रता और भ्रातृत्व ने जनसमूह को जोड़ा। पेरिस कम्यून की परिणति 'देशभक्ति' और 'सभ्यता' के कारण हुई। 1914 के युद्धकाल में 'ईश्वर', 'देश' 'सभ्यता' 'युद्ध समाप्त करने के लिए युद्ध' 'चिरस्थायी शान्ति' जैसे प्रतीकों का प्रयोग किया गया। लास्वेल के शब्दों में कहा जा सकता है कि 'राजनीतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कुछ सन्दर्भ प्रतीकों में अपेक्षाकृत भ्रान्ति का सीमित दायरा होता है।'

तादात्म्यीकरण का ही यह परिणाम है कि कभी भी जनता की इच्छा पर नये राजनीतिक प्रतीक बनाये जा सकते हैं और उन्हें किसी प्रचलित या पूर्व राजनीतिक व्यवहार के साथ जोड़ा जा सकता है। मिले-जुले रूपों में उन्हें रूपान्तरित भी किया जा सकता है। इसके लिए पूर्व तादात्म्य आवश्यक है। धर्मनिरपेक्षता के सन्दर्भ में अशोकचक्र का प्रयोग भारतीय राष्ट्रध्वज में इसका प्रमाण है। गांधी ने चर्खे को स्वराज्य का प्रतीक बनाया जब कि स्वराज्य भी रामराज्य के प्रतीक के साथ जोड़ा गया। जनेऊ और शिखा धार्मिक प्रतीक होते हुए मुसलमानों के साथ संघर्ष में राजनीतिक एकता के प्रमुख माध्यम रहे हैं। इनसे सामान्य जनसमूह अपने को इतिहास चक्र के साथ जोड़ पाता था। 'स्वतन्त्रता' और 'सुरक्षा' औद्योगिक समाज की प्रमुख समस्याएँ हैं। राजनीतिक प्रतीकों के तादात्म्यीकरण में इनका अन्यतम स्थान बन गया है।

सामाजिक एवं आर्थिक शक्तियों के परिप्रेक्ष्य में ही राजनीतिक प्रतीकों का महत्त्व घटता बढ़ता रहा है। परिवर्त्तन की सर्वाधिक अभिव्यक्ति समाचार पत्रों से होती है। प्रतीकों के मशीनीकरण की चरम सीमापर पहुँचे अमेरिकी समाचार पत्र 'न्यूयार्क टाइम्स' में 'टेरिफस' 'फ्री ट्रेड' के प्रति गिरावट आयी है। 'लन्दन टाइम्स' में 'पेट्रियाटिज्म' के प्रति वृद्धि हुई। साम्यवादी रूस के पत्र इजवास्तिया में 'फादरलैंड' 'कलेक्टिविज्म' और 'पैट्रियाटिज्म' सम्बन्धी प्रतीकों का विकास 1920 से आज तक होता रहा है।

बहुराजनीतिक समुदायों के विषय में योजक प्रतीकों की ६ श्रेणियाँ होती हैं—(१) अमूर्त प्रतीक—शब्द, विचार, नारे, साहित्यिक कृतियाँ तथा गीत, (२) चित्रात्मक प्रतीक—

वर्ण, ध्वज, मूर्त्तियाँ, अवशेष, ऐतिहासिक वस्तुएँ, भवन, पशु आदि, (३) वैयक्तिक प्रतीक—राजन्य कवि आदि, (४) प्रतीकात्मक स्थान—राजधानी, राष्ट्रिय स्थान आदि, (५) प्रतीकात्मक संघटन या संस्थाएँ—राजनीतिक दल, न्यायालय आदि और (६) धार्मिक प्रतीक। सफल प्रतीकों में भी नवीनता भावात्मक ही होती है। ईसाई देशों के प्रतीकों में क्रास किसी न किसी प्रकार प्रायः जुड़ा रहता है। वैसे संघटनात्मक प्रतीक आज अधिक शक्तिशाली हैं। रेडक्रास, संयुक्तराष्ट्र, यूनेस्को आदि राष्ट्रों के स्वार्थ से आगे विश्व मानवता का गान करते हैं।

राजनीतिक प्रतीकों का शक्ति के सन्दर्भ में अध्ययन लास्वेल ने किया है। उनके अनुसार राजनीतिक प्रतीक शक्ति अभ्यासों में उल्लेखनीय सीमा तक कार्य करते हैं। वे शक्ति प्रक्रिया में सीधे प्रभाव डालते हैं। वे शक्ति अभ्यास स्थापित करने, बदलने या बनाये रखने का कार्य भी करते हैं। पार्टी, मंच, नीतियाँ, नारे, भाषण, सम्पादकीय फोरम, राजनीतिक सिद्धान्त आदि अनेक प्रकार होते हैं। स्मृतिदिवस, काल, सार्वजनिक स्थान, स्मारक, संगीत-गीत, ध्वजों की भावात्मक डिज़ाइन, सजावट, वैधानिक पोशाक, कहानी और इतिहास, विशेष प्रकृति के महोत्सव, सार्वजनिक प्रदर्शन के साथ परेड, भाषण आदि ऐसे राजनीतिक प्रतीक हैं जो सभी का ध्यान आकर्षित करते हैं। लास्वेल के अनुसार 'क्रान्तिजन्य प्रचार ऐसे प्रतीकों का चुनाव करते हैं जिससे यह आशा की जाती है कि वे सत्ता के वर्तमान प्रतीकों से उनका लगाव विच्छेद कर देंगे और उन चुनौती देने वाले प्रतीकों से संल्लग्न कर देंगे और इस प्रकार विद्रोह की दिशा सत्ता के वर्तमान प्रतीकों की ओर मोड़ देंगे।'

लास्वेल ने दूसरा प्रश्न उठाया है राजनीतिक प्रतीकों की सीमा का। इसमें उन्होंने सापेक्षता को महत्त्व देते हुए लिखा है कि 'अपने महत्त्व के सीमाक्षेत्र के अनुरूप राजनीतिक प्रतीक सार्वभौमिक या सीमित हो सकते हैं, प्रयोग की सीमा के अनुसार सामान्य या विशेष हो सकते हैं और अपने प्रस्तुतीकरण के तार्किक आकार के अनुसार सार्वजनिक या व्यक्तिगत हो सकते हैं।' रेडक्रास विश्वजनीन प्रतीक है। चर्खा राष्ट्रिय आन्दोलन का प्रतीक बना। इस प्रकार प्रतीकों का सीमाबद्ध रूप व्यक्तिगत व्यवहार से लेकर विश्व व्यापकता तक फैलता है जिसमें भौगोलिक, राजनीतिक और समूहगत सीमाएँ कार्यशील रहती हैं। राष्ट्रध्वज विशेष प्रतीक होते हैं और नारे आदि सामान्य।

प्रतीकों की मनोवैज्ञानिकता इतनी सशक्त होती है कि जनसमुदाय विवेकशून्य होकर भी कार्य करने लगता है। ऐसे संवेग राजनीतिक क्षेत्र में नारे, ध्वज आदि हैं और धार्मिक क्षेत्र में स्वस्तिक, तिलक या महोत्सव। चुनाव चिह्नों का स्वयं में कुछ महत्त्व नहीं है किन्तु चुनाव प्रतीक के रूप में वे मनोवैज्ञानिक एकता प्रस्तुत करते हैं। सापीर ने प्रतीकीकरण को सम्बन्धसूचक और संगठनकारी माना है। पहले में भाषण, टेलीग्राम कोड, लेखन, राष्ट्रध्वज, पताका संकेत आदि हैं। दूसरे प्रकार के प्रतीक सीधी अभिव्यक्ति के लिए पृथक् सत्तात्मक व्यवहारों का अत्यधिक संगठित प्रकार हैं और यह चेतन या अचेतन रूप में संवेगात्मक तनावों के तत्काल प्रवाह स्वीकार करता है। स्पष्ट है कि पहला चेतन में और दूसरा अचेतन में विकसित करता है। सापीर के प्रस्तुत वर्गीकरण के समान ही थियोडारे एम० ग्रीन ने भी प्रतीकों को दो भागों में बाँटा है—वास्तविक और प्रतिमानित (नार्मेटिव)। राष्ट्रध्वज,

राष्ट्रगीत आदि वास्तविक प्रतीक हैं और कलाकृतियाँ जो धर्म के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, प्रतिमानित ।

प्रतीकों की मनोवैज्ञानिकता का ऐसा ही वर्गीकरण गिडिंग्स, लिवमैन आदि ने भी की है । प्रोफेसर राधाकमल मुखर्जी ने 'व्यक्ति, प्रतीक और व्यवहार' उपशीर्षक में तीनों प्रक्रियाओं का परस्पर अन्तः सम्बन्ध दिखाते हुए लिखा है 'राष्ट्रिय ध्वज और राष्ट्रगीत, राष्ट्रिय अवकाश, उत्सव, राष्ट्रनायकों के चित्र मातृभूमि के प्रति उनकी अन्तर्दृष्टि को पुष्ट और संवेगात्मक सम्बन्धों का निर्माण करती हैं । इनसे ही बिखरा हुआ जनसमूह एक राष्ट्र के रूप में आबद्ध है ।' स्पष्ट है कि शब्द, मुद्राएँ, नारे, वेश, कर्मकाण्ड, उत्सव, कलाकृतियाँ आदि व्यक्ति के विश्वासों, आवश्यकताओं और मूल्य संयोजित करते हैं । सापीर की ही भाँति प्रोफेसर मुखर्जी भी इस निष्कर्ष पर आते हैं कि 'सामाजिक विकास के इतिहास में धार्मिक प्रतीकों (चक्र, क्रास आदि) और राजनीतिक प्रतीकों (तिरंगा ध्वज, हसिया, हथौड़ा आदि) ने सम्पूर्ण जनता और संस्कृतियों को सामाजिक क्रिया के लिए उत्तेजित किया है, संवेगों और स्थायी भावों को संचालित तथा प्रभावशाली अवधारणाओं, विश्वासों और स्थायी भावों को जागृत किया है ।'

धार्मिक प्रतीक सम्प्रदायगत होकर संकीर्ण हो जाते हैं जब कि राजनीतिक प्रतीक राष्ट्रिय एकता के साधक हैं । प्रमाण के लिए भारतवर्ष में धार्मिक प्रतीक सहस्रों हैं किन्तु राष्ट्रध्वज, राष्ट्रगीत और संविधान एक है । अलवर्ट सोलमैन के अनुसार प्रतीकों में 'अपनत्व का अनुभव मूल अनुभव है और अन्य समूहों से भिन्न अपने समूह की सदस्यता की अपनत्वपूर्ण भावना । यहीं समाज के सभी सामाजिक, राजनीतिक और पेशेवर संस्थाओं के प्रतीकों का उदय होता है । ये प्रतीक समाज में एक सूत्रता का निर्माण करते हैं ।' दुर्खेम ने अपनी सम्पूर्ण कृतियों में सामूहिक अन्तरात्मा के ऐक्यकारी कार्य का निरूपण किया है, साथ ही धार्मिक और सामाजिक प्रतीकों के निर्माण में इसके महत्त्वपूर्ण योगदान की चर्चा की है ।

राष्ट्रान्तरीय (इण्टरनेशनल) क्षेत्र में विभिन्न देशों में भी प्रतीकों के माध्यम से एकता स्थापित होती है । संयुक्त राष्ट्र का ध्वज प्रमाण है । रेडक्रास सभी के लिए मान्य है । थॉमस रिशे एडम्स ने ब्रिटिश सम्राज्ञी को राष्ट्रमण्डल में एकता का प्रतीक मानते हुए लिखा है : 'लगभग बनावटी सार्वभौमिकता के रूप में सत्ता की अन्तिम स्थिति त्याग दी गयी और एक ऐसे जन स्वतन्त्र संघटन की परिकल्पना का उदय हुआ जब सभी ने एकमत होकर समान प्रतीक को मान्यता देने का निश्चय किया है ।' राजनीतिक प्रतीकों में संगठन की अपूर्व शक्ति होती है । नेताजी सुभाषचन्द्र के नारे 'तुम मुझे खून दो मैं तुम्हें आजादी दूंगा' में बलिदान की अलौकिक गाथा प्रस्तुत हुई ।

राजनीतिक प्रतीकों का दुरुपयोग भी होता है । हिटलर ने राजनीतिक प्रतीकों का व्यापक रूप में दुरुपयोग किया । मीज ने इस सम्बन्ध में चेतावनी देते हुए लिखा है कि 'जहाँ आध्यात्मिक उपाय न उत्तेजित कर पाते हैं और न नेतृत्व दे पाते हैं, यदि प्रतीक न समझे गये या गलत ढंग से समझे गये, यदि उनका दुरुपयोग किया गया तो मानव समाज में अत्यन्त भयंकर प्रतिक्रिया उत्पन्न कर सकते हैं । धर्म निगणित और राजनीति के लिए

जान बूझकर किया गया प्रतीकों का उपयोग अर्थात् व्यक्तिगत, अहंकारी उद्देश्यों की सिद्धि के लिए यह दुरुपयोग होगा जो निश्चय ही एक गम्भीर प्रतिफल आमन्त्रित करेगा।'

प्रतीकों की रचना के प्रश्नपर कभी यह भी मान लिया जाता है कि वे व्यक्तिविशेष की रचना हैं। आपाततः यह कहीं-कहीं ऐसा लगता भी है। हिटलर ने कई नारे इसो प्रकार का दिया। कांग्रेस के तिरंगे का प्रारम्भ भी व्यक्ति विशेष से है। चुनाव आयोग चुनाव चिन्हों का निर्धारण करता रहता है। लेकिन इस विश्लेषण का दूसरा पक्ष यह है कि व्यक्ति विशेष समष्टि भावना ही अभिव्यक्त करते हैं। जर्मनी के ध्वज में काला और सफेद रंग के प्रति महत्त्व हिटलर से पूर्व ही जनता में व्याप्त था। उस भावना का प्रयोग उसने किया। भारत में ही केसरिया एवं हरे रंग के प्रति श्रद्धा को तिरंगे से जोड़ दिया गया। चुनाव चिन्ह आयोग के कार्यालय में मात्र चिन्ह रहते हैं किन्तु चुनाव में जनभावना से जुड़ते ही वे प्रतीक बन जाते हैं। स्पष्ट है कि प्रस्तुत संदर्भ में भी प्रतीक समष्टि भावना की एक प्रक्रिया द्वारा निर्मित हैं।

डंकन के अनुसार प्रतीकों के माध्यम से हम व्यक्तित्व पर पड़ने वाली छाप अधिक गहरी और विस्तृत बनाते हैं, क्योंकि उन प्रतीकों के माध्यम से हम स्व की पहचान कर सकने में समर्थ हो पाते हैं जिन्हें समुदाय के उपयोग द्वारा शक्ति मिली होती है। किसे यह अधिकार प्राप्त है कि किन प्रतीकों का कब, कहाँ, कैसे और किस उद्देश्य के लिए उपयोग होगा, यह व्यक्तिगत नहीं सामूहिक वैधता का प्रश्न है। वस्तुतः इस प्रश्न पर वैयक्तिक और सामूहिक कर्तृत्व की विभाजन रेखा बनाना ठीक नहीं होगा। समष्टि भावना के विपरीत किसी व्यक्ति ने किसी के प्रतीक का प्रयोग नहीं किया। वास्तविकता तो यह है कि समाज में व्याप्त भावना को एकाकार स्वरूप प्रदान करने में ही प्रतीकों की उत्पत्ति या रचना होती है।

राजनीतिक प्रतीकों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है—राष्ट्रध्वज। गौरडन के अनुसार प्रतीक पवित्र वस्तुएँ हैं। इनमें भी सर्व प्रमुख है, राष्ट्रध्वज, जिसे थाम लेने लिए व्यक्ति आतुर रहता है, इसमें सम्पूर्ण राष्ट्र की संवेदना समाविष्ट रहती है। इसलिए मात्र ध्वज ही पूरे राष्ट्र का प्रतिनिधित्व कर देता है। ध्वज का सर्वप्रथम प्रयोग भारतीयों ने किया था। इसके लिए ऋग्वेद में तीन शब्द मिलते हैं—ध्वज, केतु और पताका। ध्वज का ही प्रयोग राजनीतिक सन्दर्भ में होता है। रंगों की संख्या सीमित होने से कालान्तर में चिन्हों का प्रयोग होने लगा। इसमें टोटम के अंकन का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है। राज्य चिन्ह और राष्ट्रध्वज के चिन्ह में अन्तर है। चिन्हों के अनुसार समाज का मनोभाव स्पष्ट होता है क्योंकि जनभावना उभारने और उग्र राष्ट्रियता प्रोत्साहित करने के लिए ही चिन्हों का प्रयोग किया जाता है।

अमूर्त्त प्रतीकों में 'नारों' का, विशेषतया जनतन्त्र में, अत्यधिक महत्त्व है। शब्द की गरिमा और प्रभावशीलता के सम्बन्ध में मनुष्य के पास इससे बहुमूल्य कोई निधि नहीं है। नारों के निर्माण में नेतृत्व, 'वातावरण एवं परिस्थिति का योगदान होता है। राष्ट्र के सर्वांगीण एकता के लिए सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं आर्थिक नारों का उपयोग होता है। विषय के अनुरूप ही इनमें स्थायित्व होता है। प्रमाण में 'कृण्वन्तो विश्वमार्यमयम्' और 'गरीबी हटाओ' के नारे प्रस्तुत किये जा सकते हैं। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' जैसे नारे सार्वभौम होते हैं और 'बुद्धं शरणं गच्छामि' जैसे नारे व्यक्तिवादी एवं साम्प्रदायिक। कुछ लोग इसे नारा नहीं मन्त्र मानते हैं। प्रतिक्रिया में भी नारों की उत्पत्ति होती है। 'अल्ला हो अकबर' की प्रतिक्रिया में ही

'हर हर महादेव' का नारा प्रारम्भ हुआ। ऐसे नारों का प्रयोग युद्ध घोष के लिए भी होता है। सिख 'सत् श्री अकाल' जैसे धार्मिक एवं दार्शनिक नारे का प्रयोग युद्धस्थल में करते रहे हैं।

नारों के दो प्रयोजन होते हैं। इससे किंकर्त्तव्य विमूढ़ भीड़ को एक अर्थ प्राप्त होता है। बिना समझे-बूझे जनता किसी एक प्रश्न पर एकत्र होकर संगठित रूप में कार्य करने लगती है। अधिकांश को तो यह भी पता नहीं लगता कि वे 'क्या, क्यों और कैसे' कर रहें हैं। दूसरा प्रयोजन नारों के द्वारा भीड़ को दिशाबोध भी मिलता है। कॆंट्रिल जैसे मनोवैज्ञानिक ने फ्रांसीसी, अमेरिकी और रूसी क्रान्तियों के नारों को इसी प्रकार माना है। शेरीफ भी इसी मत का समर्थन करता है। भीड़ की मनोदशा में नारों के प्रयोग पर राजनीतिक समाजशास्त्री टीड ने लिखा है 'जनता प्रतीकों को बिना समझे एवं उसके पीछे सत्यका विचार बिना किये उसे स्वीकार कर लेती है।' स्पष्ट है कि राजनीतिक प्रतीक के रूप में नारों का गम्भीर प्रभाव होता है।

राजनीतिक प्रतीकों में राष्ट्रगीत का भी प्रमुख स्थान है। इसकी ध्वनि किसी भी देश के नागरिक में उत्साह का संवर्धन एवं ऐक्य का बोध करती है। इसका सम्बन्ध मात्र सुनने से है। अतएव इसकी संगीतात्मक धुनें होती हैं। 'वन्दे मातरम्' के स्थान पर 'जनगणमन' को हमने राष्ट्रगीत धुन के आधार पर ही माना है। कहीं कहीं राष्ट्रगीत का सम्बन्ध राष्ट्रनीति से भी है। फलतः नीति परिवर्तित होने पर गीत भी बदल जाते हैं। जर्मनी में हिटलर पूर्व, हिटलर और उसके बाद तीन राष्ट्रगीतों का प्रयोग हुआ। जहाँ राष्ट्रगीत नीति से परे हैं, वहाँ शासन परिवर्त्तन से गीत नहीं परिवर्त्तित होता है।

राजनीतिक प्रतीकों में चुनाव चिन्ह आदि का समावेश होता है। वस्तुतः हम वैज्ञानिक युग में पूंजीवाद, साम्यवाद, समाजवाद, जनतन्त्र आदि के खण्डित राजनीतिक प्रतीकों में उलझ चुके हैं। लेकिन इनमें छिपी विश्वराष्ट्र की कल्पना के साथ संकुचित एवं साम्प्रदायिक प्रतीकों से ऊपर मानवतावादी धरातल पर व्यापक प्रतीकों का उदय हो रहा है। नेहरू का 'पंचशील' प्रयोग में चीनी विश्वासघात से हिल गया हो किन्तु वह वर्तमान अवधारणा का प्रतीक है। उसमें स्थायित्व है। राजनीति संस्कृति से ज्यों-ज्यों जुड़ती जाएगी, स्थायी मूल्य विकसित होने लगेंगे। अन्ततः प्रतीकों का राजनीतिक समाजशास्त्र ही वर्तमान सांस्कृतिक सापेक्षता और मानवता का असन्तुलन समाप्त कर एक विश्व और एक व्यक्तित्व की दिशा का निर्देश कर सकता है।

हिन्दी प्रगतिशील काव्यधारा : मुक्तिबोध और धूमिल

देवेन्द्र*

हिन्दी काव्य साहित्य में अक्सर निराला और मुक्तिबोध का नाम एक ही परम्परा में लिया जाता है। बाद के कवियों में धूमिल का नाम भी इन्हीं की अगली कड़ी के रूप में लिया जाने लगा। दरअसल निराला ने छायावाद से जुड़े रहने के बावजूद प्रगतिशील ऐतिहासिक धारा को कभी नजरन्दाज नहीं किया, और अपनी रचनाओं में वर्ग संघर्ष का चित्रण करते हुए काव्य विषय के रूप में सदा उपेक्षितों को लिया। बाद में तो निराला और पंत खुलेआम प्रगतिवाद के साथ जुड़ गये।

शुरु में तमाम भटकावों के बावजूद प्रगतिवाद ने व्यापक तौर पर हिन्दी साहित्य को प्रभावित किया। इसके पहले शायद हिन्दी में किसी आन्दोलन ने साहित्य की हर विधा को इस तरह प्रभावित नहीं किया था। किसान और मजदूर को केन्द्र में रखकर शोषित उत्पीड़ितजनों की पक्षधरता में तमाम रचनायें अपनी महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों के साथ साहित्य में आयी। आगे चलकर इस पूरे आन्दोलन पर भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टीवालों का वर्चस्व स्थापित हो गया, और ये लोग उन तमाम भ्रामक धारणाओं का खंडन करते हुए कि "साहित्यकार को राजनीति से क्या लेना देना ?" सक्रिय रूप से साहित्य और राजनीति में एक साथ जुटे रहें।

बाद में चलकर प्रगतिवाद के खिलाफ शीत युद्ध चलाया गया। हिन्दी साहित्य में सन् ४३ ई० के आसपास उभरने वाले प्रयोगवादी आन्दोलन से इसका सूत्रपात हुआ[1]। कविता का ध्यान कथ्य से हटाकर रूप की ओर ले जाया गया, और इसी प्रकार प्रगतिवाद के खिलाफ प्रयोगवाद के रूप में एक साजिश निरन्तर चलती रही। आगे चलकर नई कविता के अभ्युदय के साथही इन दोनों धाराओं (प्रगतिवाद और प्रयोगवाद) का अन्त हो गया। व्यक्तिगत यथार्थ और आन्तरिक अनुभूतियों को प्रगतिवाद ने त्याज्य रखा था। जीवन के एक पक्षीय सत्य को ये इतने अधिक महत्वपूर्ण मान चुके थे कि और तमाम सत्य उनकी नजरों से ओझल हो गए। इस प्रकार प्रगतिवाद में सम्पूर्ण मानव से इतर असंतुलित जीवन ही दिखायी दे रहा था। प्रगतिवाद के टूटने के इन बाह्य कारणों के अलावा दूसरा महत्वपूर्ण आन्तरिक कारण यह था कि राजनीतिक अन्तर्विरोधों के चलते कम्यूनिस्ट पार्टी का नेतृत्व बटने की स्थिति में था। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि प्रगतिवादी आन्दोलन का नेतृत्व भी राजनैतिक नेतृत्व से ही संचालित होने लगा था। फलतः जैसे ही तेलंगाना आन्दोलन के दौरान नेतृत्व में अन्तर्विरोध बढ़े और विघटन की स्थिति आयी वैसे ही प्रगतिवादी खेमा साहित्य में भी कमजोर पड़ गया। एक लम्बे काल से प्रयोगवाद जिन रूपवादी मूल्यों, क्षणजीवी अनुभूतियों, और भोगे हुए सत्य का नारा पीटता हुआ लगातार आक्रमण किये जा रहा था, उसे नई कविता के रूप में थोड़े बहुत हेर-फेर या संशोधन के जरिये स्थापित कर दिया।

---

* शोध छात्र, हिन्दी विभाग, बी. एच. यू.

व्यापक रूप में मुक्तिबोध का साहित्यिक जीवन नई कविता के मंच से ही शुरू होता है। वैसे तो वे तारसप्तक से ही प्रकाशित हो रहे थे, किन्तु नई कविता के समय ही उनकी एक साहित्यिक हैसियत बनी।

आवश्यक एवम् दुःखद परिणति के साथ प्रगतिवाद अब एक वाद के रूप में समाप्त हो चुका था। किन्तु अब भी प्रगतिशील साहित्य की रचनाएं लगातार हो रही थीं। यह बात दीगर है कि नेतृत्व के छिन्न-भिन्न होने की वजह से इस धारा के लोगों में एक ठहराव सा आ गया। पुरानी उत्तेजना और जोश खरोश समाप्त प्राय हो गयी। ढेर सारे कवियों की कविताओं, गीतों, गजलों में निराशा और उदासी का पुट मिलने लगा।

स्मरणीय है कि इनमें अधिकांश कवि और गीतकार एक समय प्रगतिवाद से प्रतिबद्ध होकर रचनाएँ कर चुके थे, जिनमें आग, बेचैनी, तड़प और सामाजिक, राजनैतिक शोषण की दासता से मुक्ति की छटपटाहट एक साथ मिलती थी।

देश जब इस प्रकार की सामाजिक, राजनैतिक कशमकश के बीच से गुजर रहा था और इसका स्पष्ट प्रभाव जब साहित्य में झलक रहा था, इसी समय मुक्तिबोध प्रगतिवाद से छूटी हुई जनपदीय धारा को लेकर साहित्य जगत में आए। साहित्य में इस समय तीन धाराएँ स्पष्ट रूप से दिखायी देती हैं। एक तो घोर व्यक्तिवादी, निराशा से आक्रान्त, आत्मलीन, अहंग्रस्त अज्ञेय की ह्रासमान धारा थी। उछली हुयी मछली, नदी के द्वीप और अपने-अपने अजनबी, रचनाएँ इसका प्रतिनिधित्व कर रही थीं। कुँवर नारायण, गिरिजा कुमार माथुर और धर्मवीर भारती की कविताओं पर इसका स्पष्ट प्रभाव दिखायी दे रहा था। नव रहस्यवाद के आवरण में ये वासना का चमत्कार पूर्ण चित्रण कर रहे थे। आगे चलकर जिसका बहुत ही भद्दा और विकृत विकास अकविता के रूप में बगैर किसी आवरण के दिखायी देने लगा।

दूसरी जो धारा इस समय साहित्य में सक्रिय थी, वह कुछ-कुछ लोहिया के विचारों से प्रभावित थी। ये लोग लोक प्रचलित शब्दों मुहावरों और लोकगीतों की शैलियों का धड़ल्ले से साहित्य में प्रयोग करते हुए भाषा को ज्यादा से ज्यादा जनता के करीब ले गए। शिल्प के स्तर पर जहाँ ये एक तरफ इन सारी चीजों को जीवन्तता और साहित्यिक गरिमा प्रदान कर रहे थे, वहीं कथ्य के स्तर पर भी ये जन समस्याओं, सामाजिक विसंगतियों को अपना विषय बना रहे थे। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की कविता चुपाई मारो दुलहिन, एक ऐसी ही सशक्त और सफल रचना रही।

मेले में दुकान की
माचिस बीड़ी पान की
कुछ तो खा गए हाकिम-उमरा,
कुछ खा गए सिपाही,
बाकी बचा टैक्स भर आयी
ऐसी हुयी तबाही,
ब्याह की हंसुली गिरी धरी है
थी बस एक चढौआ।

या

लोकतन्त्र को लाठी में, जूते की तरह लटकाये ।
लोग भागे जा रहे हैं, सीना फुलाये ।।

इन कविताओं में आर्थिक विपन्नता तथा सामाजिक, राजनैतिक भ्रष्टाचार की बिना किसी लाग-लपेट के सीधी, सपाट भाषा में बड़ी निर्ममता से खिल्ली उड़ाई गई है, और उन पर बहुत ही गहरा व्यंग्य किया गया है ।

तीसरी धारा तथा उस काल के एकमात्र प्रतिनिधि कवि गजानन माधव मुक्तिबोध हैं, इनकी कविताओं का मुख्य विषय आज का ह्रासोन्मुखी मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी है । इनकी कविताओं का मुख्य स्वर आशावादी है । इसीलिए निराशा, बेचैनी, टूटने के बावजूद चरित्रों में कहीं ठहराव नहीं आता । अन्तर्द्वन्द्वों के बीच से गुजरते हुए वे लगातार विकास की ओर अग्रसर होते हैं, सारी बेचैनी तड़प उस आशावादी सन्देह में प्रेरक की भूमिका अदा करती है ।

"मुक्तिबोध की रचनाओं के पीछे एक विश्व दृष्टि है । यह विश्व दृष्टि शोषित जन से प्रतिबद्धता के विज्ञान-मार्क्सवाद ने दी है । उनकी समीक्षा की दृष्टि में भी यही विश्व दृष्टि है ।"[२] इसीलिए विकास प्रक्रिया की ओर बढ़ते हुए वे लगातार तीव्र प्रतिद्वन्द्वों में गुजरते हैं । मुक्तिबोध की कविताओं में जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है मध्यवर्गीय बुद्धजीवी (जो आज परिस्थितियों में ह्रासोन्मुखी है) का ही चित्रण होता है । यह वर्ग स्वभावतः सुविधा-भोगी होता है । इसकी आकांक्षाएँ उच्च, सपने रंगीन कल्पनाएँ कोमल लेकिन आधार उतना ही कमजोर, भोथरा और कठोर होता है । महत्वाकांक्षी होने की वजह से यह मानसिक स्तर पर उच्च वर्ग की तरह से जीवन को जीना और सोचना चाहता है, लेकिन उसकी तुलना इसका आधार निम्न वर्ग से भी बदतर होता है (बदतर इस मायने में कि निम्न वर्ग दोहरापन नहीं होता) । इसीलिए यह भीतर और बाहर से दो अलग-अलग व्यक्तित्व एक साथ जीता हुआ मानसिक तनाव तथा अन्तर्द्वन्द्वों के बीच से गुजरता है । व्यक्तिगत जीवन का अन्तर्विरोध मुक्तिबोध के चरित्रों में स्पष्टतः दिखाई पड़ता है । वह सिद्धान्तों में जितना ही आदर्शवादी होता है, व्यवहारों में उतना ही पतनशील । अन्तर्द्वन्द्वों की स्थिति से गुजरता हुआ "अँधेरे में" कविता का नायक अपने अन्तर्विरोधों से घबड़ाता है, और पागल के एकालाप के साथ तादात्म्य महसूस करता है—

"......ओ मेरे आदर्शवादी मन,
ओ मेरे सिद्धान्तवादी मन,
अब तक क्या किया,
जीवन क्या जिया,
उदरम्भरि बन अनात्म बन गये
भूतों की शादी में कनात से तन गये ।" (अंधेरे में)

इन सारी बुराइयों के बीच रहते हुए भी मुक्तिबोध मध्य वर्ग से कहीं निराश नहीं, बल्कि आशान्वित ही हैं । 'अस्मिता का विलय इनकी कविता की मुख्य समस्या है ।'[३] मध्यवर्गीय नायक अपने दोगले चरित्र को लेकर कुण्ठा की ठहराव स्थिति में नहीं अपितु उनका स्वस्थ ढंग से विश्लेषण करता हुआ अपनी वर्गीय कमजोरियों को छोड़ता है और लगातार निम्न वर्ग

के साथ तादात्म्य स्थापित करना चाहता है। इस प्रकार वह व्यक्तित्वान्तरण की प्रक्रिया तक गुजरता है।

इनकी कविताओं में मध्य वर्ग कई रूपों में मिलता है। इन विभिन्न रूपों में मुक्तिबोध ने मध्य वर्ग की चारित्रिक कमजोरियों के बीच जन्म लेते नवमानव को दिखाया है, जिसके सामने जीवन और समाज का विश्लेषणात्मक वैज्ञानिक दर्शन होता है। जिसमें तमाम सामाजिक राजनैतिक दासता से मुक्ति की तड़प होती है। जिसके लिये वह वर्ग संघर्ष और हथियार बंद जन क्रान्ति को आवश्यक मानता है। वह सिद्धान्तों व विचारों में खुद मुक्तिबोध होता है। कविता की लाग लपेट से दूर उसकी सिर्फ एक समस्या है—

समस्या एक—

मेरे सभ्य नगरों और ग्रामों में
सभी मानव
सुखी सुन्दर व शोषण मुक्त
कब होगें ? (चकमक की चिंनगारियाँ)

अपने इसी लक्ष्य के लिये वह नव मानव जन्म लेना चाहता है—

कि मैं अपनी अधूरी दीर्घ कविता में
उमग कर
जन्म लेना चाहता फिर से
कि व्यक्तित्वान्तरित होकर
नए सिर से समझना और जीना
चाहता हूँ, सच। (चकमक की चिनगारियाँ से)

व्यक्तित्वान्तरण की अवस्था तक पहुँचने में मुक्तिबोध के नायकों को जिन स्थितियों से होकर गुजरना पड़ता है और उसके भी पहले जो उनका प्रस्थान बिन्दु होता है, वहाँ से यहाँ तक की अन्तर्द्वन्द्व जनित आत्मसंशोधन और विकास की प्रक्रिया में समग्र रूप से कथ्य का विस्तार, विचारों की गहराई, भावों की सघनता बहुत ही ज्यादा और जटिल दिखाई देती है। चाहे वह दम्भी, विद्वान् समाज से अलग आत्मलीन बावड़ी में फँसा ब्रह्मराक्षस हो या जन समस्याओं को कुचलता, चल निकलता, व्रणाहत पैरों वाला "चकमक की चिनगारियाँ" का नायक हो या बन्द कमरे के अँधेरे में से निकल कर तिलस्मी खोहों का चक्कर लगाता हुआ "अँधेरे में" का काव्य नायक। सभी के सभी यह महसूस करते हैं कि "भूल-गलती आज बैठी है जिरह बख्तर पहन कर। तख्त पर दिल के।" नहीं तो ब्रह्मराक्षस की तरह दो पात्रों के बीच पिसकर भयानक ट्रेजेडी के शिकार हो जाते हैं। लेकिन सचेत कवि का इतर नायक वहाँ तुरन्त निर्णय लेता है।

मैं ब्रह्म राक्षस का सजल-उर शिष्य
होना चाहता
जिससे कि उसका वह अधूरा कार्य,
उसकी वेदना का स्रोत

संगत, पूर्ण निष्कर्षों तलक
पहुँचा सकूं।

विवेक के तीखे रन्दे से उसका 'निज' छीला जाता है, वह खुद दो टूक सवाल करता है—

मेरे मित्र,
कुहरिल गत युगों के अपरिभाषित। सिन्धु में डूबी
परस्पर, जो कि मानव पुण्य धारा है
उसी के क्षुब्ध काले बादलों को साथ लायी हूँ
बशर्ते तय करो,
किस ओर हो तुम
सुनहले ऊर्ध्व आसन के
निपीड़क पक्ष में अथवा
कहीं उससे लुटी टूटी
अँधेरी निम्न कक्षा में तुम्हारा मन,
कहाँ हो तुम ?

और इस प्रकार भयानक अन्र्द्वन्द्वों के बीच से गुजरते हुए कवि की प्रतिबद्धता (काव्य नायक भो वहीं प्रतिबद्ध होता है) निष्कर्षतः निर्णय लेती है।

अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे
उठाने ही होगें
तोड़ने ही होगें मठ और गढ़ सब
पहुँचना होगा दुर्गम पहाड़ों के उस पार
....
अरुण कमल एक (अँधेरे में)

सामाजिक धार्मिक शोषण का केन्द्र मठ और राजनैतिक शोषण का अड्डा गढ़ तोड़ने का निर्णय नायक एक साथ लेता है। इस प्रकार कवि सामाजिक और राजनैतिक बुराइयों के खिलाफ संकल्पबद्ध होता है। इस दरम्यान उसे जनसंघर्षो से होकर गुजरना पड़ता है, और वह महसूस करता है कि—

मुझ पर क्षुब्ध बारूदी धुएँ की झार आती है।
व उन पर प्यार आता है
कि जिनका तप्त मुख। सवंला रहा है।
धूम लहरों में
जो कि मानव भविष्यत् युद्ध में रत हैं
जगत् की स्याह सड़कों पर। (चकमक की चिनगारियाँ)

वह देखता है कि

नगर से भयानक धुँआ उठ रहा है
कहीं आग लग गई, कहीं गोली चल गई
दादा का सोटा भी करता है दाँव पेंच

गगन में नाच रही कक्का की लाठी ।
यहाँ तक कि बच्चे की पैमें भी उड़ती ।
....

डूबा है जिसमें श्रमिकों का सन्ताप
माँओं के आँसू । वह जल पीकर
मेरे युवकों में व्यक्तित्वान्तर
विभिन्न क्षेत्रों में कई तरह से करते हैं संगर । (अँधेरे में)

जन संघर्षों का इतना व्यापक, सजीव और सही चित्र कोई वैज्ञानिक दृष्टि सम्पन्न अनुभवी कलाकार या कवि ही दे सकता है। जाहिर है मुक्तिबोध के सामने सन् ४२ ई० का व्यापक राष्ट्रीय जन आन्दोलन और उसकी अगली कड़ी तेलंगाना का बहादुराना संघर्ष था। उसी का आगामी व्यापक परिवर्द्धित और विकसित रूप वे देख रहे थे, जो तत्कालीन (और आज की भी) परिस्थितियों में अवश्यम्भावी है—

मुक्तिबोध की कविता का मुख्य पक्ष है, कथ्य। लेकिन इसका यह मतलब कतई नहीं कि उसका शिल्प कहीं से लचर है—"मुक्तिबोध की कविताओं में ही नहीं कथा साहित्य में भी प्रतीकों और बिम्बों के असम्वृत रूप की योजना हुयी है।[४]" नये प्रतीकों शब्दों को नया अर्थ देने में वे विशेष कुशलता व कारीगरी का परिचय देते हैं। लम्बी कविताओं में नाटकीयता और फैण्टेसी का वे खूब धड़ल्ले से प्रयोग करते हैं। इसके माध्यम से एक तो वे कविता को व्यापक कैनवास देते हैं, और उन सारी बातों को जिन्हें वे कहना चाहते हैं:—कथ्य के अन्दर समेट लेते हैं। कहीं-कहीं सपाट बयानी का स्वर दिखाई देता है, और वहाँ कवि वगैर किसी चमत्कार के अपनी बात बहुत ही सरल ढंग से कह देता है—

कविता में कहने की आदत नहीं पर कह दूं
वर्तमान समाज में चल नहीं सकता
पूंजी से जुड़ा हृदय बदल नहीं सकता
स्वातन्त्र्य व्यक्ति का वादी । छल नहीं सकता
मुक्ति के मन को । जन को । (अंधेरे में)

एक बात और है, मुक्तिबोध की कविताओं में भाषा की गति (प्रवाह) जो उसकी संरचनात्मक गठव की वजह से बनी रहती है वह और कथ्य की गतिशीलता दोनों एक दूसरे से अत्यधिक सम्पृक्त होते हैं। भयानक तनाव की स्थिति से गुजरते हुए काव्य नायक को जब तीव्र अन्तर्द्वन्द्वों के बीच से गुजरना पड़ता है और निर्णय न ले पाने की स्थिति में भाषा का ढीला, ढाला और "ढल" रूप दिखायी पड़ता है—

ओ मेरे आदर्शवादी मन
ओ मेरे सिद्धान्त वादी मन
अब तक क्या किया ।
जीवन क्या जिया ॥

वहीं दुसरी तरफ जैसे भागते हुए काव्य नायक के साथ भाषा की गति भी भागने लगती है—

भागता मैं दम छोड़ घूम गया कई मोड़
टूटी हुयी भीतों के उस पार कहीं पर
बहस गरम है
दिमाग में जान है, दिलों में दम है (अंधेरे में)

कविता में जैसे ही ठहराव की स्थिति आती है, वैसे ही उसके दूसरे क्षण कविता के कथ्य और प्रवाह दोनों की गति में एक उछाल सा आता है। ठीक वैसे ही जैसे सामान्य जीवन या सामाजिक विकास क्रम में होता है।

शिल्प के स्तर पर एक चीज जो सबसे सशक्त नजर आती है वह है बिम्ब योजना। वे बिम्बों के माध्यम से वर्ण्य विषय को उसकी सारी विशेषताओं में रुपायित कर देते हैं। चाहें बावड़ी में बड़बड़ाता, नहाता, ब्रह्मराक्षस हो या जन समस्याओं को कुचलता चल निकलता चकमक की चिनगारियां का नायक, लगता है जैसे सामने कविता न होकर फोटोग्रैफी हो और पाठक आत्मविस्मृत सा देख रहा हो। बैचैनी, तड़प और मजबूरी का एक चित्र दृष्टव्य है—

लगी है भनभनाती आग
लाखों बर्र काटों ने अचानक काट खाया है।
व्रणाहत पैर को लेकर
भयानक नाचता हूँ, शून्य
मन के टीन छत पर गर्म।
हर पल चीखता हूँ, शोर करता हूँ
कि वैसी। चीखती कविता बनाने में लजाता हूँ (चकमक की चिनगारियाँ)

इन सारी विशेषताओं के साथ ही इनकी कविताओं में एक प्रमुख अन्तर्विरोध है। वे कथ्य के स्तर पर जितने ही सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप समसामयिक चेतना से लैस हैं, शिल्प के स्तर पर उतने ही वातावरण के रचाव और शब्दों के चयन में तिलस्मी-मोहग्रस्त हैं। अचेतन रूप में वे कहीं न कहीं इससे बुरी तरह प्रभावित हैं। इसी को देखते हुए रामविलास शर्मा ने उस पर मार्क्सवाद, अस्तित्ववाद और रहस्यवाद का प्रभाव बतलाया है।[५] समकालीन संदर्भों के लिए वातावरण के रचाव में एक मृतप्राय शैली को जीवित करने के पीछे मुक्तिबोध का मकसद समझ में नहीं आता। इसके साथ ही भाषा की कलात्मक संरचना अत्यन्त जटिल, दुर्बोध और समझ से इतनी परे होती है कि पढ़े लिखे लोगों के दिमाग को भी कभी-कभी बगैर स्पर्श किए तक गुजर जाती है या बहुत ही सतही तौर पर छू पाती है। यही कारण है कि लम्बी कविताओं को बहुत ज्यादा गम्भीर चिन्तन की मुद्रा में न पढ़ा जाय तो कथ्य बीच में छूट जाता है। यह बात ध्यातव्य है कि कविता दर्शन नहीं होती मात्र दर्शन से नियन्त्रित हो सकती है या बस इतनी कि वह दर्शन की पकड़ से बाहर नहीं जानी चाहिऐ।

बहरहाल मुक्तिबोध के लिए कविता साध्य नहीं, मात्र साधन है, सामाजिक दायित्व के निर्वाह के लिए किए गए संकल्प का। वह आत्म तुष्टि के लिए नहीं वरन् सामाजिक संतुष्टि के लिए होती है। वे कहते हैं—

परम स्वाधीन है वह विश्व शास्त्री है
गहन गम्भीर छाया आगमिष्यत की

लिए वह जन चरित्री है
नए अनुभव व सवेदन
नए अध्याय प्रकरण जुड़
तुम्हारे कारणों से जगमगाती है
व मेरे कारणों से सँकुच जाती है। (चमक की चिनगारियाँ)

साहित्यिक विकास क्रम की अगली मंजिल के साथ ही साठोत्तरी पीढ़ी का हिन्दी साहित्य में बोलबाला हुआ। खास कविताओं और पत्रिकाओं के आधार पर विभिन्न नए नामों से अनेक आन्दोलन उभरे। लेकिन किन्हीं स्थायी मूल्यों के अभाव में ये सारे आन्दोलन जिस प्रकार बुल्ले की तरह उतराये, उसी प्रकार समाप्त हो गये। एक विन्दु है जहाँ सारे के सारे कवियों की कविताओं को रखा जा सकता है। इनमें चीजों की यथास्थिति के प्रति घृणा और आक्रोश दिखायी पड़ता है और ये बगैर किसी आवरण के तमाम प्रचलित विश्वासों को नकार देते हैं अमरीकी कवि कारुवाक और एलेन गिन्स वर्ग का प्रभाव पड़ा, अकविता और बीट पीढ़ी का प्रभाव बढ़ने लगा। कविता अब उन आदरणीय महानुभावों (?) (जो समाज की सारी गन्दगी और भ्रष्टाचार का जिम्मेदार होते हुए भी बाहर से सभ्य बने रहते हैं, जो आजादी के बाद बगैर जुगाली किए सारे देश को पचा रहे हैं।) के विरोध में उतनी ही निर्लज्ज, नंगी और अराजक होने लगी। यह सब उन तमाम बुराइयों के विरोध में हो रहा था जो अपने असली रूप से अलग कुछ और ही मुखौटा लगाए हुए थी। लेकिन इनका स्वर इतना ज्यादा अराजक था कि ये शासक वर्ग के लिए कम और जनता के जनवादी मूल्यों के लिए ही ज्यादा घातक होने लगीं। इसी कारण अकविता का सारा विद्रोह यौन विम्बों और उन्मुक्त काम क्रीड़ा तक ही रह गया। वैसे भी अराजकता अपनी लाख ईमानदारी के बावजूद जनता के पक्ष में नहीं जाती और फिर इस पीढ़ी के लोग ईमानदार भी नहीं थे–न अपने प्रति न समाज के प्रति। इसीलिए इस दौर की कविता भी "नंगा खुदा से बड़ा" लगती है। इसका चरित्र भी गैर जिम्मेदार और आवारा है।

जिस समय कविता ऐसे नाजुक दौर से गुजर रही थी, उसी समय धूमिल की कविताएं सामने आयीं। कविता में यहीं से एक बदलाव आता है और वह मोड़ लेती है।

मुक्तिबोध ने लिखा है कि यदि हम कलाकृतियों का ऐतिहासिक अध्ययन करें तो पाएगे कि विशेष युग में विशेष विषयों को लेकर ही कलाकृतियाँ सामने आयी हैं।[६]

इसी प्रकार यह विशेष युग भी किसी विशेष प्रवृत्ति को ही साहित्य की मांग कर रहा था और जिसके अभाव के कारण ही कोई आन्दोलन ठहर नहीं पाता जबकि नकार को मान्यता सब माँन रहे थे। लेकिन बदलाव रचनात्मकता की माँग करता है न कि अराजक ढंग से किए जा रहे निषेध की चाहत।

इस पीढ़ी के कवियों में पहली बार धूमिल भावना और भाषा के स्तर पर जनता के करीब गए। (यह मात्र औरों की अपेक्षा ही था यही कारण है कि लोग निराला, मुक्तिबोधकी अगली कड़ी के रूप में धूमिल को मानने लगे वरना मुक्तिबोध और धूमिल में बुनियादी अन्तर है। एक तरफ वे भाषा के स्तर पर अकविता द्वारा छूटने वाले पटाखों का भी इस्तेमाल करते हैं, तथा दूसरी तरफ मुक्तिबोध की तरह गम्भीर कथ्य को विषय बनाते हैं। उनकी भाषा कथ्य को वह गरिमा नहीं दे पाती जो उसके लिए उपयुक्त है।

जिन विषयों पर गम्भीर चिन्तन की जरूरत होती है उसे घूमिल एक चुटीले व्यंग्य द्वारा हास्यास्पद बनाकर छोड़ देते हैं—देखिए

और मैं सोचने लगता हूँ कि इस देश में
एकता युद्ध की और दया
अकाल की पूंजी है।
क्रान्ति यहाँ के असंग लोगों के लिए
किसी अबोध बच्चे के—
हाथों की जूजो है। (अकाल दर्शन)

यह कमजोरी घूमिल की कविता का अंग बन चुकी है और एक हद तक पहचान भी। वे बातों को उनकी गम्भीरता में न रखकर उन्हें चौंकाने वाली मुद्रा में रखते हैं। इसके लिए वे चमत्कार और कभी-कभी गैर जिम्मेदार फिकरों का सहारा लेते हैं। लेकिन जब कभी वे इससे मुक्त होते हैं तो बड़ी सशक्त रचना करते हैं। अपनी "मोचोराम" कविता में घूमिल ने सारी चीजों की सही पहिचान करके भी चुप्पी साधने वाले मोची की मानसिकता का जितना सही चित्र दिया है वैसी कविताओं में बहुत ही कम मिलता है।

सच कहता हूँ—उस वक्त
रांपी की मूठ को हाथ में संभालना
मुश्किल हो जाता है
आँख कहीं जाती है। हाथ कहीं जाता है
मन किसी झुझलाए बच्चे सा
काम पर आने से बार-बार इनकार करता है। (मोची राम)

घूमिल की कविता एक हद तक जनपक्षीय है। उसमें भरपूर ईमानदारी भी है और दिन भर बड़े साहब को रिक्शे पर ढोने के बाद चवन्नी पाने वाले रिक्शा चालक की खीज भरी गाली—जो व्यंग करती है—और शान्त हो जाती है परिस्थितियों की विद्रूपता पर एक तीव्र आक्रोश है, जिसकी कोई संकल्प बद्ध योजना नहीं। उनकी कविता का बुद्धिजीवी जानता है कि शासक वर्ग ने भूख की जगह भाषा को खड़ा कर दिया है और भुक्खड़ विद्रोह करता हुआ सिर्फ अपनी उँगलियाँ चबा रहा है। उसका विरोध सिर्फ इतना ही है—मुट्ठी भी तनी रहे और काँख भी ढँकी रहे वह शुभ और लाभ के बीच 'सिन्दूर' के साथ 'लाज' भी ढूंढ रहा है। यह बात सच है कि यही मध्यवर्गीय समाज की मानसिकता है। लेकिन सचेत कवि यथास्थितियों के बीच संभावनाओं को तलाशता रहता है और अपनी प्रतिबद्धता को सही गति देता है। मुक्तिबोध इसीलिए अन्तर्द्वन्द्वों के बीच से गुजरते हुए जन संघर्षों तक जाते दिखायी पड़ते हैं। एक सचेत और प्रतिबद्ध कवि के लिए महज इतना जान लेना ही पर्याप्त नहीं कि जिनका पेट भरा है भूखा आदमी उसके लिए सबसे भद्दी गाली है।

'पटकथा' घूमिल की सर्वाधिक लम्बी और चर्चित कविता रही है। इसे घूमिल ने 'अंधेरे में' के मुकाबले लिखा और कुछ लोगों ने 'अंधेरे में' के बाद 'पटकथा' को उसी क्रम में स्वीकृति भी दे दी। घूमिल और मुक्तिबोध में जो मौलिक अन्तर है वह इस कविता के द्वारा समझ में आ जाएगा।

4

'पटकथा' का कथानक आजादी के बाद इस इन्तजार के साथ आगे बढ़ता है कि अब कोई बच्चा भूखा रहकर स्कूल नहीं जाएगा, या अब कोई छत बारिस में नहीं टपकेगी, और अब कोई किसी की रोटी नहीं छीनेगा। लेकिन अन्त में देखता है कि—

एक ही संविधान के नीचे
भूख से रिरियाती फैली हथेली का नाम
गया है
और भूख में
तनी हुयी मुट्ठी का नाम
नक्सल बाड़ी है।

फिर आगे चलकर जान लेता है कि अपने यहाँ संसद तेली की घानी है। जिसमें आधा तेल है और आधा पानी है। वह महसूस करता है—

मेरे सामने वही चिर परिचित अंधकार है
संशय की अनिश्चयग्रस्त ठण्डी मुद्राएँ हैं
× × ×
घृणा में डूबा सारा का सारा देश
पहले की तरह आज भी
मेरा कारागार है।

इस प्रकार यह पूरी कविता नक्सल वादी आन्दोलन के भटकाव और बिखराव के बाद की निराशा तक आती है। इस दरम्यान वह सारे राजनैतिक पार्टियों का चरित्र मादा के रूप में देखता है। वह देखता है—हिन्दुस्तान की दुर्दशा और कोट के बटन होल में गुलाब खोसे प्रधानमंत्री का चेहरा, जिसको मुस्कराहट ही हर सवाल का जबाब है। कविता में जनतंत्र के नाम पर घोड़े और घास को दी गयी एक सी आजादी दिखती है। चुनाव—फिर चुनाव और उसके द्वारा सत्ता बदल नेता बदल के रूप देखकर नायक चीख उठता है—

वे सब के सब तिजोरियों के
दुभाषिए हैं
वे वकील हैं। वैज्ञानिक हैं
अध्यापक हैं। नेता हैं। दार्शनिक हैं।
लेखक हैं। कवि हैं। कलाकार है।
यानि कि कानून की भाषा बोलता हुआ
अपराधियों का संयुक्त परिवार है।

माना कि मध्यवर्ग में अपनी तमाम कमजोरियाँ होती हैं उसका चरित्र सुविधा भोगी होता है, किन्तु वह अपराधियों के परिवार में कत्तई नहीं होता। अन्धेरे में कविता के प्रासेशन का दृश्य में जो डोमा जी उस्ताद नगर के तमाम बड़े लोगों के साथ दिखायी देता है, वहाँ कवि सचेत है। तमाम बिके हुए लोग ही उस जुलूस में है, जो सचेतन तौर पर व्यवस्था की रक्षा में संलग्न है, न कि वह तमाम मध्यवर्ग ही जो जाने अनजाने अपनी सुविधाओं के लिए समझौता करता हुआ उनका हित कर जाता है। ध्यातव्य है कि यही मध्यवर्ग तो मुक्तिबोध की भी

कविता का नायक बनता है, जो आत्मसंघर्ष से व्यक्तित्वान्तरित होकर जन संघर्षों में रत होता है।

जीवन और समाज के प्रति मुक्तिबोध की एक वैज्ञानिक समझ है, वह उसी के नजरिये से सारी स्थितियों को देखते हैं। उनके सामने जनता का वह चरित्र है जो लम्बे काल तक जन संघर्षों को जारी रखता है। जो बहादुर है। जो परिवर्तनकारी और सारी योजनाओं का निर्माण करता है। वे जनता को न तो भेड़ मानते हैं और न तो भीड़। वे जानते हैं और कहते हैं -

अरे जनसंग उष्मा के
बिना व्यक्तित्व के स्तर जुड नहीं सकते
× ×
तुम्हारी मुक्ति उनसे प्रेम से होगी।
कि तद्‌गत लक्ष्य में से ही
हृदय के नेत्र जागेंगे।
× ×
कि अपनी मुक्ति के रास्ते
अकेले में नहीं मिलते।

समूह की चेतना में उनका विश्वास है। इसके विपरीत धूमिल जनता को पेड़ की तरह देखते हैं जो हर आने जाने वाली हवा से हाँय हाँय करता है। वह भेड़ की तरह देखते हैं जो दूसरों की ठंड के लिए अपनी पीठ पर ऊन पैदा करती है।

अफसोस है कि महान जनता का धूमिल बस यही एक रूप देख पाते हैं। उस पर व्यंग करते हैं, फ़िकरे कसते हैं। यही कारण है कि एक ही विन्दु से उठे हुए मुक्तिबोध और धूमिल दोनों दो छोर पर खड़े होते हैं। जहाँ मुक्तिबोध सारी स्थितियों को वैज्ञानिक चिन्तक के नजरिये से देखते हैं वहाँ धूमिल उन पर राह चलते सरसरी दृष्टि डालते हैं। और एक ऐसे गैर जिम्मेदार आदमी की तरह सब पर व्यंग, फिकरे और मुहावरे कसते हैं, जो अपने अलावा सबको गलत समझता है।

दरअसल ये सारी कमजोरियाँ धूमिल के व्यक्तिगत जीवन से जुड़ी हुई थी, "वह प्रतिक्रिया पार्टियों के खिलाफ था, मगर हिटलर की तारीफ करता था। वह प्रगतिशील था लेकिन उसे गलत सिद्ध करने के लिए जब कभी कोई मार्क्सवाद का हवाला देता, वह मार्क्स को गालियाँ तक दे डालता।[६] यह सब अराजक नकार की अतिरेकवादी स्थिति है। इसका प्रभाव उसकी रचनाओं पर मिलता है। मुक्तिबोध का युवा नायक जहाँ निर्णय लेता है—

मैं ब्रह्मराक्षस का सजल-उर शिष्य
होना चाहता
जिससे कि उसका
वह अधूरा कार्य
उसकी वेदना का स्रोत
संगत पूर्ण निष्कर्षों तलक
पहुँचा सकूं।

वहाँ धूमिल युवा वर्ग को जुलाब की गोलियाँ खाकर शौचालयों के सामने पंक्तिबद्ध खड़े देखते हैं। अच्छे कथ्यों को लेकर भी चौंकाने वाले फिकरे कसकर धूमिल कविता की गम्भीरता को फूहड़ कर देते हैं। जिन बातों को गम्भीरता से सोचने की जरूरत है उसे वे उपहसनीय बनाकर खिल्ली उड़ाना ज्यादा जरूरी समझते हैं। व्यवस्था और विसंगतियों (जीवनगत और समाजगत) के प्रति गहरा आक्रोश होते हुए भी वे उसे सक्रिय दिशा नहीं दे पाते।

धूमिल की कविता में बिम्ब पर्याप्त मिलते हैं। इनकी सजीवता अर्थ में जान डाल देती है--

एक अजीब सी प्यार भरी गुर्राहट
जैसे कोई मादा भेड़िया
अपने छौने को दूध पिला रही है और
साथ ही किसी मेमने का सिर चबा रही है।

यह कविता कम, आर्ट ज्यादा लगती है। भाषा में दैनिक जीवन की सड़क चलते फिकरे बाजी है। रुढ़िगत मर्यादाओं और उनकी विडम्बनाओं पर कबीर दास की तरह व्यंग करते हैं। "वह कहता था—भाषा अपनी जिम्मेदारी नहीं निभा रही है। कुछ हैं जो भाषा खा रहे हैं। उसने भाषा को उसकी जिम्मेदारी की जगह पर तैनात किया उसने कविता को एक खास तरह की मुंह फट और खुर्राट जबान दी।[८] वे नाटकीय शैली अपनाते हैं और फैण्टेसी के माध्यम से कथ्य को विस्तार देते हैं। अपनी तमाम जन पक्ष धरता और ईमानदारी के बावजूद मुक्ति बोध की धारा में नहीं आते। विषय उठा लेना एक बात है और उसका स्वस्थ निर्वाह कर पाना दूसरी।

साठोत्तरी पीढ़ी के अकवि जब कविता को भाषा और कथ्य के स्तर पर पतनोन्मुख कर चुके थे। स्वस्थ साहित्य की सारी संभावनाएँ लुप्त प्राय हो रही थीं, जहां बगैर किसी मौलिक चिन्तन के रोज नए-नए नारे और आन्दोलन कविता को बिना लक्ष्य के भटकाव की ओर ले जा रहे थे, वहां धूमिल की कविताएँ ऐसा सहारा बन कर आती हैं जहाँ से कविता फिर 'टर्न' लेती है। इस दृष्टि से धूमिल का ऐतिहासिक और सशक्त महत्व है।

(१) मुक्तिबोध रचनावली भाग–५ नई कविता की प्रकृति, पृ० सं० ३३१।
(२) मुक्तिबोध प्रतिबद्ध कला के प्रतीक, पृष्ठ सं० १६, चंचल चौहान।
(३) लोकचेतना प्रथम अंक।
(४) मुक्तिबोध प्रतिबद्ध कला के प्रतीक, पृ० सं० ३१, चंचल चौहान।
(५) नई कविता और आस्तित्ववाद, राम विलास शर्मा।
(६) मुक्तिबोध रचनावली भाग–५ वस्तु और रूप दो।
(७) आलोचना पृष्ठ सं० २१ अप्रैल-जून १९७५, धूमिल स्मृति अंक।
(८) आलोचना पृष्ठ सं० १३ अप्रैल-जून १९७५, धूमिल स्मृति अंक।
(९) कविताओं का संकलन : मुक्तिबोध रचनावली भाग दो एवं संसद से सड़क तक : धूमिल।

सारनाथ नाम की ऐतिहासिकता

ओमप्रकाश पाण्डेय*

सारनाथ वाराणसी से लगभग ६ किमी० दूर उत्तर दिशा में स्थित है, जहाँ भगवान बुद्ध ने बोध गया से सम्बोधि प्राप्त कर ई० पू० ५८८ के लगभग आषाढ़ पूर्णिमा के दिन पंच-वर्गीय भिक्षुओं को बौद्ध धर्म का प्रथम उपदेश दिया था जिसे धर्मचक्रप्रवर्त्तन (धम्मचक्क-पवत्तन) की संज्ञा से अभिहित किया गया, इसी पवित्र भूमि पर वाराणसी के यशकुल पुत्र के पिता ने बुद्ध, धर्म और संघ की शरण ग्रहण की थी। तथागत ने अपने २४ वर्षावास में प्रथम वर्षावास इसी घने जंगलों के बीच बिताया था। सारनाथ की पवित्र भूमि पर साठ भिक्षु संघ का निर्माण सर्वप्रथम बना, तथा इस धर्म का प्रचार यहीं से शुरू हुआ था। सारनाथ बौद्ध अनुयायियों के लिए चार महातीर्थ स्थलों में से एक है जिसमें से जन्म स्थान लुम्बिनी, बोधगया में बोधिवृक्ष के नीचे बुद्धत्व की सम्प्राप्ति, सारनाथ (ऋषिपतन) धर्मचक्र प्रवर्तन के लिए, तथा महापरिनिर्वाण कुशीनगर (कुशीनारा) यहीं स्थल बना।

वर्तमान सारनाथ का प्राचीन नाम इसिपतन[१] मिगदाय जो बौद्धसाहित्य की देन है, संस्कृत[२] साहित्य में ऋषिपतन मृगदाय, ऋषिपत्तन मृगदाव, तथा ऋषिवदन मृगदाव कहा गया है। यह जगह एक अविच्छिन्न धार्मिक परम्परा का परिज्ञान कराता है। सारनाथ नाम के सम्बन्ध में कई तरह का उल्लेख प्राप्त होता है। इसिपतन पालि साहित्य का तथा ऋषि पतन संस्कृत साहित्य की देन है, इस नाम के सम्बन्ध में सेनार्ट[३] महाशय का कथन है कि इसिपतन ऋषिपतन का अपभ्रंश है। चीनी यात्री फाहियान ऋषिपतन का अर्थ ऋषियों के पतन के रूप में लिया है, पतन शब्द यहाँ उतरने के अर्थ में आया हैं किन्तु बौद्ध साहित्यों में इस शब्द का आशय कुछ और ही परिलक्षित होता है। पतन शब्द का अर्थ नगर-ग्राम[४] व बन्दरगाह[५] के रूप में प्रयुक्त है मगर ऐसा प्रमाण कोई ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं है कि यहाँ कोई नगर एवं बन्दरगाह रहा हो। यह स्थान प्राचीन काल में बाराणसी के समीप ऋषियों के विहार योग्य एक सुन्दर वाटिका सा रहा, इस सम्बन्ध में जो सर्वाधिक प्राचीन उल्लेख प्राप्त है, उनमें से ऋषिपतन शब्द ही अधिक प्रमाणिक जान पड़ता है। पालि एवं संस्कृत साहित्य के अधिकांश ग्रन्थों की मान्यता पतन के लिए उतरने के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। महावस्तु[६] अवदान तथा पपंचसूदनी[७] ग्रन्थों से विदित होता है कि पतन शब्द का "प" तथा "वदन" शब्द का "व" को लेकर कई आपत्तियाँ आ खड़ी होती हैं किन्तु स्पष्ट है कि प्राकृत व्याकरण के आधार पर "प" के स्थान पर "व" तथा "द" के स्थान पर "त" हो जाता है, इसलिए दोनों शब्द शुद्ध हैं।

मृगदाय (मिगदाय) के सम्बन्ध में न्यग्रोध मृग के रूप में बोधिसत्व के आत्म बलिदान से द्रवित होकर काशीराज ने इसे मृगों के लिए अभयदान दे रखा था, जिसका वर्णन जातकों[८] में वर्णित है। मिगदाय और मृगदाय का "दाय"[९] शब्द का अर्थ दान, देयधन और जंगल के

---

* शोध-छात्र, प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।

अर्थ में प्रयुक्त हुआ है इसे चोइल्डर्स[10] महोदय ने वन के अर्थ में लिया है। मगर हम देखते हैं कि पालि ग्रन्थों में जहाँ दाय शब्द बन के अर्थ में आया है वहीं अट्ठकथा[11] में भी साधारणतः जंगल के अर्थ में प्रयोग हुआ है। अतः उपरोक्त शब्द के अर्थ का द्योतक मृगदाव न होकर मृगदाय ही हो सकता है। अर्थात् जहाँ पर दाय शब्द का प्रयोग दान के अर्थ में हुआ है वहीं पपंचसूदनी[12] ग्रन्थ में मृगों के अभयदान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

जातकों में वर्णन है कि वाराणसी के पास एक मिगाचिर नामक उद्यान था इस मिगाचिर को मलशेखर[13] इसिपतन मिगदाय का प्राचीन नाम मानते हैं। चीनी यात्री[14] (६७३-६९५) ने अपनी यात्रा में कुशीनगर से आते समय यहाँ पर विश्राम किया था तथा उसने भिक्षुओं को अध्ययन करते हुए ऋषिपतन में देखा था, उसने अपने विवरण में सारनाथ को ऋषिपतन ही कहा है। फाहियान[15] तथा ह्वेनसांग[16] ने भी वर्णन किया है कि ऋषियों के पतन तथा मृगों के लिए अभयदान देने के कारण इसका नाम ऋषिपतन मृगदाय पड़ा। ऋषिपतन मृगदाय नाम छठीं शताब्दी ई० पू० से लेकर बारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक चलता रहा, किन्तु जब यवन आक्रमणकारियों द्वारा सारनाथ के विहार एवं स्मारक नष्ट कर दिए गये, तब से ऋषिपतन नाम लुप्त हो गया, मुस्लिम काल में जब काशी बौद्ध तीर्थ, विहार, एवं हिन्दू मन्दिरों को नष्ट किया गया था, उस समय तक ऋषिपतन मृगदाय में शिवमन्दिर नहीं था, यदि होता तो आक्रमणकारियों ने उसे भी नष्ट कर दिया होता। किन्तु यह मानना स्वाभाविक है कि बौद्धों के प्रबल प्रभाव के लुप्त होने के पश्चात् जिस तरह बोध गया में हिन्दू तीर्थ स्थापित किया, उसी तरह से सारनाथ में सारंगनाथ मन्दिर बनवाया गया, सारंगनाथ का अर्थ मृगों के अर्थ में आया है, इस नाम का तालाब भी वर्तमान है जो शिव मन्दिर के पास स्थित है। उस शिव मन्दिर का नाम ग्रामवासियों ने सारनाथ रखा, उसी समय से सारनाथ नाम प्रचलित हुआ। कनिंघम[17] ने अपने सर्वेक्षण के उपरान्त सारंगनाथ ही कहा है, इस तरह से ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि सारंगनाथ नाम का ही अपभ्रंश होकर सारनाथ वर्तमान स्थान के लिए प्रयोग हुआ हो।

ऋषिपतन मृगदाय (वर्तमान सारनाथ) के महत्व को देखते हुए इसे दूर-दर देशों में, अन्य नामों से अभिहित किया गया है, जैसे—वर्मा में मिगदावु, चीन में लुयेवा, सिंहली तथा तिब्बती इसे इसीपतनरामाय की संज्ञा देते हैं।

सारनाथ के नामकरण के सम्बन्ध में बौद्ध साहित्य अर्थात् पालिसाहित्य में अनेकशः इसिपतन मिगदाय का उल्लेख यह द्योतित करता है कि बुद्ध के समय में ऋषिपतन मृगदाय बौद्ध धर्म का महान केन्द्र था, जिसकी महत्ता बौद्धानुयायियों के लिए अपरिहार्य है। बुद्ध कालीन महाजनपदों की तालिका में जहाँ एक ओर काशी एक जनपद के रूप में ख्यातिलब्ध था, वहीं दूसरी ओर वाराणसी के उत्तर दिशा में स्थित अभिन्न अंग सारनाथ (ऋषिपतन) बौद्ध इतिहास में विश्व के समक्ष बौद्धानुयायियों के मानस-पटल पर अपनी अमिट छाप एवं महत्ता बनाए हुए है। कालान्तर में यह पवित्र स्थल मूर्तिकला का केन्द्र बना, जिसे भारतीय कला की अनुपम देन कही जाती है, गुप्त काल में बुद्ध की अनेकशः मुद्राओं में, बौद्ध देवियों का निर्माण हुआ, नगर की सम्पन्नता के अनुपम साहचर्य ने सारनाथ को बौद्ध धर्म का महान केन्द्र बनाए रखने में सतत् सहयोग प्रदान किया।

सन्दर्भ

१. संयुक्त निकाय—1. 4. 4 ।

२. सद्धर्मपुण्डरीकसूत्रम्, पृ० 52, ललित विस्तार पृ० 416 महा० अव०, ऋषि वदनस्मि पृ० 43, 307 । , ऋषि वदने मृगादये, पृ० 323, 324, ऋषिपतन पृ० 366, 368 ।

३. सेनार्ट—महा० अव० भाग 2, पृ० 359 ।

४. पुनापरं यदा होमि इन्दपत्ते पुरुत्तमे ।
राजा धनञ्जयो नाम कुसले दसहुपागतो ॥ (चरियापिटक 1.3.1)

५. पुना परं यदा होमि ब्राह्मणों सङ्खसञ्ह्यो ।
महासमुद्दं तरितुकामों उपगच्छामि पतनं ॥ (चरियापिटक 1 2.1.)
भरुकच्छं नाम पत्तत गामो अहोसि (सुधारक जा० पृ० 462)

६. ऋषयोऽत्र पतितां ऋषिपतनम् (महा० अव० भाग 1, पृ० 359)

७. पपंचसूदनी—भाग–2, पृ० 188 ।

८. जातक—भाग–5, पृ० 18, 476, 336 ।

९. चाइल्डर्स—पालिडिक्शनरी, पृ० 114 ।

१०. दायो दाने विभत्तधने च पितुनं बने (अभिधानप्यदीपिका पृ० 898)

११. दायोति अविसेसेन अरञ्ञस्से तं नाम ॥ (पपंचसूदनी अट्ठकथा-पृ० 1.4.1.)

१२. मिगानं अभयत्थाय दिन्नता मिगदायोति पवुच्चति ॥ (पपंचसूदनी पृ० 2.4.11)

१३. मललशेखर—डिक्शनरी आफ पालि प्रापर नेम्स–भाग–2, पृ 626 ।

१४. इत्सिग–ए रेकार्ड्स आव द बुद्धिस्ट रिलिजन—पृ० 4 ।

१५. फाहियान—पृ० 75 ।

१६. वार्टर्स–आन युआन च्वांग ट्रेवल आन इण्डिया, भाग—2, पृ० 43-45 ।

१७. कनिंघम—आर्क्योलाजिकल सर्वे आव इण्डिया रिपोर्ट 1861-62 पृ० 106-7 ।

१८. भिक्षुधर्मरक्षित—सारनाथ का इतिहास—पृ० ६ ।

कुषाण सिक्कों पर भारतीय देवांकन

सविता शर्मा,* मारुति नंदन तिवारी**

ईसवी सन् के प्रारम्भ में (ल० १५ ई०) भारत के राजनैतिक इतिहास में कुषाणवंश का अभ्युदय हुआ। कुषाण शासक पूर्ववर्ती भारतीय यवन, शक और पहलव राजवंशों के समान ही विदेशी मूल के थे। ये यूची जाति की ही एक शाखा के लोग थे जिनका मूलस्थान चीन था।[१] भारतीय संस्कृति की एक प्रमुख विशेषता यह रही है कि विदेशी जातियाँ भी यहाँ की सांस्कृतिक परम्परा में पूरी तरह समाहित हो गयी थीं। मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात् कुषाण राजवंश ने ही भारत की राजनैतिक प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित किया। इनका उत्तर भारत के अधिकांश भूभाग पर अधिकार के साथ ही मध्य एशिया पर भी प्रभाव था।[२] इस प्रभाव के फलस्वरूप भारत का विदेशों के साथ बहुमुखी सम्पर्क स्थापित हुआ। राजनैतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होने के साथ ही कुषाण काल धर्म, साहित्य, मूर्तिकला, विशेषतः बौद्धधर्म के महायान सम्प्रदाय एवं गन्धार मूर्ति कला, आदि के प्रभूत विकास की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण था।[३]

यद्यपि प्रस्तुत लेख में हमारा अध्ययन कुषाण मुद्राओं पर प्राप्त भारतीय देवांकनों से सम्बन्धित है, किन्तु पृष्ठभूमि-सामग्री के रूप में कुषाणों के राजनैतिक इतिहास, उनकी धार्मिक आस्था तथा उनके द्वारा जारी मुद्राओं की संक्षिप्त चर्चा भी यहाँ अपेक्षित होगी। कुषाण शासकों का काल ई० सन् के प्रारम्भ से दूसरी शती ई० के अन्त तक (ल० १८० ई०) माना गया है।[४] कुषाण वंश का प्रारम्भिक शासक कुजुलकडफाइसिस था जिसने भारत में कुषाण रा वंश की स्थापना की। इसके पश्चात् क्रमशः विमकडफाइसिस, कनिष्क, हुविष्क तथा वासुदेव महत्त्वपूर्ण शासक हुए। इस वंश का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शासक कनिष्क (ल० ७८ ई० से १०२ ई०) था। इसके शासनकाल में कुषाण राजवंश को सर्वाधिक प्रतिष्ठा मिली। कनिष्क का शासन-क्षेत्र मथुरा और वाराणसी तथा उत्तर-पश्चिम में तक्षशिला तक विस्तृत था।[५] पुरुषपुर (पेशावर) कनिष्क की राजनीतिक और मथुरा सांस्कृतिक राजधानियां थीं। बौद्ध-धर्म एवं कला के क्षेत्र में कनिष्क का उल्लेखनीय योगदान रहा है। मथुरा एवं गंधार जैसे विश्वप्रसिद्ध कला-केन्द्रों की स्थापना कनिष्क के शासनकाल में हुयी। बुद्ध की प्रथम मानव मूर्ति का निर्माण भी कनिष्क के काल में ही प्रारम्भ हुआ। कनिष्क के उत्तराधिकारियों में राजनीतिक दृष्टि से हुविष्क और वासुदेव ही महत्त्वपूर्ण थे। इनके बाद कुषाण वंश का पराभव प्रारम्भ हो गया।[६]

भारतीय शासक प्राचीन काल से ही धर्म सहिष्णु रहे हैं, केवल बंगाल के पाल एवं कुछ अन्य शासक ही इसका अपवाद रहे हैं। कुषाण शासक भी भारतीय परम्परा के अनुरूप ही धर्म सहिष्णु थे। इन शासकों ने कभी अपना व्यक्तिगत धर्म जनता पर नहीं थोपा, बल्कि सभी धर्मों

---

* शोधछात्रा **प्रवक्ता कलासंकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

को यथासम्भव राजकीय समर्थन देकर विकसित होने का पूरा अवसर प्रदान किया।[७] इसका स्पष्ट उदाहरण मथुरा है, जहाँ कुषाण काल में तीनों प्रमुख धर्मों—ब्राह्मण, बौद्ध एवं जैन देवी-देवताओं की मूर्तियाँ प्रचुर संख्या में बनीं।[८]

मनुष्य के उपादान या आश्रय खोजने की स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण धीरे-धीरे बौद्ध एवं जैन धर्मों के आचार्य स्वयं ही उपास्य देव बन गए, और उनकी मूर्तियाँ बनने लगीं। इस प्रक्रिया को कुषाण काल में पूर्णता मिली। कला के प्रतीकों के स्थान पर मानव मूर्तियों के निर्माण की जो प्रवृत्ति कुषाणकालीन मूर्तियों में प्रकट हुई है, उसे स्पष्टतः मुद्राओं के देव-आकृतियों के सन्दर्भ में देखा जा सकता है।[९]

कुषाण शासकों ने सोने तथा तांबे में अपनी मुद्राएँ जारी कीं। कुजुलकडफाइसिस द्वारा जारी किए गये प्रारम्भिक कुषाण सिक्के तांबे के थे। विमकडफाइसिस ने तांबे के साथ ही सोने की मुद्राएँ भी जारी कीं। विमकडफाइसिस कुषाण वंश का अन्तिम शासक था, जिसके सिक्कों के पुरो भाग पर ग्रीक तथा पृष्ठ भाग पर खरोष्ठी में लेख मिलते हैं। कनिष्क ने इस प्रथा को समाप्त कर अपनी मुद्राओं पर केवल ग्रीक लिपि में ही लेखों का अंकन कराया, जिसका बाद के सभी कुषाण शासकों ने अनुकरण किया।[१०] इन मुद्राओं पर कुषाण शासकों की प्रतिकृतियों के साथ ही विभिन्न धर्मों की देवाकृतियों का भी अंकन हुआ है, जिनसे तत्कालीन धर्म के साथ ही शासकों की धार्मिक आस्था और रुझान पर भी महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। इन मुद्राओं पर बुद्ध, शिव, उमा, कार्तिकेय जैसे भारतीय देवी-देवताओं के अंकन के साथ ही ईरानी, यूनानी देवी-देवताओं का भी अनेकशः अंकन हुआ है। यह तथ्य दो या दो से अधिक देशों के मध्य के धार्मिक-सांस्कृतिक आदान-प्रदान की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। विदेशी देवी-देवताओं में प्रमुखतः हेलिओस-मिहिर (सूर्य), माओ (चन्द्रमा), ओएडो (वायु देवता), फर्रो एवं अथशो (अग्निदेवता), नाना एवं ओरडोकशो(लक्ष्मी)आदि का अंकन हुआ है। ये देवी-देवता सामान्यतः आयुधों के आधार पर भारतीय देवी-देवताओं के समरूप हैं। वी० एस० अग्रवाल के अनुसार केवल कनिष्क की ही मुद्राओं पर ईरानी, यूनानी बौद्ध और ब्राह्मण धर्मों के ३० से अधिक देवी-देवताओं का निरूपण हुआ है।[११] भारतीय और विदेशी संस्कृतियों का स्पष्ट सामंजस्य इन देवाकृतियों के निरूपण में परिलक्षित होता है।

प्रारम्भिक कुषाण शासक कुजुल तथा विमकडफाइसिस क्रमशः बौद्ध एवं शैव मतावलम्बी थे।[१२] कनिष्क बौद्ध धर्मावलम्बी था। उसी के शासनकाल में चतुर्थ बौद्ध संगीति सम्पन्न हुयी तथा बौद्धधर्म हीनयान और महायान इन दो सम्प्रदायों में विभक्त हुआ। बुद्ध की प्रारम्भिक मानव मूर्ति का निर्माण तथा वसुमित्र, अश्वघोष, नागार्जुन तथा पार्श्व जैसे बौद्ध दार्शनिकों को राजाश्रय प्राप्त हुआ।[१३] हुविष्क तथा वासुदेव शैवधर्म के प्रति आस्थावान थे। कुषाणकालीन मूर्तियों से हमें शासकों के व्यक्तिगत धार्मिक रुझान का संकेत नहीं मिलता, किन्तु मुद्राओं से इस बात का संकेत प्राप्त किया जा सकता है। यहाँ इस बात की चर्चा भी प्रासंगिक होगी कि मूर्तियों के निर्माण में शासकों से अधिक सामान्य जनों, व्यापारियों एवं व्यवसायियों का योगदान रहा है। मथुरा के मूर्ति लेखों में स्वर्णकार, नाविक, लौह कर्मक, बढ़ई एवं नर्तकी आदि के मूर्ति निर्माण में सहयोग के स्पष्ट उल्लेख हैं।[१४] इसी कारण मूर्तियों में शासकों की व्यक्तिगत धार्मिक आस्था उतनी स्पष्टतः प्रतिबिम्बित नहीं होती।

कुषाण मुद्राओं पर प्राप्त देवाकृतियों के निरूपण के पूर्व इस बात की चर्चा आवश्यक है कि इन मुद्राओं पर किसी भी जैन देवी-देवता का अंकन नहीं हुआ है,[१५] जो कुषाण काल में जैनधर्म की विकसित स्थिति को देखते हुए आश्चर्यजनक है।[१६] कुषाण मुद्राओं पर शैली की दृष्टि से गंधार शैली का अधिक प्रभाव दृष्टिगत होता है, विभिन्न आकृतियों की वेशभूषा व अन्य विवरणों में विदेशी प्रभाव स्पष्ट है। इनमें कुषाण मूर्तियों की मांसलस्थूलता भी कुछ सीमा तक देखी जा सकती है।

कुषाण मुद्राओं पर शाक्य मुनि बुद्ध और मैत्रेय बुद्ध के अतिरिक्त बौद्ध देवकुल के अन्य किसी देवता का अंकन नहीं हुआ है। सामान्य धारणा के अनुसार कनिष्क की मुद्राओं एवं कनिष्क के काल में मथुरा एवं गन्धार कला केन्द्रों पर ही बुद्ध का मानव-रूप में सर्वप्रथम अंकन हुआ।[१७] किन्तु इस धारणा के विपरीत कुछ विद्वानों ने कुजुलकडफाइसिस की कुछ ताम्र मुद्राओं के पुरो भाग पर अंकित आकृति को बुद्ध का अंकन माना है। इस प्रकार कनिष्क के पूर्व ही बुद्ध का मानव अंकन प्रतिपादित किया गया है।[१८] इन मुद्राओं पर बुद्ध अपनी पारम्परिक मुद्रा में विराजमान हैं तथा उनके दाहिने हाथ में कोई अस्पष्ट सी वस्तु है। ऐसी दो मुद्राओं के पृष्ठ भाग पर शिव, नन्दी तथा ज्यूस का अंकन हुआ है।[१९] बुद्ध के हाथ में किसी अस्पष्ट सी वस्तु का होना इस आकृति को बुद्ध से पहचानने में बाधक है, क्योंकि बुद्ध के दाहिने हाथ में कभी भी किसी सामग्री के प्रदर्शन की परम्परा नहीं रही है। यदि उठा हुआ दाहिना हाथ अभयमुद्रा में हो तो बुद्ध से पहचाना जा सकता है।[२०] कनिष्क की मुद्राओं पर शाक्य मुनि बुद्ध एवं भविष्य के मानवी-बुद्ध मैत्रेय का निरूपण उनके नामोल्लेख के साथ हुआ है।[२१] ये मुद्राएँ बौद्ध प्रतिमालक्षण के अध्ययन की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है क्योंकि शाक्यमुनि बुद्ध एवं मैत्रेय के ये प्रारम्भिकतम अंकन हैं, और इनमें तथा समकालीन मूर्तियों में पर्याप्त समानता दृष्टिगत होती है। इनमें बुद्ध की स्वतन्त्र मूर्तियों की विशेषताएँ स्पष्टतः देखी जा सकती हैं। समकालीन मथुरा और गन्धार मूर्तियों के समान ही इनमें शाक्यमुनि और मैत्रेय बुद्धों को अभयमुद्रा में दिखाया गया है। बुद्ध को स्थानक और आसीन दोनों ही मुद्राओं में निरूपित किया गया है। बुद्ध की आकृतियों के पीछे प्रभामण्डल है जो बुद्ध के देवत्व का आभास कराते हैं। यह प्रभामण्डल कभी केवल सिर के पीछे है, और कभी पूरी आकृति के चारों ओर बना है। बुद्ध को केवल समक्ष-दर्शन में ही दिखाया गया है। बुद्ध के दाहिने हाथ से अभय-मुद्रा व्यक्त है तथा बाएँ हाथ से संघाटी का निचला सिर पकड़े हैं। बुद्ध लम्बकर्ण और उष्णीष से युक्त हैं।[२२] लखनऊ संग्रहालय में सुरक्षित कनिष्क के एक सिक्के पर बुद्ध चौकी पर बैठे हैं। उनका दाहिना हाथ सीने के समीप अभयमुद्रा में है तथा बायाँ हाथ जांघ पर स्थित है। सिर के पीछे प्रभामण्डल है तथा बुद्ध लम्बकर्ण हैं। दोनों कन्धों पर संघाटी के चिह्न भी स्पष्ट हैं, किन्तु लेख अस्पष्ट है।[२३] कनिष्क की तांबे की मुद्राओं पर आसीन मैत्रेयबुद्ध है और उनके दाहिने हाथ से अभयमुद्रा व्यक्त है, तथा जांघ पर स्थित बाएँ हाथ में जलपात्र है। मैत्रेय कुण्डल, हार, बाजूबन्द जैसे आभूषणों से सज्जित हैं।[२४] शैली की दृष्टि से ये अंकन कनिष्क के शासनकाल की मूर्तियों के ही समान हैं। एक आश्चर्यजनक बात यह है कि स्थानक बुद्ध के अङ्कन में बुद्ध को बूट पहने हुए दिखाया गया है तथा उनके दोनों पैर बाहर की ओर मुड़े हैं। बुद्ध के पैरों की स्थिति और खड़े होने की

मुद्रा मथुरा से प्राप्त कनिष्क की मस्तकविहीन विशाल मूर्ति के समान है।[२५]

मध्यप्रदेश (राजगढ़) से प्राप्त कनिष्क की एक अन्य स्वर्णमुद्रा पर भी बोड्डो (Boddo) लेख के साथ बुद्ध का स्थानक रूप में अंकन हुआ है। बुद्ध के बाएँ हाथ में संभवत भिक्षा-पात्र है और दाहिना हाथ वक्ष तक उठा हुआ है, किन्तु अभय मुद्रा में नहीं है। धोती, उत्तरीय, सघांटी तथा कनटोप (?) से शोभित बुद्ध के पैर उपर्युक्त मुद्रा के समान ही दर्शाए गये हैं।[२६] कनिष्क के पश्चात् अन्य किसी कुषाण शासक की मुद्रा पर बुद्ध का अंकन नहीं प्राप्त होता है।

कुषाण मुद्राओं पर शैव परिवार के शिव, कार्तिकेय, गणेश (?) और उमा का अंकन हुआ है। शैव देवकुल के प्रतिनिधि देव शिव का अंकन सर्वाधिक लोकप्रिय था।[२७] कुजुलकड-फाइसिस के अतिरिक्त अन्य सभी प्रमुख कुषाण शासकों की मुद्राओं पर शिव का विभिन्न रूपों में निरूपण हुआ है। टार्न के अनुसार शिव का मानवरूप में अंकन सर्वप्रथम कुषाण मुद्राओं पर ही हुआ।[२८] लेकिन बनर्जी इस मत को स्वीकार नहीं करते, उनके अनुसार मुद्राओं पर शिव का प्रारम्भिकतम अंकन उज्जैनी की मुद्राओं पर है।[२९]

कुषाण मुद्राओं पर शिव के निरूपण में प्राप्त विविधता प्रतिमालाक्षणिक दृष्टि से विशेष महत्त्व की है। शिव कभी द्विभुज और कभी चतुर्भुज हैं। सभी उदाहरणों में शिव स्थानक मुद्रा में हैं। कहीं तो शिव का अंकन अकेले तथा कहीं अपने वाहन नन्दी के साथ हुआ है। कुछ उदाहरणों में शिव त्रिमुख भी हैं जो हमें परवर्ती काल की विश्वप्रसिद्ध एलिफेण्टा को शिव की त्रिमूर्ति (महेश मूर्ति) का स्मरण कराती है। शिव के विभिन्न हाथों में परशु, त्रिशूल, व्याघ्रचर्म, डमरू जैसे पारम्परिक आयुधों के साथ ही जलकलश, वज्र, चक्र, पद्म, पाश, शूल, दण्ड, गदा एवं अंकुश आदि भी प्रदर्शित हैं। तात्पर्य यह कि प्रतिमालाक्षणिक दृष्टि से कुषाण मुद्राओं की शिवाकृतियाँ पूर्णतः विकसित हैं। यहाँ इस बात का उल्लेख प्रासंगिक होगा कि शिव की कुषाणकालीन स्वतन्त्र मानव मूर्तियों में हमें इतनी विविधता नहीं प्राप्त होती। ज्ञातव्य है कि नन्दिवाहन के साथ शिव का अंकन स्वतन्त्र मूर्तियों में भी हुआ है।[३०]

सर्वप्रथम विमकडफाइसिस की मुद्राओं पर शिव अंकन मिलता है। इनपर शिवका प्रतीक (त्रिशूल-परशु-नन्दीपद) तथा मानव दोनों ही रूपों में अंकन है। इनमें द्विभुज शिव के दाहिने हाथ में त्रिशूल या परशु-त्रिशूल है, और नीचे लटकी हुयी बायीं भुजा में जलपात्र और व्याघ्रचर्म है। कभी-कभी शिव का बायाँ हाथ नन्दी के ऊपर भी टिका है। कभी तो शिव के पीछे आभा जैसी प्रदर्शित है और कभी सिर से अग्नि-शिखाओं को निकलते हुए प्रदर्शित किया गया है। इन मुद्राओं पर शिव आकृति के समीप ही 'नन्दी पद' प्रतीक अंकित है। साथ ही खरोष्ठी लिपि में 'ईश्वरस (महिश्वरस) उत्कीर्ण है जो शिव का ही नाम है।[३१]

कनिष्क एवं हुविष्क की मुद्राओं पर शिव (ओएशो) का द्विभुज और चतुर्भुज दोनों ही रूपों में अंकन हुआ है। द्विभुज शिव के साथ वाहन नन्दी है तथा करों में त्रिशूल और जल पात्र हैं।[३२] कनिष्क की कुछ ताम्र मुद्राओं पर शिव के दाहिने हाथ में शूल (या दण्ड) है तथा बायाँ हाथ गदा पर स्थित है। कनिष्क और हुविष्क की स्वर्ण एवं ताम्र मुद्राओं की शिव की चतुर्भुज आकृतियों के गले में माला और हाथों में विभिन्न आयुध प्रदर्शित हैं। चतुर्भुज शिव के हाथों में क्रमशः वज्र (डमरू-ह्वाइट हैड), जलपात्र, त्रिशूल और मृग हैं। कुछ मुद्राओं

पर निचले दाहिने हाथ में जलपात्र के साथ ही अंकुश भी है । यह बात विशेष उल्लेखनीय है कि किसी देवता के एक ही हाथ में दो आयुधों का साथ-साथ प्रदर्शन भारतीय परम्परा में लोकप्रिय नहीं रहा है ।[३३] ताम्र-मुद्राओं की आकृतियों में शिव के एक हाथ में पाश है, तथा दूसरा हाथ या तो कमर पर रखा है या फिर नीचे की ओर लटका हुआ है और एक अन्य में जलपात्र है ।[३४]

हुविष्क की स्वर्ण मुद्राओं पर चतुर्भुज शिव तीन मुखों वाले हैं और उनके हाथों में क्रमशः त्रिशूल, वज्र, गदा और जलपात्र प्रदर्शित हैं ।[३५] त्रिमुख शिव ऊर्ध्वरेता, अधोवस्त्र-धारी, मृग, चक्र, त्रिशूल और वज्र से युक्त हैं ।[३६] ऊर्ध्वलिंग शिव का अंकन कुषाण मूर्तियों में भी पर्याप्त लोकप्रिय था । शिव का त्रिमुख होना समन्वयवादी या संघाट देवमूर्तियों के निर्माण की परम्परा का साक्षी है, जिसे कुषाणकालीन शिव-विष्णु की संयुक्त मूर्ति (हरिहर) में भी देखा जा सकता है ।[३७] धार्मिक इतिहास की दृष्टि से ऐसी संयुक्त मूर्तियों का विशेष महत्त्व है, क्योंकि इनमें एक ही देवता के विभिन्न स्वरूपों और साथ ही दो अलग देवताओं के संयुक्त रूपों की जानकारी मिलती है, जिनसे विभिन्न सम्प्रदायों के आपसी सम्बन्धों पर भी प्रकाश पड़ता है ।

वासुदेव की मुद्राओं पर शिव को समान्यतः द्विभुज तथा एक या तीन मुखों वाला और नन्दीवाहन के साथ अंकित किया गया है ।[३८] कनिंघम ने वासुदेव के एक ऐसे सोनेके सिक्के का उल्लेख किया है जिसमें त्रिमुख और चतुर्भुज शिव का अंकन हुआ है । नन्दीवाहन से युक्त शिव के करों में जलपात्र, पाश, त्रिशूल और व्याघ्रचर्म हैं ।[३९] द्विभुज शिव की भुजाओं में सामान्यतः पाश और त्रिशूल हैं । शिव को केशरचना जटाजूट के रूप में प्रदर्शित है । ब्रिटिश संग्रहालय में सुरक्षित वासुदेव की दो स्वर्ण मुद्राओं पर पंचानन आकृति (शिव) का अंकन माना गया है । इस पर ग्रीक लिपि में 'ओएशो' (शिव का नाम) लिखा है ।[४०] इन मुद्राओं को सूक्ष्मता के साथ देखने पर शिव का पंचमुख के स्थान पर त्रिमुख होना पूरी तरह स्पष्ट है ।

शिवपुत्र कार्तिकय देव सेनापति हैं । इनका प्रारम्भिकतम अंकन यौधेय मुद्राओं पर युद्ध के देवता के रूप में हुआ है । कुषाण काल में कार्तिकेय की कई स्वतन्त्र मूर्तियां बनीं, जो कार्तिकेय पूजन की लोकप्रियता की साक्षी हैं । कार्तिकेय के अतिरिक्त स्कन्द, कुमार और विशाख की भी पूजा प्रचलित थी । मूर्तियों में द्विभुज कार्तिकेय का वाहन कभी कुक्कुट और कभी मयूर है । देवताओं के दाहिने हाथ से अभयमुद्रा व्यक्त है तथा बाएं हाथ में शक्ति है ।[४१]

हुविष्क एक मात्र विदेशी शासक था जिसने अपनी मुद्राओं पर कार्त्तिकेय को अंकित कराया । हुविष्क के सिक्कों पर कार्त्तिकेय का अंकन स्कन्द, कुमार, विशाख और महासेन नामों से हुआ है ।[४२] पहले वर्ग में महासेन नाम वाले देवता हैं जो प्रभामण्डल, अधोवस्त्र और ऊपरी भाग में संघाटी जैसे वस्त्र से युक्त हैं, जिनके दाहिने हाथ में दण्ड है जिसके शीर्ष भाग पर कोई पक्षी (सम्भवतः मयूर) बना है । देवता का बायाँ हाथ कमर से बँधे खड्ग के ऊपरी भाग पर स्थित है ।[४३] दूसरे प्रकार के अंकन में आमने-सामने प्रभामण्डल से युक्त दो आकृतियाँ खड़ी हैं, जिनके नीचे क्रमशः स्कन्दकुमार और विशाख उत्कीर्ण है । दोनों आकृतियों की कमर से खड्ग लटक रही है । स्कन्दकुमार के दाहिने हाथ में एक लम्बा शूल प्रदर्शित है । विशाख को स्कन्दकुमार का दाहिना हाथ अपने हाथ में लिये हुए दिखाया गया है ।[४४] तीसरे प्रकार के

अंकन में एक देवालय में तीन अलग-अलग आकृतियाँ खड़ी हैं, जिनके नीचे क्रमशः स्कन्दकुमार, महासेन और विशाख लिखा है। उपर्युक्त आकृतियों के समान ही इनमें भी कमर से खड्ग लटक रही है। इन आकृतियों के समान लक्षणों के आधार पर इनके एक ही देवता के तीन रूपों में अभिव्यक्ति की बात समर्थित होती है।[४५] हुविष्क की मुद्राओं पर प्राप्त अंकनों के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय तक कार्त्तिकेय की लाक्षणिक विशेषताएँ स्थिर नहीं हो पाई थीं। इनमें शूल के अतिरिक्त अन्य कोई पारम्परिक विशेषता परिलक्षित नहीं होती है।

सिद्धिदायक और विघ्ननाशक गणेश की स्वतन्त्र मूर्तियों का स्पष्ट निरूपण कुषाणकाल में नहीं हुआ। भारतीय संग्रहालय कलकत्ता में सुरक्षित हुविष्क की ताम्रमुद्रा पर गणेश का सम्भावित अंकन हुआ है। पृष्ठ भाग पर एक धनुर्धारी पुरुषाकृति लम्बे धनुष के साथ खड़ी है। धनुष की प्रत्यञ्चा भी स्पष्ट है। दाहिनी ओर प्राचीन भारतीय ब्राह्मी लिपि में स्पष्टतः 'गणेश' लिखा है।[४६] जे० एन० बनर्जी उपर्युक्त आकृति को गणेश के स्थान पर शिव का अंकन मानते हैं। उनके अनुसार यह आकृति न तो गजानन है और न ही लम्बोदर है, और न ही इसमें गणेश के कोई अन्य लक्षण प्रदर्शित हैं। इसके विपरीत बनर्जी ने रामायण का एक सन्दर्भ देते हुए उसे शिव का निरूपण बतलाया है। उस सन्दर्भ में शिव का गणेश नाम से उल्लेख हुआ है। ज्ञातव्य है कि प्रारम्भिक काल में धनुष शिव का मुख्य आयुध था।[४७]

कुषाण मुद्राओं पर शिव का अपनी शक्ति उमा के साथ भी अंकन हुआ है। पंजाब संग्रहालय में सुरक्षित हुविष्क के एक सिक्के पर पुरुष और स्त्री की युगल आकृतियाँ आमने सामने खड़ी हैं। दोनों आकृतियों के मध्य में कुषाण मोनोग्राम बना है। स्त्री आकृति के समीप ग्रीक लिपि में एक लेख है जिसमें 'नाना' का नामोल्लेख है। पुरुष आकृति को लेख में ओएशो (शिव) कहा गया है। लेख तथा आकृति के आधार पर 'नाना' की पहचान उमा से की गयी है। हुविष्क के ही कुछ अन्य सिक्कों पर देवी का स्पष्ट अंकन ओम्मो (उमा) नाम से भी हुआ है। लाक्षणिक विशेषताओं के आधार पर पुरुषाकृति स्पष्टतः शिव की है। देवी के हाथ में सम्भवतः कोई पुष्प है।[४८] बनर्जी के अनुसार उमा का हुविष्क की कुछ मुद्राओं पर स्वतन्त्र अंकन भी हुआ है, जहाँ इनके हाथ में कमल के स्थान पर कार्नकोपिया प्रदर्शित है। अंकित लेख में ओम्मो (उमा) लिखा है। बनर्जी ने इनकी पहचान लेख के आधार पर उमा से की है।[४९]

प्रस्तुत लेख में हमने उन देवताओं को सम्मिलित नहीं किया है, जो नामों एवं लाक्षणिक विशेषताओं के आधार पर स्पष्टतः ईरानी और यूनानी देवता हैं। इन विदेशी देवी-देवताओं में कुछ ऐसे भी हैं जिन्हें कुछ लाक्षणिक विशेषताओं के आधार पर सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, वायु, इन्द्र, लक्ष्मी जैसे भारतीय देवी-देवताओं के समकक्ष रखा जा सकता है। पर चूंकि ये सभी देवता भिन्न नामों तथा विशेषताओं वाले हैं, अतः इनका स्वतन्त्र अध्ययन विदेशी देवताओं के रूप में किया जाना ही उचित होगा।

संदर्भ सूची

१. सरकार, डी० सी०, 'दि कुषाणज'—दि एज आफ इम्पीरियल यूनिटि, अध्याय ९, बम्बई, १९५३, पृ० १३६, गुप्ता, पी० एल०, 'क्वॉइन्स—इण्डिया दि लैण्ड एण्ड दि पिपुल, दिल्ली, १९६९, पृ० २७।

२. सरकार, डी० सी०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० १५३।
३. वही, पृ० १५३।
४. विस्तार के लिये द्रष्टव्य, स्मिथ, वी० ए०, कॉइन्स आफ एनशिएण्ट इण्डिया—केटलाग आफ दि काइन्स इन दि इण्डियन म्यूजियम—कलकत्ता, खण्ड (१), बनारस, १९७२ (पु० मु०), पृ० ६३-६५, ह्वाइटहेड, आर० बी०, केटलाग कॉइन्स इन दि पंजाब म्यूजियम, लाहौर, खण्ड १, 'इण्डो-ग्रीक कॉइन्स', बाराणसी, १९७१ (पु० मु०), पृ० १७१-१७७, कुमारस्वामी, ए० कै०, हिस्ट्री आफ इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट, दिल्ली, १९७२ (पु० मु०) पृ० ४९।
५. कुमारस्वामी, ए० के०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० ४९।
६. पुरी, बी० एन०, इण्डिया अण्डर दि कुषाणज, बम्बई, १९६५, पृ० ५९।
७. सरकार, डी० सी०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० १४७।
८. अग्रवाल, वी० एस०, भारतीय कला, वाराणसी, १९७७, (पु० मु०), पृ० २४३-७३।
९. वही, पृ २४७।
१०. गुप्ता, पी० एल०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० २८-२९।
११. अग्रवाल, वी० एस०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० २४६।
१२. सरकार, डी० सी०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० १४०।
१३. वही, पृ० १४७, पुरी, बी० एन०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० ५५, पुरी वासुदेव को विष्णु का भक्त मानते हैं जैसा कि उसके नाम से सार्थक है (पृ० ५९)।
१४. तिवारी, एम० एन० पी०, जैन प्रतिमाविज्ञान, वाराणसी, १९८१, पृ० १८।
१५. क्रिब, जे०, 'कनिष्क बुद्ध काइन्स—दि आफिशियल आइकोनोग्राफी आफ शाक्यमुनि एण्ड मैत्रेय'—जरनल आफ दि इण्टरनेशनल एसोसिएशन आफ बुद्धिस्ट स्टडीज, खण्ड ३, अंक २, यू० एस० ए० १९८० पृ० ७९।
१६. कुषाण काल के बाद भी किसी मुद्रा पर स्पष्टतः जैन धर्म के देवी-देवता या जैन प्रतीकों का अंकन नहीं हुआ है। द्रष्टव्य—तिवारी, एम० एन० पी० तथा सिंह, चन्द्रदेव, 'सम आब्जरवेशन्स आन जैन कॉइन्स', जर्नल न्यूमीस्मेटिक सोसाइटी आफ इण्डिया, ख० ४३, भाग १, वाराणसी १९८१, पृ० ८१-८७।
१७. अग्रवाल, वी० एस०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० २४४।
१८. ह्वाइटहेड, आर० बी०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० १८१ फलक १७, चित्र २९, ३०, स्मिथ, वी० ए०, 'न्यूमिस्मेटिक नोट्स एण्ड नोवलटीज' अंक २, जरनल आफ दि एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, १८९७।
१९. ह्वाइटहेड, आर० बी०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० १८२।
२०. ह्वाइटहेड की पुस्तक में प्रकाशित चित्र (फलक १७ चित्र २९) में विवरण स्पष्ट नहीं है।
२१. क्रिब, जे०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० ८३।

२२. क्रिब, जे०, पूर्व निर्दिष्ट, क्रिब ने अपने लेख में सिक्कों पर अंकित लेख को क्रमशः 'सकमनो बौडो' (Sakamano Boudo), ताँबे का सिक्का ब्रिटिश संग्रहालय, लन्दन, (स्थानक मुद्रा); पृ० ८६, और मैत्रेयो बौडो (Metrauo Boudo) ताँबे के सिक्के, ब्रिटिश संग्रहालय, लन्दन, (आसीन मुद्रा), पृ० ८७, ८८।

२३. अग्रवाल, वी० एस०, 'ए कॉइन आफ कनिष्क विद दि फिगर आफ दि बुद्ध' दि जरनल आफ दि न्यूनिसमेटिक सोसाइटी आफ इण्डिया', खण्ड ८, अंक १, जून १९४९, पृ० ६१-६२, फलक ३, चित्र २।

२४. क्रिब, जे०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० ८७-८८।

२५. अग्रवाल, वी० एस०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० २५९-६१, क्रिब, पूर्व निर्दिष्ट पृ० ८५।

२६. वाजपेयी, के० डी०, "ए न्यू बोड्डो टाइप गोल्ड कॉइन ऑफ कनिष्क" जरनल ऑफ दि न्यूमिसमैटिक सोसाइटी आफ इण्डिया, खण्ड, ४४, भाग, १–२, १९८२, पृ० ४२-४५।

२७. विस्तार के लिए द्रष्टव्य, शर्मा, सविता एवं तिवारी, मारुति नन्दन, 'शिव ऑन कुषाण कॉइन्स', जर्नल न्यूमिस्मेटिक सोसाइटी ऑव इण्डिया, ख० ४५, १९८३, पृ० १३४-४९।

२८. टार्न, डब्ल्यु, डब्ल्यु, दि ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया एण्ड इण्डिया, पृ० ४०२।

२९. बनर्जी, जे० एन०, दि डेवलपमेन्ट आफ हिन्दू आइकोनोग्राफी, कलकत्ता, १९५६, पृ० ११७।

३०. अग्रवाल, वी० एस०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० २६७-६९।

३१. बनर्जी, जे० एन०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० १२२; ह्वाइटहेड, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० १८३; स्मिथ, वी० ए०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० ६८।

३२. बनर्जी जे० एन०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० १२२, ह्वाइटहेड जलपात्र को मानव सिर बताते हैं जो बनर्जी को अस्वीकार्य है।

३३. बनर्जी, जे० एन०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० १२२।

३४. वही, पृ० १२२।

३५. वही, पृ० १२२ : हुविष्क की स्वर्ण मुद्राओं की एकमुख शिव मूर्ति के हाथों में भी लगभग यही सामग्री प्रदर्शित है।

३६. बनर्जी, जे० एन०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० १२३; गार्डनर, पी०, ब्रिटिश म्यूजियम केटलाग आफ कॉइन्स आफ दि ग्रीक एण्ड सीथिक किंग्स आफ बैक्ट्रिया एण्ड इण्डिया, लन्दन, १८८६, पृ० १४८, फलक, २८।

३७. बनर्जी, जे० एन०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० १२४।

३८. वही, पृ० १२७।

३९. कनिंघम, ए०, कॉइन्स आफ इण्डोसीथियनस एण्ड कुषाण, अंक ३, पृ० ७४, फलक २४, चित्र ९।

४०. ह्वाइटहेड, आर० वी०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० २०८, ,न्युमिसमेटिक क्रोनिकल', १९८२, फलक १४, चित्र ७, ८, ९ ।

४१. अग्रवाल, वी० एस०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० २७०-७१ ।

४२. बनर्जी, जे० एन०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० १४५-४६, पुरी०, वी० एन०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० ५७, डी० आर० भण्डारकर, स्कन्द, कुमार, विशाख और महासेन इन्हें चार अलग-अलग देवताओं का अंकन मानते हैं। (कारमाइकल लेक्चर्स, द्वितीय खण्ड, १९२१, पृ० २२-२३), आर० जी० भण्डारकर (कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड ४, पृ० २१५) के अनुसार महासेन और कुमार स्कन्द के ही दूसरे नाम हैं ।

४३. बनर्जी, जे० एन०, पूर्व निर्दिष्ट, १४४-४५, एलन, जे०, 'ए केटलाग आफ दि कॉइन्स इन दि ब्रिटिश म्यूजियम, आक्सफोर्ड, फलक २८, चित्र २२, २३; गार्डनर, पी०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० १३८ ।

४४. बनर्जी, जे० एन०, पूर्व निर्दिष्ट पृ० १४५-४६; एलन, जे०, पूर्व निर्निष्ट, फलक २८, चित्र २४ ।

४५. स्मिथ, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० ८१, फलक १३, चित्र ४; बनर्जी, जे० एन०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० १२५, एक अन्य उदाहरण में भी ऐसा ही अंकन प्राप्त हुआ है जो स्पष्ट नहीं है, (जर्नल आफ दि एशिएटिक सोसाइटी आफ बगाल, अंक १, पृ० ३, फलक १ चित्र ६ ।

४६. बनर्जी, जे० एन०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० १२५-२६ ।

४७. वही, पृ १२६-२७, रैप्सन, इ० जे०, जर्नल आफ दि रायल एशिएटिक सोसाइटी, १८९७, पृ० ३२४ ।

४८. कनिंघम, ए०, न्युमिसमेटिक क्रोनिकल, सीरीज ३, खण्ड १२, फलक १३, दि कॉइन्स आफ इण्डोसीथियनस् एण्ड कुषाणस, फलक २३, चित्र १ ।

४९. बनर्जी, जे० एन०, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० १३६ ।

भारत कला भवन, वाराणसी की शिव प्रतिमाएँ

आनन्द प्रकाश श्रीवास्तव*

ब्राह्मण धर्म के त्रिदेव (ब्रह्मा-विष्णु-शिव) की कल्पना अतिप्राचीन है। ब्राह्मण धर्म के इन तीन प्रमुख देवताओं को क्रमशः सृष्टि के तीन प्रमुख कार्यों—रचना-पालन और संहार से सम्बद्ध बताया गया है। त्रिदेवों में विष्णु और शिव, ब्रह्मा की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय थे। शिव को मुख्यतः सृष्टि के संहार कार्य से सम्बद्ध किया गया है, किन्तु कुछ शैव-पुराणों में शिव को संहार के साथ ही सृष्टि की रचना और पालन करने वाला भी बताया गया है। शिव को पशुपति, भूतनाथ, महेश्वर, विश्वनाथ, शंकर, कालारि, महादेव, त्रिपुरारि तथा अन्य अनेक नामों से संबोधित किया गया है। शिव को अनुग्रह एवं तिरोभाव कार्यों से सम्बद्ध किया गया है, जिससे उनके पंचकृत्यों का निर्माण होता है। परवर्ती ब्राह्मण ग्रन्थों में शिव को सृष्टि की रचना करने वाला तथा योग, व्याख्यान, संगीत नृत्य आदि से सम्बन्धित भी बताया गया है।[१]

शिव प्रतिमा का निर्माण शुंगकाल में प्रारंभ हुआ। भारतीय कला में शिव को तीन रूपों प्रतीक (शिव लिंग, त्रिशूल), वृषरूप (नंदी) और मानव[२] में अभिव्यक्त किया गया है। प्राचीन सिक्कों और मुहरों पर भी शिव का विभिन्न रूपों में चित्रण मिलता है। मोहन-जोदड़ों से प्राप्त एक मुहर पर अंकित पशुपति देव को शिव के पूर्वरूप का अंकन माना गया है। इसमें योगमुद्रा में विराजमान शिव सिंह एवं गज जैसे वन्य पशुओं से घिरे हैं।

विभिन्न कथानकों के आधार पर पुराणों में शिव के विविध अनुग्रह एवं संहार प्रतिमाओं की कल्पना की गई और तदनुरूप एलोरा, एलिफेण्टा, तंजोर, कांचीपुरम्, खजुराहो, भुवनेश्वर, ओसिया, जैसे अनेक स्थलों पर उनका मूर्तअंकन हुआ। संहारक रूप में शिव राक्षसों का विनाश करते हुये विकराल रूप में निरूपित होते हैं। ऐसे स्वरूप में गोल एवं रक्तिम आँखे, लंबी ऐंठी मूँछें, बाहर निकले दाँत, रौद्र मुख, एवं तृतीय नेत्र से युक्त शिव के करों में परशु, त्रिशूल, शूल, धनुष, बाण, खड्ग जैसे संहारक आयुध तथा नरमुन्डमाला प्रदर्शित होते हैं। सौम्य या अनुग्रह रूप में कल्याणकारक भाव प्रदर्शित होता है। इस स्वरूप में शिव सौम्य और शांत होते हैं।[३]

भारतकलाभवन, वाराणसी का मूर्तिसंग्रह शिवप्रतिमाओं की दृष्टि से पर्याप्त समृद्ध है। संग्रह में शिव के विविध स्वरूपों की मूर्तियाँ हैं जिनमें रावणानुग्रह अंधकासुर, गजासुर, भैरव, कल्याणसुन्दर, नटराज, उमासहित शिव, तथा शिवलिंग मुख्य हैं। ये मूर्तियाँ विभिन्न क्षेत्रों से प्राप्त हुई हैं। अब हम इन मूर्तियों का कुछ विस्तार के साथ स्वतंत्र अध्ययन करेंगे।

रावणानुग्रहमूर्तिः—(क्रमांक २३९८३)

शिव का यह सौम्य स्वरूप भारतीय शिल्प में अत्यंत प्रचलित था। इस सम्बन्ध में

---

* शोधछात्र, कला इतिहास विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।

शिवपुराण में एक कहानी वर्णित है कि एक बार शिव मानसरोवर के समीप अपने अन्तःपुर में पार्वती के साथ विश्राम कर रहे थे। उसी समय उनका अनन्य भक्त रावण उनसे मिलने आया और द्वारपालों द्वारा अन्दर जाने से रोके जाने पर आक्रोश में दम्भी रावण ने सम्पूर्ण कैलास पर्वत को ही अपने साथ ले जाने का निश्चय किया। कुछ सीमा तक वह पर्वत को हिला सकने में समर्थ भी रहा। पार्वती भय वश शिव के और समीप आ गईं। पर अन्तर्यामी शिव को समस्त बातों का ज्ञान हो गया और उन्होंने रावण के दर्प का नाशकरने के लिए अपने बाँए पैर का अँगूठा पृथ्वी पर लगा दिया, जिसके उपरान्त लाख चेष्टाओं के बावजूद रावण कैलास पर्वत को न उठा सका। इस प्रकार रावण का दर्प भंग हो गया और उसने निरन्तर एक हजार वर्षों तक शिव की आराधना कर उन्हें प्रसन्न किया और उनसे एक खड्ग प्राप्त किया। एक अन्य कथानक के अनुसार स्वयं शिव ने ही रावण को पर्वत हिलाने के लिए प्रेरित किया था। कारण अप्रसन्न पार्वती के मन में पर्वत हिलने से उत्पन्न भय का संचार करके शिव उन्हें अपने समीप लाना चाहते थे।

भारतकलाभवन, वाराणसी को रावणानुग्रह की मूर्ति दसवीं शती ई० की कृति है। उपर्युक्त प्रस्तर फलक में चतुर्भुज शिव के केवल तीन हाथ सुरक्षित हैं। एक दाहिने हाथ में नाग है तथा एक बाँया हाथ पार्वती के कन्धे पर स्थित है। एक हाथ से शिव कम्पायमान कैलास पर्वत की ओर पार्वती का ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं। पार्वती द्विभुज हैं। उनका एक हाथ शिव के मुड़े पैर पर स्थित है तथा एक हाथ गोद में बैठे बालक (कार्तिकेय) पर है। शिव और पार्वती के नीचे नन्दी वाहन अंकित है शिव के दाँए गणेश की आकृति बैठी है। समीप ही पद्म पर आसीन त्रिमुख ब्रह्मा का भी अंकन हुआ है शिव-पार्वती के बायीं ओर गरुड (मानव) पर आसीन विष्णु हैं। कैलास पर्वत के उत्तोलन का भाव पर्वत के नीचे द्विभुज रावण द्वारा पैर मोड़कर कैलास पर्वत उठाने के प्रयास द्वारा व्यक्त हुआ है। पार्श्वों में गणों तथा सहायक आकृतियों का अंकन हुआ है।

रावणानुग्रह मूर्तियों में शिव को सामान्यतया उमा सहित पर्वत पर आसीन व्यक्त किया गया है। समीप ही कुछ सेवकगण भी अंकित हैं। शिव अपने एक अंगूठे से पृथ्वी का स्पर्श करते हुए दिखाये गये हैं जो शिव द्वारा रावण के सम्पूर्ण प्रयास को सहजभाव से निष्फल करने का सांकेतिक अंकन है। उमा कैलाश पर्वत के हिलने से शिव की ओर आश्चर्य से देखती तथा भयवश उनकी ओर सिमटी दिखाई जाती हैं। पर्वत के नीचे रावण को कैलासोत्तोलन के कार्य में चेष्टारत दिखाया गया है। इस मूर्ति का सुन्दरतम उदाहरण एलोरा के कैलास मन्दिर में उत्कीर्ण है जिसमें संपूर्ण दृश्य प्रभावोत्पादक है। एक प्रतिमा (८वीं शती ई०) एलीफेण्टा की गुफा में भी है।

उत्तर भारत में भी कुछ मूर्तियाँ दर्शनीय हैं। कन्नौज से उपलब्ध मूर्ति प्रतिहार कला की सुन्दरतम कृति है।[४] बेलूर के चेन्नकेशवस्वामी मन्दिर की होयसलकाल की रावणानुग्रह मूर्ति में कैलास पर्वत के अंकन में बहुत से देवी-देवताओं एवं जीवों का भी अंकन हुआ है। पर्वत शिखर पर शिव-पार्वती को बैठे दिखाया गया है। पर्वत के नीचे रावण का अंकन है जो अपने दोनों घुटनों को मोड़े पर्वत को उठाने में प्रयासरत है। रावण के हाथ में खड्ग प्रदर्शित है।[५]

रावणानुग्रह स्वरूप की कुछ प्रमुख मूर्तियाँ खजुराहो, कन्नौज, कांचीपुरम् एवं भुवनेश्वर से मिली हैं। मध्यकाल में इन मूर्तियों का निर्माण लगभग सभी महत्वपूर्ण कलाकेन्द्रों पर हुआ है।

अंधकासुरवध मूर्ति (क्रमांक १७२)

शिव का यह संहारक स्वरूप भारतीय शिल्प में विशेष लोकप्रिय था। अन्धक नामक असुर का नाश करने की वजह से ऐसे स्वरूप की मूर्ति को अंधकासुरवध मूर्ति कहा गया। इस स्वरूप में शिव और अन्धक के बीच हुए युद्ध के कारण अन्धक के शरीर से निकलने वाले रक्त को चामुण्डा देवी कपालमात्र में एकत्र करती हैं क्योंकि पृथ्वीपर गिरनेवाली रक्त की प्रत्येक बूंद से असंख्य अन्धक तैयार हो जाते। कभी-कभी रक्त एकत्र करने का कार्य स्वयं शिव ही करते हैं।

अंधकासुर स्वरूप में शिव सामान्यतः अष्टभुज निरूपित होते हैं और उनका मुख्य आयुध त्रिशूल होता है, जिससे वे अंधकासुर पर प्रहार करते हुये प्रदर्शित किये जाते हैं। अन्य हाथों में युद्ध से सम्बन्धित आयुध प्रदर्शित होंगे तथा शिव अत्यन्त रौद्र रूप में युद्धरत दिखाये जायेंगे।[६] वाराणसी से प्राप्त एवं भारतकलाभवन, वाराणसी में सुरक्षित गहडवाल शैली की अंधकासुरवध मूर्ति लगभग ग्यारहवींशती ई० की कृति है। इस मूर्ति में रौद्ररूप शिव को त्रिशूल से अंधकासुर का संहार करते हुए दिखलाया गया है। दस हाथोंवाले शिव जटा-जूट, दाढ़ी-मूंछों से युक्त हैं। उनका मुख क्रोध में फूला है और जिसमें आँखें बाहर की ओर निकली हुई हैं। अंधकासुरवध के भाव को व्यक्त करने के लिये शिव की आकृति की सम्पूर्ण चेष्टाओं से क्रिया-शीलता का भाव व्यक्त है। शिव के सुरक्षित हाथों में से दो में गजचर्म दो में त्रिशूल (प्रहार की मुद्रा), तथा शेष में डमरू, ढाल (खेटक) और कपाल प्रदर्शित हैं। त्रिशूल से लटकी अंधकासुर की आकृति के नीचे चामुण्डा की आकृति बनी है जिसके एक हाथ में एक पात्र है जिसमें देवी अंधकासुर के शरीर से गिरने वाले रक्त को संचित कर रही हैं। शिव के पैरों के नीचे अन्य राक्षस आकृतियाँ भी अंकित हैं।

शिव का अंधकासुर स्वरूप उत्तर और दक्षिण भारत में समान रूप से लोकप्रिय था जिसको मूर्तियाँ लगभग ८वींशती ई० से ही प्राप्त होती है। सर्वाधिक महत्वपूर्ण उदाहरण एलोरा के दशावतार गुफा और कैलास मन्दिर में है। एलिफेण्टा की गुफाओं में भी एक मूर्ति है जिसमें शिव के दो रूपों (गजान्तक और अन्धकारि) को संयुक्त रूप से दर्शाया गया है। रौद्र स्वरूप वाले शिव की आँखें बड़ी-बड़ी और क्रोध से फैली हैं तथा उन्हें कपाल-माला और हाथों में विभिन्न आयुधों से युक्त दिखाया गया है। देवता के एक हाथ में खड्ग प्रदर्शित है और दूसरे में एक कपालपात्र है, जिसमें देवता अन्धक के शरीर से निकलने वाले रक्त को संचित कर रहे हैं। यह प्रतिमा अष्टभुज है जिसमें अधिकांश हाथ खण्डित हैं। उल्लेखनीय है कि उत्तर भारत की कुछ अन्य मूर्तियों में भी इन दोनों स्वरूपों (गजान्तक और अंधकारि) को संयुक्त रूप से दर्शाया गया है जिसे भारतकलाभवन, वाराणसी तथा सारनाथ संग्रहालय को ११वीं-१२वीं शती ई० की दो मूर्तियों में देखा जा सकता है। चंदेलस्थल खजुराहो और टीकमगढ़ से भी इस स्वरूप की मूर्तियाँ मिली हैं। सारनाथ को ११वीं-१२वीं शती ई० की विशाल किन्तु अपूर्ण मूर्ति में शिव को अत्यन्त क्रोध में त्रिशूल से अंधकासुर पर प्रहार करते हुए दिखलाया

गया है। दूसरी ओर अंधकासुर की आकृति बनी हुयी है। भारतकलाभवन, वाराणसी की ११वीं शती ई० की मूर्ति में सारनाथ संग्रहालय की अंधकासुरवध मूर्ति के समान ही रौद्र रूप शिव को त्रिशूल से अंधकासुर का संहार करते हुए दिखलाया गया है।

भैरव की मूर्ति—(क्रमांक २२१२३)

बिहार के किसी अज्ञात स्थान से प्राप्त भैरव की मूर्ति लगभग ११वीं शती ई० की कृति है। भयंकर दर्शनवाले भैरव के केवल दो हाथ सुरक्षित हैं जिनमें यज्ञोपवीत से युक्त भैरव उत्कीर्ण हैं। समीप ही उनका श्वानवाहन अंकित है।

बटुक भैरवमूर्ति—(क्रमांक २३९८५)

भैरव के एक विशेष स्वरूप बटुक भैरव की एक मूर्ति भी भारतकलाभवन, वाराणसी में सुरक्षित हैं। लगभग १३वीं शती ई० की मूर्ति दक्षिणभारत से प्राप्त हुई है। बटुक भैरव चतुर्भुज हैं और उनके दो दाहिने हाथों में डमरू तथा त्रिशूल तथा बाँए में पास तथा कपालपात्र हैं। समीप ही वाहन श्वान भी अंकित है। बटुक भैरव के सिर के ऊपर अग्नि ज्वालाओं को देखा जा सकता है। बटुक भैरव के शरीर पर सर्प है। मुख से बाहर निकले हुए दाँत देवता की भयंकरता में वृद्धि करते हैं। पैरों में खड़ाऊँ भी प्रदर्शित है।

भैरव प्रतिमा शिव के घोर भाव को व्यक्त करती हैं। इस रूप में निर्वस्त्र शिव भूत प्रेतों के निवास स्थान श्मशान भूमि में निवास करते हैं। ८ भैरव ग्रीवा में कपालों की माला, लम्बोदर, गोल और नशीले नेत्रों तथा नुकीले दाँत वाले सर्पों से अलंकृत तथा श्वान वाहन वाले होते हैं।

इस स्वरूप की अनेक मूर्तियाँ खजुराहो, भुवनेश्वर, ओसिया, कश्मीर, (मार्तण्ड मन्दिर), अयहोल, दारासुरम (ऐरावतेश्वर मन्दिर) से प्राप्त हुई हैं, जिनमें प्रकट होता है कि यह स्वरूप शिल्प में विशेष लोकप्रिय था। उत्तर भारत में यह स्वरूप दक्षिण भारत की तुलना में अधिक प्रचलित था। तांत्रिक प्रभाव से युक्त भैरव स्वरूप के विकास की परिणति ६४ भैरवों की कल्पना में देखी जा सकती है जो ६४ योगिनियों की कल्पना से सम्बन्धित है।

नटराजमूर्ति—(क्रमांक २००८२)

भारतकलाभवन, वाराणसी में दक्षिण से प्राप्त १४वीं शती ई० की एक नटराज कांस्य-प्रतिमा सुरक्षित है यह प्रतिमा उत्तरचोलकाल की है। चतुर्भुज नटराज शिव कमलासन पर नृत्य-मुद्रा में खड़े हैं। शिवमूर्ति के चारों ओर प्रभामण्डल है जिससे अग्निशिखाएँ निकल रही हैं। नृत्यरत नटराज के अंग-प्रत्यंग से गति स्फूर्ति का भाव व्यक्त है। प्रसन्न मुखमण्डल ताल पर समदेता जान पड़ता है। नटराज की जटाएँ लहरा रही हैं। उनके नाग, आभूषण भी लहरा रहे हैं। बांया पैर नृत्य की गति में ऊपर उठा हुआ है एवं दाहिना मूर्तिमान तन से गल को कुचल रहा है। दाहिने हाथों में डमरू एवं अग्निशिखाएँ प्रदर्शित हैं एक वामहस्त अभयमुद्रा में है दूसरे से नृत्य की मुद्रा व्यक्त है।

चोलधातुमूर्तिकला का चरम विकास नटराज मूर्तियों की रचना में हुआ है। ज्ञान कला और दर्शन का इन मूर्तियों में संगम उपस्थित हुआ है। सामान्यतया नटराज की धातुमूर्तियाँ या तो प्रभावली सहित या बिना प्रभावली के हैं। प्रभावली पर पाँच स्फुलिङ्गों को अनेक ज्वाल-

मालाएँ बनी हैं। शिव का दाहिना पैर अपस्मार पुरुष पर स्थित है जो अज्ञानता और अन्धकार का सूचक हैं। सभी में शिव चतुर्भुज तथा नृत्य की मुद्रा में प्रदर्शित हैं। चोलकाल में सर्वाधिक नटराज मूर्तियाँ बनीं। ये मूर्तियाँ धातु निर्मित थीं। मद्रास संग्रहालय में ऐसी अनेक मूर्तियाँ हैं। सर्वश्रेष्ठ उदाहरण तंजौर के वृहदीश्वर मन्दिर में हैं।

कल्याण सुन्दर मूर्ति (क्रमांक १७५)

प्रतिहारकाल की लगभग ११वीं शती ई० की मनोज्ञ कल्याण सुन्दर मूर्ति भारतकला-भवन, वाराणसी में है। एटा से प्राप्त इस मूर्ति में शिव-पार्वती के विवाह का सुन्दर अंकन है। शिव-पार्वती पाणिग्रहण की मुद्रा में आमने सामने खड़े हैं। पार्वती शिव के दाहिने और खड़ी हैं तथा नववधू के अनुरूप ही वस्त्राभूषणों से सज्जित हैं। विवाह की धार्मिक औपचारिकता पूरी न हो पाने के कारण पार्वती अभी वामांगी नहीं हुई हैं। इसी कारण उन्हें कल्याणसुन्दर मूर्तियों में सर्वदा दाहिने पार्श्व में निरूपित किया गया है। पार्वती के दोनों हाथ खण्डित हैं और मुख पर नववधू के संकोच का भाव व्यक्त है। शिव चतुर्भुज हैं पर तीन हाथ सम्प्रति खण्डित हैं। एक सुरक्षित बायाँ हाथ कमर पर स्थित है। जटामुकुट हार, यज्ञोपवीत, मेखला, वनमाला, सर्पवलय से शोभित शिव मनमोहक मुद्रा में पार्वती को निहार रहे है। शिव के चरणों के समीप एक बालक का सुन्दर अंकन हुआ है। शिव पार्वती के मध्य पुरोहित के रूप में त्रिमुख ब्रह्मा को स्रुक द्वारा अग्नि के मुख में हवन की सामग्री डालते हुए दिखलाया गया है। शिव-पार्वती के पार्श्वों में उनके पुत्रों गणेश और कार्तिकेय, अष्टमातृकाओं, नवग्रहों तथा विवाहोत्सव पर आनन्द मनाती हुई आकृतियों का अंकन हुआ है। मूर्ति के ऊपरी भाग में नंदी पर सवार होकर शिव-पार्वती को कैलास पर्वत की ओर जाते हुए दिखाया गया है। सम्पूर्ण अंकन शिव पार्वती के विवाह का जीवन्त कथा चित्र प्रस्तुत करता है और साथ ही विवाह के उल्लासपूर्ण वातावरण को साक्षात व्यक्त करता है।[९]

शिल्प में अन्यत्र भी कल्याण सुन्दर मूर्तियों का अंकन विशेष लोकप्रिय रहा है जिसके कुछ विशिष्ट उदाहरण एलोरा, एलिफेण्टा, खजुराहो, भुवनेश्वर, कांचीपुरम् से प्राप्त होते हैं।[१०]

शिव-पार्वती मूर्ति

भारतकलाभवन, वाराणसी में शिव-पार्वती की चार मूर्तियाँ हैं।

(क्रमांक १३२) पहली मूर्ति लगभग ८वीं शती ई० की जान पड़ती है। इस शिला-फलक पर शिव-पार्वती भावपूर्ण मुद्रा में खड़े हैं। पार्वती शिव के वाम पार्श्व में भाव विभोर मुद्रा में स्थित हैं। शिव चतुर्भुज तथा पार्वती द्विभुज हैं। शिव के दाहिने हाथों में त्रिशूल है तथा अन्य सभी हाथ पार्वती का आलिंगन करते व्यक्त हैं। पृष्ठ भाग में नन्दी आकृति है। साथ ही गणेश का भी अंकन हुआ है। शिव जटा-जूट एवं अलंकरणों से सुशोभित हैं। पार्वती को केशराशि ऊँचे जूड़े के रूप में है। पार्वती कर्णकुण्डल, कण्ठहार, कंकण, मेखला आदि से युक्त हैं। पार्वती दाहिने हाथ से शिव का आलिंगन कर रही हैं और बाँया हाथ कमर पर स्थित है। शिव-पार्वती दोनों ही सुडौल अवयवों से युक्त हैं।

वाराणसी से प्राप्त दूसरी प्रतिमा (क्रमांक १७३) चन्देलकाल की है। ललित मुद्रा में विराजमान शिव-चतुर्भुज हैं। हाथ खण्डित हैं किन्तु एक हाथ पार्वती के कंधे पर है। पार्वती द्विभुज हैं। पार्वती का एक हाथ शिव के ललितासन में मुड़े पैर पर स्थित हैं। शिव-पार्वती के समीप नन्दी एवं सिंह वाहनों का अंकन हुआ है।

दक्षिण भारत से प्राप्त तीसरी मूर्ति (क्रमांक २१४६४) १२वीं शती ई० की है। यह शिव-पार्वती की अर्द्धभग्नप्रतिमा है। जिसमें वृक्ष के नीचे का भाग खण्डित है। मूर्ति अत्यधिक आकर्षक एवं अलंकृत है। शिव का एक हाथ पार्वती के कंधों पर रखा है।

चौथी मूर्ति (क्रमांक १४१) अत्यन्त आकर्षक है। इस स्थानक मूर्ति में जटामुकुट से शोभित शिव चतुर्भुज हैं। शिव के एक दाहिने हाथ में त्रिशूल है तथा एक हाथ कमर पर स्थित है। एक बाँयें हाथ में सर्प है तथा दूसरे से पार्वती का आलिगन कर रहे हैं। द्विभुज पार्वती के दाहिने हाथ में दर्पण है तथा बाँये हाथ से शिव का आलिगन कर रही हैं। इस मूर्ति में पार्वती को शरीर रचना विशेषतः पयोधर और लोच अत्यन्त आकर्षक हैं। पार्वती दाहिने हाथ से शिव का आलिंगन कर रहीं हैं और बाँया हाथ कमर पर स्थित है।

मध्ययुग में उत्तर तथा दक्षिण भारत में विभिन्न स्थलों से अनेक मूर्तियाँ मिली हैं। इन सभी में सामान्यतः शिव-पार्वती को आलिंगन मुद्रा में दर्शाया गया है।

शिवलिंग मूर्ति

भारतकलाभवन, वाराणसी में लिंगस्वरूप के तीन उदाहरण हैं। तीसरी शती ई० की मथुरा से प्राप्त एक मूर्ति (क्रमांक २२७५५) में चतुर्मुखी शिवलिंग का सुन्दर उदाहरण है। लगभग छठी शती ई० की दूसरी मूर्ति (क्रमांक २२३) में किसी भक्त के मस्तक पर शिवलिंग का अंकन हुआ है। यह मूर्ति भंग है। किन्तु खण्डित मस्तक वाली आकृति अपने दो हाथों से शिवलिंग को उठाये हुए है। इस मूर्ति को भारशिव नाम भी दिया जा सकता है। तीसरी मूर्ति (क्रमांक १५४) शिव के ज्योतिर्लिंग का अंकन है। एटा से प्राप्त यह उदाहरण नवीं-दसवीं शती ई० का है। इस मूर्ति में शिव के लिंग से प्रकट होने तथा पार्श्वों में सहायक देवताओं को उपासनारत दिखलाया गया है। लिंग के दोनों ओर से अग्निशिखाओं को निकलते हुए दिखाया गया है। शिव का यह स्वरूप उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण भारत में अधिक लोकप्रिय रहा।

शिव के कुछ अन्य स्वरूपों की खण्डित प्रतिमा भी भारतकलाभवन वाराणसी में है जिनमें गजासुरसंहार (क्रमांक २१६) महत्वपूर्ण है।

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि भारतकलाभवन, वाराणसी में विभिन्न क्षेत्रों से प्राप्त मूर्तियां सुरक्षित हैं। इन मूर्तियों में मुख्य आयुधों वाहनों एवम् अन्य लक्षणों के सन्दर्भ में सामान्य परम्परा का पालन किया गया है। शिव के अतिरिक्त ब्राह्मण धर्म के अन्य देवताओं तथा बौद्ध एवं जैन मूर्तियों की दृष्टि से भारतकलाभवन, वाराणसी का संग्रह पर्याप्त समृद्ध है और इस पर एक स्वतन्त्र एवम् विस्तृत अध्ययन अपेक्षित है।

पादटिप्पणी

१. जितेन्द्र नाथ बनर्जी, डेवलपमेण्ट आफ हिन्दू आइकोनोग्राफी, कलकत्ता, १९५६, पृ० ४४६।

२. ज्ञातव्य है कि शैव धर्म भारत से सुदूर दक्षिण पूर्व एशिया के देशों में भी लोकप्रिय था।
३. वासुदेव उपाध्याय, **प्राचीन भारतीय मूर्तिविज्ञान**, वाराणसी, १९७०, पृ० ११७।
४. नथूनी मिश्र आत्मानन्द, भारतीय शिल्प में शिव, आज, (सायं समाचार साप्ताहिक विशेषांक), १७ फरवरी १९७४, पृ० १२।
५. गोपीनाथ राव, **एलीमेण्ट्स आफ हिन्दू आइकोनोग्राफी**, खण्ड १, भाग १, मद्रास, १९१४, पृ० २१८-१९।
६. शिव प्रतिमाशास्त्रीय विवेचन, आज, (साप्ताहिक विशेषांक) १३ फरवरी १९७७ ई० पृ० १।
७. हीरानन्द शास्त्री, **ए गाइड टू एलिफेण्टा**, दिल्ली, १९७८ पृ० २३-२४।
८. शिव प्रतिमाशास्त्रीय विवेचन, आज, (साप्ताहिक विशेषांक), १३ फरवरी १९७७ ई० पृ० १।
९. अंशुमद्भेदागम्

कल्याणसुन्दर—

अथ वक्ष्ये विशेषेण कल्याण सुन्दरं ततः।
सुस्थितं वामपाद तु दक्षिणं कुंचितं भवेत॥
दक्षिणं पूर्व हस्तं तु गौरी दक्षिण हस्त धृत।
वरदं वामहस्तम् तु परहस्तद्वयोस्ततः।
दक्षिणे परशुं वामे धृतं कृष्णमृगं परम्।
जटामुकुट संयुक्तं सर्वाभरण भूषितम्॥
देहं प्रवालवर्णभं देवेशस्य विशेषतः।
सव्ये श्यामनि भा देवी प्राग्वन्मानादिसंयुता॥
उत्पलं वामहस्ते तुघृतं दक्षिणहस्तकम।
शम्भोर्हस्तेन संग्राहं लजजालम्बाननान्विता॥ अष्टषष्टपटल॥

१०. जितेन्द्रनाथ बनर्जी, **पूर्वनिर्दिष्ट**, पृ० ४८५।

दक्षिणी उत्तर प्रदेश की महाश्म संस्कृति

सुनील कुमार*

"महाश्म" अर्थात् "बड़े पत्थरों" से निर्मित, मूलतः अन्त्येष्टी स्मारकों के रूप में अभिहीत की जाने वाली इस संस्कृति का अस्तित्व भारतीय उपमहाद्वीप के सन्दर्भ में यद्यपि सैंकड़ों वर्ष प्राचीन हो चला है और दक्षिण भारत में लौह एवं काले तथा लाल मृदभाडों की प्रयोगकर्ता संस्कृति के रूपमें इसकी प्रतिष्ठा हो चुकी है, जहाँ यह संस्कृति लगभग १००० ई०पू० से लेकर ई० सन् की प्रारम्भिक कुछ शताब्दियों तक व्याप्त रही। फिर भी उत्तर-भारत और विशेषकर उत्तर प्रदेश में इससे सम्बद्ध अध्ययन अभी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही है। जिसका सूत्रपात सर्वप्रथम लिमेसूरीयर[१] ने १८६७ में चुनार (मिर्जापुर) के "बानमिलिया बहेरा" नामक स्थान पर कुछ एक महाश्मिय-स्मारकों के उत्खनन द्वारा किया है। यद्यपि कालान्तर में कार्लाइल, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय एवं प्रयाग विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभागों द्वारा समय-समय पर इस संस्कृति से सम्बद्ध तथ्यों का प्रकाशन किया जाता रहा, मगर दक्षिण भारतीय महाश्म संस्कृतियों के समान इस क्षेत्र की महाश्म संस्कृतियों का वैज्ञानिक तौर पर अध्ययन अभी तक नहीं हो सका है।

अब तक किये गये अध्ययनों से यह स्पष्ट तौर पर निर्दशित होता है कि उत्तर प्रदेश में इसकी व्याप्ती इलाहाबाद, मिर्जापुर, बनारस एवं बांदा जिलों के दक्षिणवर्ती क्षेत्रों में ही रही है। यद्यपि "खेरा" (फतेहपुर सीकरी) "देव घोरा[२] (अल्मोड़ा) एवं कुतुब-क्षेत्र[३] (दिल्ली) जैसे स्थलों पर भी इनकी विद्यमानता स्पष्ट होती है। दक्षिणी उत्तर प्रदेश में जहाँ इस संस्कृति का व्यायक प्रसार देखने को मिलता है, इस संस्कृति से सम्बद्ध स्मारक-अवशेष लगभग समान परन्तु एक विशिष्ट प्रकार की प्राकृतिक दशा में अवश्यंभावी तौर पर प्राप्त होते हैं।

दक्षिणी उत्तर प्रदेश में इस संस्कृति से सम्बद्ध जानकारी का मूल आधार कतिपय स्थलों यथा—इलाहाबाद जिले में "कोटिया"[४] एवं "देवघाट"[५] मिर्जापुर जिले में "बानमिलिया बहेरा"[६] वाराणसी जिले में काकोरिया एवं बांदा जिले में "बरादरी" एवं अश्मैका[७] पर किये गये उत्खवनों से प्राप्त सीमित सामग्री ही है। जैसाकि इन साक्ष्यों से स्पष्ट होता है दक्षिणी उत्तर प्रदेश की महाश्म-संस्कृतियां दक्षिण भारतीय महाश्म संस्कृतियों से भिन्नभिन्न अपनी विशिष्ट विर्माण शैली एवं उससे सर्वथा पृथक् मृदमण्ड-परम्परा रखती है। परन्तु द० भारतीय संस्कृतियों के समान ही इस क्षेत्र में भी यह संस्कृति क्षेत्रीय विभिन्नता का भाव प्रदर्शित करती है। दक्षिणी उत्तर प्रदेश में इस संस्कृति से सम्बद्ध स्मारकों के दो मुख्य प्रकार स्पष्ट होते हैं। प्रथमतः कैर्न वा प्रस्तर-संग्रह-वृत्त एवं द्वितीयतः सिस्ट वा शवकोष्ट जो किन्हीं अवसरों पर प्रस्तर-संग्रह से ढके प्राप्त होते हैं। मिर्जापुर जिले में[८] खजुरी बाँध के समीप बर्जी, करनपुर, देवपुर लालपुरवा, तथा बांदा[९] जिले में झूरी (बांदा सतना सीमापर) पहाड़ा,

---

* प्रा० भा० इति० सं० एवं पुरातत्व विभाग, का०हि०वि०वि०

लालपुर, अश्मैका, एवं बगबरी इत्यादि स्थलों से मात्र प्रस्तर-संग्रह प्रकार ही प्राप्त हुए हैं जबकि बानमिलिया-बहेरा, अर्जुनपुर, लोरिया, जरहा, लखीमपुर, चीतमपुर, लक्ष्मणपुर रामगढ़ इत्यादि स्थलों से मिर्जापुर जिले[10] में कोटिया, मन्डो, देवघाट, खजुरीखमांझीगाँव, लोनमती, कपसी-ककलान, कुन्डीडीह, कोन्डी, देया, बसहा-हर्दवान इत्यादि स्थलों से इलाहाबाद[11] जिले में मुख्यतः शवकोष्ठ वा प्रस्तर-संग्रह से ढके शवकोष्ठ ही प्राप्त होते हैं। स्पष्टतः जहाँ वाराणसी जिले में प्रस्तर-संग्रह वृत्त प्रकार बहुतायत से विद्यमान है वहीं इलाहाबाद एवं मिर्जापुर जिले के कुछ हिस्सों में शवकोष्ठों की प्रधानता स्पष्ट होती है। जबकि बांदा जिले में मात्र प्रस्तर-संग्रह वृत प्रकार ही प्राप्त होते हैं।

निर्माण-प्रक्रिया

उत्खनित साक्ष्यों से जहाँ इन महाश्मीय स्मारकों का स्वरूप निश्चय तौर पर अन्त्येष्टी-क्रिया से सम्बद्ध प्रमाणित होता है वहीं अभिन्न तौर पर लगभग समस्त स्थलों पर इनके द्वितीयक समाधी होने का तथ्य भी स्पष्ट होता है।

केर्नस् वा प्रस्तर-संग्रह

सामान्यतः लगभग सभी जिलों में इनके निर्माणार्थ सर्वप्रथम एक आयताकार या गोलाकार गड्ढा एक या दो मीटर की औसत गहराई तक खोदा गया जिसमें कुछ अस्थियाँ, कभी-कभी अस्थि-अवशेष स्वरूप मात्र राख तथा अन्य कब्र सामग्री के रूप में मृदभांड, मनके वा अन्य आभूषण तथा ताम्र या लोह उपकरण इत्यादि रखे गये। तत्पश्चात् गड्ढे को खोदी गई मिट्टी से ही ढँक कर उसके ऊपर विविध आकार के, स्थानीय तौर पर उपलब्ध अनगढ़े पत्थर वा प्रस्तर-संग्रह व्यवस्थित किये गये। कभी-कभी दूरस्थ स्थानों से लाये गये पत्थरों का भी उपयोग किया गया। इन व्यवस्थित प्रस्तर-संग्रहों की औसत ऊँचाई ०.५० से. मी. से लेकर १.५० मी. तक निर्देशित होती है। लगभग सभी स्थलों पर प्रस्तर-संग्रहों के निर्माण की यही प्रणाली अपनाई गई प्रतीत होती है। विविधता मात्र कब्र सामग्रियों यथा-मनको; अन्य आभूषणों, क्षुद्राश्म एवं ताम्र तथा लोह उपकरणों के प्रयोग में लक्षित होती है।

२. शवकोष्ठ वा प्रस्तर-संग्रह से ढके शवकोष्ठ

शवकोष्ठों के निर्माण के लिए सामान्यतः छोटे-चपटे पत्थरों को चार तरफ एक दीवार के रूप में व्यवस्थित कर एक लम्बवत कक्ष का रूप दिया गया है तदनन्तर उसे एक विशाल पत्थरके पटिये से ढँक दिया गया। अधिकांशतः इन कक्षों का निर्माण जमीन के ऊपर तक किया गया है। कई अवसरों पर इनका निर्माण पाँच बड़े एकल पटियों की सहायता से जमीन के ऊपर भी किया गया है। कई स्थानों पर ये शवकोष्ठ विविध आकार के प्रस्तर संग्रहों से ढके हुए भी प्राप्त होते हैं। प्रस्तर-संग्रह प्रकार के स्मारकों के ही समान इन कक्षिय शवाधानों से भी कब्र-सामग्री के रूप में प्रयुक्त ताम्र एवं लोह उपकरण मनके तथा अन्य आभूषण और अस्थि अवशेष स्वरूप कुछ अस्थियाँ वा राख प्राप्त होते हैं।

कब्र-सामग्री

जैसाकि उत्खनित साक्ष्यों से स्पष्ट होता है विविध स्थानोंपर विविध प्रकारकी सामग्रियों का कब्र-सामग्री के रूप में प्रयोग हुआ है। कतिपय अवसरों पर इन स्मारकों से मात्र कुछ-एक

अस्थियाँ वा मात्र राख की ही उपलब्धि होती है। कब्र-सामग्री के रूप में उत्सर्जित होने वाली निम्न सामग्रियाँ उल्लेखनीय हैं।

मृदभाँड—

इलाहाबाद, मिर्जापुर, वाराणसी एवं बाँदा जिले के महाश्मीय स्मारकों से प्राप्त होने वाला मृदभाँड उद्योग विस्तृत समानता रखते हैं। यद्यपि कृष्ण लेपित एवं कृष्ण-लोपित एवं लोहितमृदभाँड प्रकार अविछिन्न तौर पर लगभग सभी स्थलों से प्राप्त होते हैं। फिर भी उनकी प्रतिशतता में व्यापक अन्तर दृष्टिगत होता है, जो विशिष्ट महत्व रखता है। इलाहाबाद की यह संस्कृति कृष्ण-लोहित एवं लोहित मृदभाँडों के साथ कृष्ण लोपित मृदभाँडों के स्थान पर कृष्ण वा धूसर मृदभाँड प्रकार उत्सर्जित करती है। जबकि मिर्जापुर एवं बाँदा जिले में कृष्ण-लोपित मृदभाँडों की तुलना में लोहित मृदभाँडों की प्रधानता स्पष्टतः निर्देशित होती है। लगभग सभी स्थानों से प्रधान मृदभाँड प्रकार के रूप में कटोरे तश्तरियाँ, एवं ढकने प्राप्त होते हैं। अन्य आकार, गोलाकार घड़े, अन्न भण्डारण के लिए प्रयुक्त घड़े, नौतलिय क्षिद्रित पात्र के हैं। बाँदा एवं मिर्जापुर जिले से प्राप्त कतिपय लोहित-मृदभाँड खुदी हुई या प्रतिरोपित डिज़ाइनों से युक्त है। जबकि कृष्ण एवं लोहित तथा कृष्ण लेपित मृदभाँडों पर किसी भी प्रकार की डिज़ाइनें वा सजावट नहीं प्राप्त होती।

क्षुद्राश्म—

बाँदा एवं वाराणसी जिले में जहाँ कतिपय स्थलों पर क्षुद्राश्म बिखरे हुए प्राप्त होते हैं वहीं मिर्जापुर जिले में ये उत्खनित महाश्मों से उत्सर्जित होते हैं। सामान्यतः चर्ट, अगेट, चैल्सिडोनी आदि पत्थरों पर बने इन क्षुद्राश्मों के निम्न प्रकार प्राप्त होते हैं। अर्द्धचन्द्रिका, त्रिकोणास्त्र, फलक, कोर, ब्लेड इत्यादि। इनके निर्माण में जहाँ मिर्जापुर क्षेत्र में प्रेशर-तकनीकी का प्रयोग दिखलाई देता है वहीं वाराणसी क्षेत्र से प्राप्त क्षुद्राश्म अपने निर्माण में क्रिस्टेड रीज-तकनीकी के प्रयोग का तथ्य उद्घाटित करते हैं।

लौह एवं ताम्र उपकरण—

ज्यादातर मात्र इलाहाबाद क्षेत्र, यथा-कोटीया से लौह-उपकरण प्राप्त होते हैं। जिनमें हसुंआ, तक्षणी, बाणास्त्र चाकू तथा (डैगर) इत्यादि प्रधान हैं। बाँदा में मात्र चाकू एवं कील प्राप्त हुआ है। मगर साथ ही काफी मात्रों में लौह-मल भी प्राप्त हुए हैं मिर्जापुर एवं बनारस के कई महाश्म स्थलों पर लौह-उपकरणों का न पाया जाना पर ताम्र उपकरणों की उपलब्धता स्पष्टतः उन्हें विशिष्ट महत्व प्रदान करता है।

अन्य सामग्रियाँ

वाराणसी क्षेत्र में काकोरिया के उत्खनितशवाधानों से सोने की चूड़िया एवं मिट्टी के बने मनके भी प्राप्त हुए हैं। अश्मैका, बगदरी एवं नीही इत्यादि स्थलों से बाँदा जिले में तथा मिर्जापुर क्षेत्र में दैया से नीचे काँच की चूड़िया प्राप्त हुयी हैं। अश्मैका में एक प्रस्तर-संग्रह के उत्खनन के दौरान लगभग २०-३० से० मी० की गहराई पर विठे चपटे पत्थरों के नीचे, बेडरॉक में खुदे हुए एक गोलाकार गड्ढे से कसोरे जैसे पात्र में राख एवं गहरे नीले रंग की काँच की चूड़ियाँ रखी हुई मिलीं तथा उससे कुछ ही दूरी पर दूसरे गड्ढे में मात्र राख की

प्राप्ति हुई। सम्भवतः यहाँ एक ही प्रस्तर-संग्रह के अन्दर स्त्री एवं पुरुष दोनों के ही अस्थि-अवशेष दफनाये गये थे।

इस प्रकार अब तक किये गये सर्वेक्षण उत्खनन से उपलब्ध साक्ष्याधारों के आधार पर कतिपय तथ्य स्पष्ट तौर पर निष्कर्षित किये जा सकते हैं। प्रथमतः यह कि उत्तर प्रदेश की महाश्मीय संस्कृति के लोगों ने पहाड़ी क्षेत्रों में ही निवास किया। सम्भवतः या तो वे तत्कालीन आर्य समाज से विस्थापित द्रविण संस्कृति के पोषक थे अथवा आर्थिक दृष्टि से पिछड़ी जनजातियों के रूप में रहने वाले लोग यथा-कोल इत्यादि ही इस परम्परा के वहनकर्ता थे। जैसा कि बाँदा क्षेत्र में एवं छोटा-नागपुर क्षेत्र में कोलों के मध्य इस परम्परा की सुदीर्घकालिक विद्यमानता से स्पष्ट होती है।

मध्यप्रदेश में रीवाँ, बाँदा-सतना सीमा क्षेत्र[१२] मदन-महल पहाड़ी के चतुर्दिक, भेड़ाघाट के पहाड़ी क्षेत्रों में, पचमरही एवं पीपरिया, पचमरही एवं बड़ा महादेव तथा चउरा के मध्य के इलाकों[१३] में विद्यमान इस संस्कृति से सम्बद्ध स्मारक अवशेषों का स्वरूप अरावली के पहाड़ी क्षेत्रों के महाश्मीय स्थल यथा–मतमस (जयपुर) देवसा (फतेहपुर सीकरी) एवं खेरा (आगरा) तथा में मेहरौली के समीपवर्ती पहाड़ी क्षेत्र में विद्यमान समदृश प्रस्तर-संग्रह तदनन्तर बलूचिस्तान एवं सिन्ध-क्षेत्र में गत्ती, टेकदप, जीवनरी, नसीराबाद, फैजघाटी तथा जाजियन से उत्सर्जित लगभग समान प्रस्तर संग्रह प्रकार,[१४] इस संस्कृति के विस्तार एवं प्रसार के संदर्भ में काफी रोचक तथ्य उपस्थित करते हैं। इसी संदर्भ में हाल ही में विदर्भ[१५] (महाराष्ट्र) क्षेत्र में किये गये उत्खननों का भी विशेष महत्व निरूपित होता हैं जहाँ इनका तिथ्याङ्कन लगभग ७०० ई० पू० से ३०० ई० किया गया है तथा इन्हें सिथियनों से सम्बद्ध किया गया है।

निःसन्देह इन क्षेत्रों में व्यापक उत्खनन कार्यों के अभाव में, इन क्षेत्रों की महाश्म संस्कृतियों के विवेचन का आधार इससे सम्बद्ध स्मारकीय अवशेषों के बाह्यान्तरित स्वरूप एवं कतिपय एकत्रित साक्ष्य ही हो सकते हैं। तदनुसार जैसा कि स्पष्ट पता चलता है—दक्षिणी उत्तर प्रदेश की इस संस्कृति के स्मारक स्थापत्य की दृष्टि से दक्षिण भारतीय महाश्म संस्कृति के स्मारकों से पूर्णतः भिन्न, अरावली तथा बलूचिस्तान क्षेत्रों की महाश्म संस्कृति से समानता का भाव प्रदर्शित करते हैं। साथ ही यह संस्कृति उत्तर प्रदेश के क्षेत्र में ही स्थानीय विभिन्नता भी रखती है सम्भवतः उसके कालक्रमिक अंतराल का परिचायक है। मध्य प्रदेश के क्षेत्र में जहाँ दक्षिण भारतीय महाश्मीय स्थापत्य प्रकार विद्यमान है वहीं उत्तर प्रदेश की इस संस्कृति के स्थापत्य प्रकार भी प्राप्त हुये हैं जबकि महाराष्ट्र (विदर्भ) में इस संस्कृति के स्मारक-अवशेषों से कतिपय वैयक्तिक विशिष्टताएँ उत्सर्जित होती हैं। वस्तुतः इस परम्परा के प्रसार एवं इनके निवर्हनकर्ताओं की स्थिति की स्पष्टता के लिये आवश्यक है कि मध्यप्रदेश के क्षेत्र में इस संस्कृति के स्वरूप का विस्तृत अध्ययन किया जाय जो अभी तक मात्र छिट-पुट सर्वेक्षणों तक ही सीमित रहा है। यूं मध्यप्रदेश एवं उत्तरप्रदेश में अब तक प्राप्त इस संस्कृति के लगभग समस्त महाश्म-स्थल लगभग समान प्राकृतिक दशाओं में प्राप्त होते हैं जो इस संस्कृति के संवहनकर्ताओं की पहाड़ी जनजातीयता की द्योतक है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. लिमेसूरियर, एच० पी०, १८६७ : प्रोसीडींग्स एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल,

२. कार्लाइल, ए०सी०एल०, १८७८ : "रिपोर्ट आन ए टूर इन ईस्ट राजपूताना इन १८७१–७२ एण्ड १८७२–७३" रिपोर्ट आर्कि० सर्वे० इण्डिया–६, पृष्ठ १३।

३. कनिंघम अलेक्ज़ेन्डर, १८७१ : "इन्ट्रोडक्शन", रिपोर्ट आर्कि० सर्वे इण्डिया अंक–१, पृष्ठ ३०–३१।

४. इण्डि० आर्कि०–ए, रिव्यू, : १९६३–६४ पृ० ४०–४१।

५. ,, ,, ,, ,, : १९७१–७२ पृ० ७५–७६, १९७३–७४ पृ० २६-२७, १९६९-७० पृ० ३८, १९७५-७६ पृ० २५-२६

६. ,, ,, ,, ,, : १९६२-६३ पृ० ३१-३२, ३९।

७. ,, ,, ,, ,, : १९८१–८२ पृ० ४०।

८. मिश्रा, पी० डी०, : १९७२–७३ : "द मेगलिथिक् मानुमेन्ट्स आफ मिर्जापुर डिस्ट्रीक्ट जे० ओ० आई० अंक २२ पृ० ५८–६३।

९. इण्डि० आर्कि०–ए० रिव्यू : १९७५–७६ पृ० ४४ एवम् १९८१–८२ पृ० ४०।

१०. वही, मिश्रा,

११. वही, इण्डि० आर्कि०–ए० रिव्यू।

१२. वही इण्डि० आर्कि०–ए० रिव्यू।

१३. शर्मा, बैजनाथ, १९६९ : "मैगालिथस इन होशंगाबाद, नरसिंहपुर, एण्ड जबलपुर डिस्ट्रीक्स आफ महाकोशल रीजन" सेमिनार पेपर्स आन द प्राब्लम आफ मकालिथ्स इन इण्डिया पृ० ४३–४५।

१४. स्टीन आरेल, : "आर्कियोलाजिकल टूर्स इन ग्रेडोसिया" मेमा० आर्कि० सव० इण्डि० अंक–४३, अध्याय ५, ६।

१५. देव एस० बी०, १९८२ : इण्डोलाजी डिपार्टमेन्ट द्वारा आयोजित लेक्चर।

होलोग्राफी

डॉ० फूलचन्द मिश्र,* एवं डा० श्रवणकुमार तिवारी**

"होलोग्राफ़ी" यूनानी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है : होलो (परिपूर्ण) + ग्राफ़ी (चित्रण), अर्थात् किसी वस्तु का परिपूर्ण चित्र खींचना। ज्ञातव्य है कि फोटो खींचने की प्रचलित विधि में वस्तु का परिपूर्ण चित्र नहीं आता है। प्रचलित विधि की खोज होने के बाद से इसके तकनीक में काफी परिवर्द्धन हुआ है, किन्तु इसका सबसे बड़ा दोष यही है कि इससे त्रिविमीय (लम्बाई + चौड़ाई + मोटाई) वस्तुओं का चित्र एक कागज या फिल्म पर बनता है जो केवल द्विविमीय (लम्बाई + चौड़ाई) ही होता है। अतः स्पष्ट है कि यह चित्र परिपूर्ण नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार के चित्रण से हम वस्तु का विस्तृत स्वरूप (संरचना) प्राप्त नहीं कर सकते हैं; विशेषतः वस्तु के पृष्ठ भाग को तो कुछ भी जानकारी इससे नहीं मिल सकती है। इस प्रकार के फोटो-चित्रण की विधि द्वारा प्रायः वस्तुओं के वैज्ञानिक स्वरूप का अध्ययन नहीं किया जा सकता है। वैसे, स्टीरियोग्राफ़ द्वारा त्रिविमीय वस्तुओं के आकार की जानकारी कुछ हद तक प्राप्त की जा सकती है। किन्तु होलोग्राफ़ी की विधि से हम वास्तव में किसी वस्तु का त्रिविमीय फोटो चित्र प्राप्त कर सकते हैं।

इस तकनीक की खोज सर्वप्रथम डेनिस गेबॉर नामक अँग्रेज वैज्ञानिक ने सन् १९४७ ई० में इम्पीरियल कॉलेज ऑफ साइन्स ऐण्ड टेक्नॉलॉजी (लण्डन) में की थी। गेबॉर इलेक्ट्रान माइक्रॉस्कोपी के क्षेत्र में शोधकार्य कर रहे थे। द्रव्य की संरचना के संबंध में विशेष जानकारी प्राप्त करने की आशा से कौतूहल वश कुछ प्रयोग करने में उनसे अनायास ही कुछ ऐसा प्रयोग हो गया कि उसी से यह महान आविष्कार प्रगट हो गया। अनेक शोधकर्ताओं ने, गेबॉर के इस नये तकनीक को समुन्नत करने का प्रयास किया, किन्तु उन्हें कोई विशेष सफलता नहीं मिली; क्योंकि उन दिनों कलासम्बद्ध (कोहियरेन्ट) प्रकाश स्रोत (जैसे लेसर) उपलब्ध नहीं थे। सन् १९६० में लेसर की खोज के बाद इस दिशा में चल रहे प्रयासों की बाधायें दूर हो गईं और होलोग्राफ़ी का विकास एक अत्यन्त उपयोगी तकनीक के रूप में तेजी से होने लगा। सम्प्रति इसकी दो विधियां प्रचलित हैं :—

(अ) अनुरेखीय (इन-लाइन) होलोग्राफ़ी

इस विधि में प्रयुक्त लेसर स्रोत, वस्तु (जिसका फोटो उतारना हो) तथा फोटो-ग्राफ़िक कैमरा, तीनों एक ही सीधी रेखा में व्यवस्थित किये जाते हैं। मान लीजिये जिस बिम्ब का अध्ययन करना है वह E आकार का है। प्रकाशीय व्यवस्था चित्र 1 में दिखाई गई है। इसमें प्रकाश-स्रोत एक बिन्दु-स्रोत के रूप में दिखाया गया है। किन्तु

---

* रीडर, भौतिकी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।

** स० निदेशक, भौतिकी कक्ष, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।

वास्तव में यह एक विस्तृत स्रोत ही हुआ करता है। इस स्रोत से चलने वाली प्रकाश तरंगों के सभी तरंगाग्र वस्तु E पर आपतित होते हैं, E की संरचना पूर्णतः पारभासक होती है। तात्पर्य यह कि इस संरचना से होकर, प्रकाश, बिना विवर्तित हुए ही सीधे आगे निकल जाता है। वास्तव में, अनुरेखीय होलोग्राफ़ी की विधि केवल उन्हीं वस्तुओं पर लागू होती है जिनकी संरचना पूर्णतः पारभासक होती है। स्पष्टतः फोटोग्राफ़ी में प्रयुक्त कैमरा वस्तु से आने वाले विवर्तित प्रकाश तथा स्रोत से सीधे आने वाले अविवर्तित प्रकाश, दोनों ही को ग्रहण करता है। अतएव फोटो-प्लेट पर, इन दोनों प्रकार की प्रकाश-तरंगों के अतिव्यापन से एक प्रकार का व्यतिकरण-पैटर्न बन जाता है। प्लेट पर इस पैटर्न का जो रेकार्ड (अभिलेख) बनता है उसे "होलोग्राम" कहते हैं। इस होलोग्राम को किसी कला-सम्बद्ध प्रकाश से उद्भासित करके वस्तु का त्रिविमीय प्रतिबिम्ब प्राप्त किया जा सकता है, जैसा कि चित्र 2 में प्रदर्शित किया गया है।
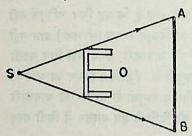
चित्र : 1. अनुरेखीय होलोग्राफ़ी.
O–वस्तु (बिम्ब); AB–होलोग्राम;
S–लेसर-स्रोत
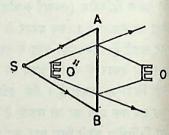
चित्र : 2. अनुरेखीय तकनीक द्वारा प्राप्त होलोग्राम से प्रतिबिम्ब बनाना.
AB–होलोग्राम, O'. वास्तविक प्रतिबिम्ब, O"–काल्पनिक प्रतिबिम्ब,
S–लेसर स्रोत

चित्र 2 से स्पष्ट है कि इस प्रक्रिया में हमें दो प्रतिबिम्ब प्राप्त होते हैं, जिनमें से एक आभासी और दूसरा वास्तविक होता है। दोनों ही प्रतिबिम्ब एक मूल वस्तु के पूर्णतः त्रिविमीय प्रतिरूप होते हैं और जब भी कोई व्यक्ति इन्हें देखता है, उसे ऐसा प्रतीत होता है कि मूल वस्तु ही अधर में लटकी हुई है। उस मूल वस्तु या दृश्य का, सामान्य विधि से फोटो खींचने के लिए इन प्रतिबिम्बों का उपयोग किया जा सकता है। जब आभासी एवं वास्तविक प्रतिबिम्बों में से एक को देखा जाता है तो दूसरा प्रतिबिम्ब भी पहले की पृष्ठ-भूमि में विद्यमान रहता है, यद्यपि यह फ़ोकस से परे (आउट–ऑफ–फ़ोकस) रहता है। इस कारण प्रतिबिम्बों को स्पष्ट रूप में देखने में बाधा पड़ती है। किन्तु, यदि कैमरा (अर्थात् अभिलेखी फोटो प्लेट) और वस्तु के बीच की दूरी d^2/λ से बड़ी हो जाय (जहाँ λ होलोग्राम अभिलेखन में प्रयुक्त प्रकाश का तरंगदैर्ध्य है, और d वस्तु का महत्तम विस्तार है) तो इस कठिनाई को दूर किया जा सकता है। वस्तु और कैमरे के बीच की दूरी छोटी हो (जहाँ फ़ोकसिंग की कठिनाई का सामना करना पड़ता है) तो इस स्थिति को निकट-क्षेत्रीय अनुरेखीय (नीयर फ़ील्ड इन-लाइन) होलोग्राफ़ी कहा जाता है। इसके विपरीत, वस्तु और कैमरे के बीच की दूरी अधिक

होने पर (ताकि, फोकसिंग की समस्या का सामना न करना पड़े) स्थिति को दूर-क्षेत्र अनुरेखीय, फारफ़ील्ड इन-लाइन) होलोग्राफी कहा जाता है। स्पष्ट है कि दूर-क्षेत्र की विधि का उपयोग केवल लघु वस्तुओं के लिए ही किया जा सकता है।

(ब) तिर्यक अक्षीय होलोग्राफ़ी

(i) पारगमन (ट्रांसमिशन): अनुरेखीय होलोग्राफ़ी में जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है उनमें से बहुत सी कठिनाइयों को तिर्यक अक्षीय तकनीक द्वारा दूर किया जा सकता है। इस स्थिति में मूल विकिरण एक प्रिज्म में से होकर होलोग्राम पर पहुँचता है। वस्तु को भी उसी प्रकाश स्रोत से आने वाले विकिरण द्वारा प्रदीप्त किया जाता है, जिसके फलस्वरूप विवर्तित तरंगें उत्पन्न होती हैं जो अभिलेखीय प्लेट पर सीधे आने वाले विकिरण के साथ व्यतिकरण उत्पन्न करती हैं, जैसा कि चित्र 3 (अ, ब) में प्रदर्शित किया गया है।
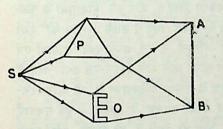
चित्र : 3. (अ). तिर्यक अक्षीय (प्रेषण) तकनीक से होलोग्राम बनाना.
AB–होलोग्राम; P–प्रिज्म, S–लेसर स्रोत, O–वस्तु.
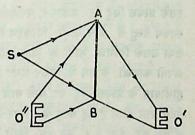
चित्र : 3. (ब) चित्र 3 (अ) की विधि से प्राप्त होलोग्राम द्वारा प्रतिबिम्ब रचना
S–लेसर स्रोत, O'–वास्तविक प्रतिबिम्ब, O''–काल्पनिक प्रतिबिम्ब AB–होलोग्राम
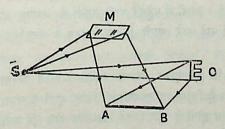
चित्र : 4. तिर्यक अक्षीय (परावर्तन) तकनीक से होलोग्राम बनाना,
M–दर्पण, S–लेसर स्रोत, AB–होलोग्राम, O–वस्तु,

(ii) परावर्तन : स्पष्टतः होलोग्राम का अभिलेखन करने के लिए अपेक्षित, सीधे आने वाले विकिरण-पुंज को परावर्तन द्वारा भी प्राप्त किया जा सकता है, यह स्थिति चित्र 4 में दिखाई गई है।

दर्पण से परावर्तित विकिरण तथा वस्तु द्वारा विवर्तित और परावर्तित विकिरण फोटोग्राफ़िक तल में परस्पर व्यतिकरण करते हैं, जिसके फलस्वरूप होलोग्राम प्राप्त होता है। अब

यदि उस होलोग्राम को किसी कलासम्बद्ध प्रकाश द्वारा प्रदीप्त किया जाय तो, जैसा पहले समझाया जा चुका है, वास्तविक और आभासी प्रतिबिम्ब बनते हैं।

होलोग्राम बनाने की एक और भी विधि है किन्तु यहाँ पर उसका वर्णन नहीं किया जायेगा, क्योंकि यह अपेक्षतः अधिक जटिल है। इसे "फ़ूरिए ट्रांसफ़ार्म होलोग्राफ़ी" कहा जाता है।

(स) होलोग्राफी का अभिधारणात्मक विश्लेषण

अब तक हमने होलोग्राफ़ी के तकनीक पर विचार किया है; अब हम इस विषय का विवेचन करेंगे कि होलोग्राम से वस्तु का परिपूर्ण चित्रण क्यों प्राप्त होता है ? होलोग्राफ़ी में हम प्रकाश स्रोत से सीधे आने वाले तथा वस्तु से होकर आने वाले किरण पुञ्जों के अतिव्यापन से प्रतिफलित व्यतिकरण पैटर्न का अभिलेखन करते हैं। वस्तु पर पड़ने वाले किरण पुञ्ज का, इसके प्रत्येक विंदु पर प्रकीर्णन, परावर्तन और विवर्तन होता है, और इन प्रक्रियाओं के फलस्वरूप वस्तु से आने वाली विकिरण तरंगें वस्तु के प्रत्येक विंदु से उसके पृष्ठतल की दशा तथा उसके विभिन्न भागों के आकार-विस्तार की परिपूर्ण सूचना, अपने-अपने आयामों एवं अपनी कलाओं के रूप में लेकर आती हैं, अतएव सीधे आने वाले किरण-पुञ्ज तथा वस्तु से होलोग्राम के प्रत्येक विंदु पर आने वाले किरण-पुञ्ज के परस्पर अतिव्यापन से जो व्यतिकरण-पैटर्न प्राप्त होता है वह वस्तु के आकार-विस्तार एवं उनकी संरचना के सम्बन्ध में पूर्ण सूचनाएँ अंकित कर देता है। जब हम किसी वास्तविक वस्तु को देखते हैं तो हमारी आँखें उसके सन्निकट परिवेश से अर्थात् उसकी सतह तथा उसके संरचनात्मक गठन में से आने वाली विवर्तित, परावर्तित तथा प्रकीर्णित तरंगों को ग्रहण करती हैं। ये तरंगें अपने आयामों तथा अपनी कलाओं के रूप में वस्तु के विषय में पूरी सूचना हमारी आँखों को दे देती हैं। आँखों के भीतर इन तरंगों का व्यतीकरण पैटर्न बनता है जो हमें प्रेक्षित वस्तु की त्रिविमीय संरचना के विषय में पूर्ण जानकारी देता है। आँखों में पहुँचने वाली तरंगों के आयाम तथा उनकी कलाएँ, दोनों ही, व्यतिकरण-पैटर्न में पाये जाने वाली तीव्रता वितरण के निर्धारण में महत्त्वपूर्ण योगदान करते हैं।

उल्लेखनीय है कि होलाग्राम पर जो व्यतिकरण पैटर्न बनता है वह उस तरह का प्रचलित पैटर्न नहीं होता है जिसमें व्यतिकरणकारी किरण पुञ्जों के आयाम तथा उनके संचरण की दिशाएँ लगभग समान होती हैं और जिनमें नियमित दीप्त एवं अदीप्त धारियाँ प्राप्त होती हैं। इसके विपरीत होलोग्राम प्लेट पर दीप्त एवं अदीप्त बिंदुओं या क्षेत्रों का जटिल वितरण प्राप्त होता है, जिसमें कोई नियमितता नहीं दिखाई पड़ती है। होलोग्राम के सामान्य प्रेक्षण से विचाराधीन वस्तु की संरचना के विषय में हम कोई भी निष्कर्ष नहीं निकाल सकते हैं।

किन्तु जब होलोग्राम को किसी कलासम्बद्ध प्रकाश-स्रोत से प्रदीप्त किया जाता है तो हमें वस्तु के त्रिविमीय प्रतिबिम्ब प्राप्त होते हैं (आभासी और वास्तविक प्रतिबिम्ब)। होलोग्राम का अभिलेखन करने के लिये यह आवश्यक नहीं है कि हम उसी प्रकाश-पुञ्ज का उपयोग करें जिससे अन्तिम प्रतिबिम्ब प्राप्त करने के लिये होलोग्राम को प्रदीप्त करना हो। होलोग्राम अभिलेखन के लिये हम किसी भी कलासम्बद्ध प्रकाश का उपयोग कर सकते हैं, और अन्तिम

प्रतिविम्ब प्राप्त करने के लिये किसी भी अन्य कला सम्बद्ध प्रकाश का (किसी भी अन्य आवृत्ति-क्षेत्र में) उपयोग कर सकते हैं।

वास्तव में, हम किसी होलोग्राम की तुलना ग्रामोफोन के किसी रिकार्ड से कर सकते हैं। रिकार्ड को ऊपर से देखकर इतना ही कह सकते हैं कि इस पर अनेक संकेन्द्रिक वृत्ताकार धारियाँ बनी हुई हैं। यह नहीं बता सकते कि धारियों की भाषा में इसमें कौन सा संगीत भरा है। किन्तु ज्योंही ग्रामोफ़ोन की सूई इन धारियों में से गुजरती है सारा रहस्य खुल जाता है। होलोग्राम की क्रिया को समझने के लिये इसकी तुलना किसी पारगम्य (ट्रांसमिशन) ग्रेटिंग से कर सकते हैं। संरचना की दृष्टि से ग्रेटिंग और होलोग्राम एक दूसरे से बहुत ही भिन्न होते हैं। ग्रेटिंग एक प्लेट होती है जिस पर नियमित क्रम से दीप्त और अदीप्त धारियाँ होती हैं जब कि होलोग्राम में दीप्त और अदीप्त क्षेत्रों का कोई नियमित क्रम नहीं होता है। किसी ग्रेटिंग में अनियमितता का होना उसका दोष माना जाता है, किन्तु होलोग्राम में अनियमितता अपरिहार्य होती है, इसके ही कारण त्रिविमीय प्रतिविम्ब उतारना सम्भव होता है। ग्रेटिंग में दीप्त और अदीप्त धारियों के बीच के अन्तराल सर्वत्र समान होते हैं जिसके कारण एक उपयुक्त प्रकाश-पुञ्ज से प्रदीप्त किये जाने पर इससे जो विवर्तन पैटर्न (स्पेक्ट्रम) प्राप्त होता है उसे स्पष्टतः "शून्य कोटि", "प्रथम कोटि", "द्वितीय कोटि" आदि में विभक्त किया जा सकता है। किन्तु होलोग्राम में दीप्त और अदीप्त क्षेत्रों का वितरण असमान होता है, अतः इस पर स्थित किसी भी विंदु के आस-पास के स्थानीय क्षेत्र के विवर्तन में अपनी-अपनी अलग कोटि (Order) होती है, अतएव पूरे होलोग्राम के लिये कोई सुस्पष्ट कोटि नहीं होती, वरन् इसके विभिन्न क्षेत्रों से प्राप्त विभिन्न कोटियों के अतिव्यापन से बना हुआ प्रखरता वितरण प्राप्त होता है।

होलोग्राम तथा तज्जन्य प्रतिबिम्बों की विशिष्टताएँ

अ : किसी होलोग्राम का छोटा या बड़ा प्रत्येक टुकड़ा मूल वस्तु का पूर्ण प्रतिविम्ब निर्मित कर सकता है; अन्तर केवल यही होगा कि छोटे टुकड़े से प्राप्त प्रतिविम्ब में, बड़े टुकड़े से प्राप्त प्रतिविम्ब की अपेक्षा, वस्तु की संरचना सम्बन्धी विभेदन (रिजॉल्यूशन) निम्नतर होगा। इस गुण का कारण यह है कि होलोग्राम का प्रत्येक विंदु वस्तु के सभी विंदुओं से आने वाली तरंगों के आयामों एवं उनकी कलाओं का अभिलेखन होता है, अतएव इसके छोटे से छोटे टुकड़े में भी वस्तु की संरचना के सम्बन्ध में पर्याप्त सूचनाएँ सन्निहित होती हैं। इस सन्दर्भ में किसी होलोग्राम का व्यवहार एक दर्पण के समान होता।

ब : एक ही प्लेट को, किरण-पुञ्ज के सापेक्ष उसका दिग्विन्यास (ओरियण्टेशन) परिवर्तित करके अनेक वस्तुओं के होलोग्राम बनाने के लिये प्रयुक्त किया जा सकता है। इस प्रकार, विभिन्न वस्तुओं के पैटर्न एक ही होलोग्राम पर, एक दूसरे के ऊपर अधिस्थापित (सुपरइम्पोज्ड) हो जाते हैं। इस होलोग्राम से किसी वस्तु का पूर्ण प्रतिविम्ब प्राप्त करने के लिये होलोग्राम को किसी कला सम्बद्ध किरणपुञ्ज से उसी दिग्विन्यास पर प्रदीप्त करना होता है जिस पर होलोग्राम का अभिलेखन किया गया था। स्पष्ट है कि यह गुण बहुत ही उपयोगी है, क्योंकि इससे कम-से-कम प्लेटों की सहायता से अनेक वस्तुओं के होलोग्राम बन सकते हैं।

स : चूंकि होलोग्राफ़ से किसी वस्तु का पूर्ण चित्र (त्रिविमीय) प्राप्त होता है अतः हम भिन्न-भिन्न दिशाओं से इसका निरीक्षण-परीक्षण कर सकते हैं। एक बड़ी ही रोचक बात यह है कि यदि हमने किसी ऐसे दृश्य का होलोग्राफ अभिलेखित किया हो जिसमें कोई वस्तु किसी अन्य वस्तु के पीछे (आड़ में) पड़ती हो, तो होलोग्राफ को किसी कलासम्बद्ध किरण-पुंज से प्रदीप्त करने पर एक स्थिति ऐसी आएगी जिसमें उसी रूप में एक वस्तु सामने और दूसरी उसके पीछे छिपी हुई प्रतीत होगी, किन्तु हम छिपी हुई वस्तु का प्रतिविम्ब भी देख सकते हैं, इसके लिए हमें आड़े वाली वस्तु के प्रतिविम्ब के इधर-उधर उसी प्रकार अपने सिर को हिलाकर देखना होगा जैसे हम वास्तविक दृश्य को देखते समय सिर को इधर-उधर हटा कर (झाँक कर) छिपी हुई वस्तु को देख लेते हैं।

द : होलोग्राम की तुलना सामान्य फोटोग्राफी की, निगेटिव प्लेट से भी कर सकते हैं, क्योंकि दोनों ही प्रदीप्त किए जाने पर मूल वस्तु का प्रतिविम्ब देते हैं। किन्तु वस्तुतः ये दोनों एक दूसरे से बहुत ही भिन्न होते हैं। हम किसी भी निगेटिव से बहुत सी प्रतिलिपियाँ बना सकते हैं; उनमें मूल निगेटिव के काले भाग (अपारदर्शी भाग) सफेद तथा पारदर्शी भाग काले हो जाते हैं। किन्तु होलोग्राम से जो प्रतियाँ बनाई जाती हैं वे सभी ठीक वैसा ही प्रतिविम्ब देती हैं जैसा कि मूल होलोग्राम से प्राप्त होता है। स्पष्ट है कि सामान्य फ़ोटोग्राफी में निगेटिव की प्रतियाँ बनाने में यह लाभ नहीं प्राप्त हो सकता है।

य : सामान्य फोटोग्राफी में प्लेट की "कन्ट्रास्ट" की विशेषता बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। इसी से प्रतिविम्ब की गुणता भी निर्धारित होती है। किन्तु होलोग्राफ़ी में इसका कुछ भी प्रभाव देखने में नहीं आता है। इस तकनीक में हमें सदैव ऐसा प्रतिविम्ब मिलता है जिसके विभिन्न भागों के बीच का "कन्ट्रास्ट" ठीक वैसा ही होता है जैसा कि मूल वस्तु में पाया जाता है।

होलोग्राफ़ी के उपयोग

वर्तमान समय में होलोग्राफ़ी एक बहुउद्देशीय तकनीक हो गई है। यहाँ इसके अनेक उपयोगों में से कुछ मुख्य उपयोगों का वर्णन दिया जा रहा है।

(1) इस तकनीक का सबसे अधिक विस्तृत उपयोग होलोग्राफ़िक माइक्रोस्कोपी के रूप में हो रहा है; विशेषतः जब इसे माइक्रोस्कोपी के प्रचलित तकनीकों (जैसे : X-किरण माइक्रोस्कोपी और इलेक्ट्रान-माइक्रोस्कोपी) के साथ जोड़ दिया जाता है तो इसकी उपयोगिता बढ़ जाती है। यहाँ इस प्रकार के संयोजन का कुछ विवरण दिया जा रहा है।

X-किरण माइक्रोस्कोपी के तकनीक के साथ बहुधा यह कठिनाई सामने आती है कि फ़ोकसिंग असुविधाजनक होती है तथा सिद्धान्ततः जितना विभेदन (resolution) मिलना चाहिए उससे कम मिलता है। इसी प्रकार इलेक्ट्रान माइक्रोस्कोपी में प्रयुक्त लेन्स प्रकाशिकी में उपयुक्त लेन्स की अपेक्षा कम सक्षम होते हैं। इन कठिनाइयों को, X-किरणों द्वारा या इलेक्ट्रान किरण-पुन्जों द्वारा होलोग्राम बना कर तथा उन्हें उपयुक्त लेसर किरण-पुंज द्वारा प्रदीप्त करके और इस प्रकार विचाराधीन वस्तु के प्रतिविम्ब को प्रकाशीय क्षेत्र में प्राप्त करके, दूर किया जा सकता है। ऐसे प्रतिविम्ब का निरीक्षण उत्तम कोटि के प्रकाशिकीय सूक्ष्मदर्शी की तकनीक

द्वारा सुविधापूर्वक किया जा सकता है। किसी तरल पदार्थ में निलंबित प्राणिवैज्ञानिक नमूनों के अध्ययन के लिए होलोग्राफ़िक माइक्रोस्कोपी विशेष रूप से उपयोगी पाई जाती है। यदि हमें इन नमूनों (प्रतिदर्शों) का परीक्षण किसी सामान्य सूक्ष्मदर्शी द्वारा करना हो तो प्रतिदर्श को, भिन्न-भिन्न गहराई पर स्थित सूक्ष्म संरचनाओं के प्रेक्षणार्थ माइक्रोस्कोप को अनेक बार फ़ोकस करना पड़ेगा। इन कठिनाइयों से बचने के लिए विचाराधीन प्रतिदर्श को उचित आकार और रूप में बदलना पड़ता है; जैसे उसे संपीडित करके एक अत्यन्त पतली पर्त के रूप में बना देना पड़ता है। प्रतीदर्श को इस रूप में बदल देने पर वह विरुपित हो जाता है और बहुधा हमें उस वस्तु की इच्छित संरचना के निरीक्षण के मूलध्येय से वंचित रह जाना पड़ता है। होलोग्राफ़ी में प्रतिदर्श को विरूपित करने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। साथ ही उस नमूने का होलोग्राम एक बार बना लेने पर जब भी आअश्यकता हो उसका निरीक्षण बार-बार किया जा सकता है।

(2) यदि किसी स्थान विशेष में संकुलित लघु कणिकाओं के वंटन का विश्लेषण करना हो तो होलोग्राफ़िक माइक्रोस्कोपी अत्यन्त उपयोगी पाई जाती है। इस प्रकार के विश्लेषण में सामान्य माईक्रोस्कोपी विशेष उपयोगी नहीं पाई जाती है, क्योंकि विचाराधीन कण अनियमित गति कर रहे होते हैं। किन्तु इसके लिए होलोग्राफ़िक माइक्रोस्कोपी की सहायता से विश्लेषण का कार्य सरल हो जाता है इसमें कणों के संपूर्ण आयतन क्षेत्र का एक अल्प उद्भासी (short-exposure) होलोग्राम अभिलेखित करना ही पर्याप्त होता है। इस प्रकार कणों की गति को 'स्तब्ध" (freeze) किया जा सकता है। इसके बाद कणों का वंटन ज्ञात करने के लिए संपूर्ण निकाय के इस प्रतिबिम्ब का विश्लेषण किया जा सकता है। "कुहरे" में कणों के वितरण का अध्ययन बहुत ही महत्त्वपूर्ण होता है। इस प्रकार के विश्लेषण के लिए विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म ग्राहिता वाले "डिस्ट्रोमीटर" बनाए जाते हैं। इसमें जिन कणों का अध्ययन करना पड़ता है उनका विस्तार 0.0005 सेमी० के लगभग होता है। उल्लेखनीय है कि होलोग्राफ़िक माइक्रोस्कोपी में इलेक्ट्रान किरण-पुंजों द्वारा होलोग्राम का अभिलेखन करके लघुकणों के संकुचन और विश्लेषण में कर्ण- विस्तृति की सीमा को 0.01μ तक पहुँचाया जा सकता है।

(3) प्रकाशिकी के प्रमुख क्षेत्रों में "व्यतिकरणमापन" द्वारा भी होलोग्राफ़िक प्रक्रमों का लाभप्रद उपयोग किया गया है। सामान्यतः हम व्यतिकरणमापन द्वारा अत्यन्त लघु दूरियों, तरंगदैर्घ्यों तथा प्रकाशीय माध्यमों की असमांगताओं का मापन करते हैं। होलोग्राफ़िक व्यतिकरणमापन के सिद्धान्तों को बड़ी सरलता से समझा जा सकता है। पहले, विचाराधीन प्रतिदर्श (वस्तु) का एक होलोग्राम अभिलेखित कर लिया जाता है। तदन्तर उसे किसी लेसर-किरणपुंज से इस प्रकार प्रदीप्त किया जाता है कि वस्तु का एक प्रतिबिम्ब बन जाय जो पूर्णतः वस्तु पर ही संपाती हो (coincident)। यदि इसके बाद वस्तु को तनिक सा विकृत, स्थानान्तरित या घूर्णित कर दिया जाय तो वस्तु और प्रतिबिम्ब का परस्पर व्यतिकरण होता है, फलतः हमें एक व्यतिकरण-पैटर्न प्राप्त होता है। इस पैटर्न की प्रकृति और संरचना (details) वस्तु की विकृतियों पर निर्भर करेगी। अतएव व्यतिकरण-धारियों का विश्लेषण करके वस्तु की विकृतियों की जानकारी प्राप्त की जा सकती है। होलोग्राफ़िक व्यतिकरणमापन सामान्यतः तीन प्रकार का होता है।

(i) यथार्थ कालिक या एक-उद्भासी व्यतिकरणमापन—इसमें वस्तुगत परिवर्तनों के अनुसार व्यतिकरण-धारियाँ प्राप्त होती हैं।

(ii) विलम्ब कालिक या द्वि-उद्भासी व्यतिकरणमापन—इसमें, एक ही होलोग्राम पर, उसका दिग्विन्यास स्थिर रखते हुए, दो बार उद्भासन दिया जाता है; एक उद्भासन वस्तु में प्रेरित विकृति उत्पन्न करने के पूर्व और दूसरा, उक्त विकृति उत्पन्न हो जाने के बाद दिया जाता है। अतः जब होलोग्राम को किसी लेसर-किरण द्वारा प्रदीप्त किया जाता है तो इन दोनों परिस्थितियों के संगत प्रतिबिम्ब बनते हैं जो आपस में व्यतिकरण करते हैं तथा एक व्यतिकरण पैटर्न बनाते हैं। इस तकनीक का एक उदाहरण यहाँ द्रष्टव्य है :—

मान लीजिए किसी दृश्य का एक होलोग्राम बनाया गया है। यदि एक गोली दागी जाय तो वह प्रघाती तरंगें उत्पन्न करेगी जो इस दृश्य को विकृत कर देंगी। इस विकृत दृश्य को भी उसी होलोग्राम पर अभिलेखित किया जा सकता है। इस प्रकार, दो उद्भासनों से निर्मित होलोग्राम को जब किसी लेसर किरणपुंज से प्रदीप्त किया जाता है तो व्यतिकरण धारियों का एक पैटर्न प्राप्त होता है। इसके विश्लेषण से यह समझा जा सकता है कि गोली की गति से उत्पन्न क्षोभ, विकृतियाँ या प्रघाती तरंगे कैसी होती हैं ? यह पैटर्न बड़ा ही मनोरंजक दिखाई पड़ता है।

(iii) काल माध्य या बहु-उद्भासी व्यतिकरणमापन—इस तकनीक की सहायता से किसी कंपनशील वस्तु की गति का विश्लेषण किया जाता है। जिस वस्तु का विश्लेषण या अध्यनन करना होता है उसका एक होलोग्राम दीर्घकालिक उद्भासन (long exposure) देकर तैयार कर लिया जाता है। चूंकि उद्भासन के दौरान वस्तु कंपन कर रही होती है, अतः विभिन्न क्षणों पर प्रकीर्णित प्रकाश तरंगें वस्तु की कंपन विधा तथा उसके कंपन-आयाम के सम्बन्ध में संगत सूचनाएँ होलोग्राम पर पहुँचा देती हैं। अतः जब होलोग्राम को लेसर किरण-पुंज से प्रदीप्त करके वस्तु का प्रतिबिम्ब पुनः प्राप्त किया जाता है तो वह प्रतिबिम्ब कोई सामान्य प्रतिबिम्ब नहीं होता जैसा कि किसी स्थिर वस्तु से प्राप्त होता है। इस पर तो अनेक प्रतिबिम्ब कन्टूर अतिस्थापित रहते हैं। वस्तु के कंपन की प्रकृति का अध्ययन करने के लिए इन कन्टूरों का विश्लेषण किया जा सकता है। इस तकनीक का उपयोग अतिद्रुत एवं लघु-आयामी कपनों के अध्ययन में बहुतायत से होने लगा है।

(iv) यदि कोई होलोग्राम समुचित ढंग से बनाया जाय तो इसका उपयोग एक लेन्स या ग्रेटिंग के रूप में भी किया जा सकता है। किसी बिन्दु-बिम्ब (point object) का होलोग्राम किसी "जोन-प्लेट" के समान होता है, अतः वह किसी लेन्स के समान काम कर सकता है। जोन-लेन्सों को उपयोगी बनाने की दिशा में आजकल अनेक नए प्रयोग चल रहे हैं। विवर्तन-ग्रेटिंग बनाने के लिए होलोग्राफ़ी को एक अत्युत्तम तकनीक समझा जाता है। इसके लिए किसी उपयुक्त व्यतिकरण-पैटर्न को किसी प्लेट पर अभिलेखित कर लिया जाता है, यही प्लेट डेवेलप कर देने पर ग्रेटिंग का काम करती है। इस तकनीक द्वारा ऐसी ग्रेटिंग बनायी जा सकती हैं जिन पर रेखाओं की संख्या 3000 रेखा प्रति मिलीमीटर तक होती है। साथ ही इनका रेखांकित क्षेत्रफल 15×11 सेंटीमीटर तक बनाया जा सका है। इस ग्रेटिंग से मशीन-

रूल्ड ग्रेटिंग की अपेक्षा अधिक उत्तम परिणाम प्राप्त होते हैं ।

(v) हमने देखा ही है कि एक ही होलोग्राम पर अनेक दृश्यों की पूर्ण सूचनाएँ अभि-लेखित की जा सकती है। स्पष्टतः इस तकनीक को आँकड़ा संकलन तथा विश्लेषण में भी काम में लाया जा सकता है। होलोग्राफ़िक मेमोरी (memory) का उपयोग मुद्रण-उद्योग तथा टाइप-सेटिंग में भी किया जा सकता है।

(vi) यह भी उल्लेखनीय है कि होलोग्राफ़ी का उपयोग चल-चित्रों एवं दूर दर्शन में भी किया जा सकता है। किन्तु इस उपयोग के व्यावहारिक पक्षों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि इसमें भारी खर्च तो पड़ेगा ही, साथ ही इसके लिए अभी उपयुक्त लेसर स्रोतों का भी अभाव है। इस तकनीक के लिए अभी अन्य उपकरण भी व्यापारिक स्तर पर उपलब्ध नहीं हैं। फिर भी भविष्य में इसके उपयोग की अनेक संभावनाएँ हैं।

✻

9

समाज की चिन्ता : ईवान इलिच के समाजशास्त्रीय विचारों का अध्ययन

राधेश्याम त्रिपाठी*

पश्चिम के आधुनिक समाज चिन्तकों में ईवान इलिच की पहचान पिछले दशकों में बनी। ईवान इलिच पश्चिम की उपभोक्ता संस्कृति एवं अतितकनीकी वातावरण में अपरम्परागत विचारों एवं समाज के भविष्य की चिन्ता करने वाले विचारकों की कड़ी हैं। यह कड़ी हरबर्ट मारक्यूज, गेलब्रेथ, आल्विन टाफलर, ब्रेजेन्सको एलिजावेथ हायट प्रभृति चिन्तकों से समृद्ध हुई है। प्रायः चिन्तक एक बौद्धिक मानव समझा जाता है। समाज के विषय में चिन्तन करना भी बौद्धिक अभ्यास है, इसके साथ जुड़ी हुई परिस्थिति, चिन्तकों का वर्गीकरण कर देती है। चिन्तकों को परम्परागत कोटि में, ईवान इलिच जैसे समाजशास्त्री को अलग करके देखा जा सकता है।

प्रस्तुत लेख ईवान इलिच के विचारों का एक प्रारम्भिक मूल्यांकन का प्रयास है। मैक्सिकन समाजशास्त्री ईवान इलिच अति समकालीन विचारक हैं। उनका जन्म १९२६ में आस्ट्रिया के वियना नगर में तथा उनकी अधिकांश शिक्षा-दीक्षा यूरोप के विभिन्न नगरों में हुई। वे फ्लोरेंस विश्वविद्यालय के छात्र रहे। इलिच कई भाषाओं के जानकर हैं। इसके अतिरिक्त रसायनशास्त्र, इतिहास, अध्यात्म (Theology) पौरोहित्य (Pristhood) एवं शिक्षा शास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान हैं। शिक्षा, दर्शन, समाजशास्त्र तथा अन्य विषयों पर इलिच ने लिखा है। इस सन्दर्भ में यह उद्धृत करना उचित होगा कि विषयों के स्वतन्त्र चयन एवं उसके पैने विश्लेषण के कारण इलिच साहित्य को ग्रन्थालयी दृष्टिकोण से वर्गीकृत करना लगभग मुश्किल है। इन्हें नवीन समाज या नवीनीकरण की ओर समाज (Renewal of Society) की अलग कोटि में रख सकते हैं।

इलिच के विचारों को निम्न कोटियों में रखा जा सकता है।[1]

१. स्कूल व्यवस्था
२. आधुनिक औद्योगिक समाज एवं तकनीक
३. नैदानिक समाजशास्त्रीय विचार

इलिच बहुमुखी प्रतिभा के विचारक हैं जिन्होंने शिक्षा से लेकर आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के सामाजिक आयामों पर विचार किया है।

स्कूल व्यवस्था (The Schooling system)

अपनी सर्वाधिक प्रसिद्ध पुस्तक "दी-स्कूलिंग सोसाइटी" में इलिच ने विस्तार से

---

*जूनियर रिसर्च फेलो (ICSSR) समाजशास्त्र विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।

समकालीन शिक्षा व्यवस्था पर विचार किया है। स्कूल रहित समाज की कल्पना करने के पीछे वे इसमें व्याप्त औद्योगिक तन्त्र की दुष्प्रकार्यात्मक भूमिका देखते हैं। दार्शनिक तर्क शैली एवं आकड़ों की सहायता से इलिच आधुनिक विश्व में स्कूल व्यवस्था के बारे में बतलाते हैं।

स्कूल की पारम्परिक कल्पना : ईवान इलिच का मत है कि "स्कूल की पारम्परिक कल्पना एक फाटक की है, जिसमें इस पार जीवन की तैयारी की जाती है और उस पार असली जीवन जिया जाता है। असली दुनियाँ में प्रवेश एक तरह का पुनर्जन्म होता है जो यह बतलाता है कि तुम्हें अपनी स्कूली उपलब्धि के मुताबिक इस संसार में अपना दरबा खोजना है।"[२]

व्यक्तित्व के स्वच्छन्द विकास एवं पारस्परिक सहयोग की भावना आधुनिक स्कूल व्यवस्था से नहीं मिलती। स्कूल सत्ता वर्ग की अभिलाषाओं का साधन भी है।

इलिच का विचार है कि स्कूल एक प्रकार से जाति व्यवस्था का उदात्तीकरण करता है, वह जन्म पर आधारित विभाजन की जगह 'ऊँची और नीची' कक्षा या डिग्री के नाम से समाज का वर्गीकरण करता है।

इलिच स्कूल की पारम्परिक व्यवस्था के आग्रही है। इन्होंने स्किनर (मनोविद) की अनुशासनवादी विचारधारा का विरोध किया। स्कूल, तन्त्र के घेरे में शिक्षा की नौकरशाही के शिकार एवं शिक्षक शिविर बने हुए हैं। व्यावसायिक अध्यापन शिक्षा का दुश्मन है।

इलिच का दृष्टिकोण है कि शिक्षित समाज वह है जो ज्ञानार्जन के लिए आदर्शतः संगठित है। स्कूल तन्त्र विषयक समकालीन स्थितियों पर किया गया इलिच के चिन्तन का आधार भी दूसरे अर्थों में अति औद्योगीकरण की विषम परिस्थितियों के दुष्परिणामों के रूप में व्यक्त हुआ है। इलिच का विचार है कि स्कूल शिक्षण हमारी सड़ी गली वर्ग व्यवस्था तथा दिखावटी, ऊपरी तड़क-भड़क वाले मूल्यों पर आधारित है। टेलीविजन, रेडियो, फिल्म वगैरह माध्यमों से स्कूली शिक्षा प्रभावी होगी और इन माध्यमों पर ऐसे लोगों का अधिपत्य है जो उनका दुरुपयोग करते हैं। इस तरह समाज के लिये उपयोगी शिक्षा का आधार संकटग्रस्त हो जाता है। शिक्षा व्यवस्था उत्पादन के औद्योगिक ढंग का पैराडाइज है।

प्रौद्योगिकी पर 'निर्भर समाज'

औद्योगिकी औद्योगीकरण का आधार ही रही है। एलिच ने प्रौद्योगिकी एवं अति-औद्योगीकरण का विवेचन 'रीटूलिंग सोसाइटी' तथा 'सेलीब्रेशन आफ द अवेयरनेस' नामक पुस्तकों में किया है। मनुष्य एवं उसके उपकरणों के सम्बन्धों को एलिच ने विशेष महत्त्व दिया। अनियंत्रित औद्योगीकरण की परिस्थितिकीय क्षति (Ecological damage) तथा प्रकृति मनुष्य सभ्यता में विघटन, सत्ता के केन्द्रीकरण की प्रकृति, बलात् अपने विचारों-वस्तुओं को प्रसार से मनवाना, कार्य विशेष हेतु विशिष्ट योग्यता के अभाव में बल प्रयोग आदि दुष्परिणामों को इलिच मानतें हैं।

मोटर संस्कृति की सामाजिक उपयोगिता प्रौद्योगिकी की अति से सम्बद्ध है। प्रौद्योगिकी की अति विकास प्रगति एवं सामाजिक न्याय का सूचक नहीं है क्योंकि इससे 'समय

हड़प' होता है। एक समाज जो मोटर की भाग दौड़ पर खड़ा हो रहा है, इलिच को उस समाज की चिन्ता है।

'टल्स फार कनवाइविएलिटी' पुस्तक इलिच की उपभोक्ता संस्कृति सम्बन्धी विचारों का दर्शन कराती है। व्यक्ति पर जीवन-पद्धति उपभोक्ता संस्कृति लादती है। बँधा हुआ सामान (पैकेट) भी एक अन्य लक्षण है। वास्तविक जरूरतों के प्रत्यक्षीकरण को अधिक संख्या में पैदा की जा सकने वाली स्थिति में बदल देना 'कार्य-स्वण' है। उदाहरण के लिये प्यास को कोकाकोला की जरूरत में बदल देना।

इलिच समकालीन वैज्ञानिक-विचारक ब्रेञ्जेस्की की तरह अति औद्योगीकरण एवं आधुनिकीकरण की नींव पर खड़े नाविक के समान की परिकल्पना करते हैं। कम्प्यूटर एवं संचार व्यवस्था से सामाजिक नियन्त्रण प्रणाली बदलेगी, स्वचालित यान्त्रिकता, व्यक्ति को नियन्त्रण में रखेगी, यह यन्त्र विधुदाणु (टेक्नोट्रानिक) युग के समाज की परिकल्पना है।

आधुनिक समाज के रोग : इलिच ने मानव रोगों को चार दृष्टियों से देखने पर बल दिया है—(१) जनसाधारण को (२) चिकित्सक की (३) चिकित्सक की देख-रेख में रहने वाले रोगी की और (४) जीवनमरण का लेखा-जोखा रखने वालों की दृष्टि।

अधिकांशतः रोग अकस्मात होते हैं और अपाहिजी होने का कारण पुरानी क्षयकारी बिमारियाँ हैं। इलिच वृद्ध लोगों की अति चिकित्सा में पुनः उन्हें कष्ट झेलने की स्थिति पर लाने से चिन्तित हैं। कम से कम इलाज की स्थिति की सुधरी सम्भावना के प्रति इलिच आग्रही हैं। इलिच ने मारीशन, गिंजवर्ग के अध्ययनों के प्रमाण एवं अमेरिकी समाज में रोगों की परिस्थिति को अपने निबन्धों में सामने रखा है। इनका कहना है कि अत्यधिक चिकित्सा मनुष्य से बदला ले रही है। इन्होंने मेडिकल नेमेसिस (नेमिसिस : प्रतिकार की यूनानी देवी) का पौराणिक नाम दिया है। चिकित्सा विद्या की अति पर विचार करते हुए इलिच का कहना है कि चिकित्सा विद्या अब पलट कर मनुष्य पर प्रहार करने लगी है। वह आरोग्य को नहीं बल्कि वेदना को पोसने एवं मनुष्य को मृत्यु की लम्बी पीड़ा में डाल रही है।

स्वास्थ्य रक्षा प्रतिष्ठान : स्वास्थ्य सेवा के संचालन की प्रणाली नौकरशाही के नियन्त्रण से अलग नहीं रहती है। मानव की सेवा में आज चिकित्सा एक विशुद्ध व्यवसाय के रूप में विकसित हुई है।

इलिच का ध्यान है कि आधुनिक औषधियों का प्रयोग जैसे-जैसे निरन्तर बढ़ रहा है वैसे-वैसे मनुष्य की वेदनाएं बढ़ रही हैं। विश्व में एक नयी महामारी फैल रही है, जिसके तीन लक्षण हैं—

(१) चिकित्सा विद्या द्वारा रोगों में हस्तक्षेप में वृद्धि के साथ-साथ चिकित्सा की अनुपयोगिता में वृद्धि।

(२) सामाजिक और राकनीतिक इकाइयों का चिकित्सा के प्रभाव से भ्रष्ट होना।

(३) इन दोनों दुगुणों के उपचार के लिए जो उपाय सोचे जाते हैं उनका अपने आपको विफल करते जाना।

इलिच के शब्दों में—

"मनुष्य जानते-समझते हुए क्षणभंगुर जीवन जीता है। एक व्यक्ति के रूप में विशिष्ट जीवन जीता है और अपने आस-पास से जुड़ा जीवन जीता है और इसी से तो रोग का, वेदना का और मृत्यु का अनुभव उसके जीवन से अभिन्न रहता है। इन तीनों से जझने की सामर्थ्य उसके स्वास्थ्य की प्राथमिक शर्त है। जिस अंश में वह अपने इस अन्तरंग जीवन के प्रबन्ध पर निर्भर होता जाता है उसी अंश में वह अपनी स्वतन्त्रता छोड़ बैठता है और उसका स्वास्थ्य निश्चय ही क्षीण होता है। आधुनिक औषधि का वास्तविक चमत्कार शैतानियत से भरा है। आज न केवल व्यक्ति वल्कि पूरा समाज अमानवीय स्तर पर गिर रहे स्वास्थ्य को लेकर जीवित है। स्वास्थ्य सेवा में वृद्धि के साथ स्वास्थ्य में अवनति हो रही है। यह सभी देख रहे हैं, केवल स्वास्थ्य सेवा के संचालकगण नहीं देख पाते, क्योंकि उनकी योजनाओं का जन्म उनके यह न समझ पाने से ही हुआ है कि स्वास्थ्य को निजेत्तर वस्तु नहीं बनाया जा सकता।"

इलिच के चिन्तन उन्मेष आशावादी है। वे बतलाते हैं कि—

(१) हम यह भूल गये हैं कि आधुनिक यातायात का मतलब मोटर या हवाई जहाज नहीं होना चाहिए,

(२) स्वास्थ्य के बारे में हमारा दृष्टिकोण बन गया है कि बुरी तरह से बीमार व्यक्ति की जिन्दगी कब तक बनाये रखा जाय।

(३) अच्छी शिक्षा इस बात में बदल जाये कि स्कूल व्यवस्था खूब जटिल कर दी जाय और शिक्षकों को लम्बे समय तक प्रशिक्षण दिया जाय।

इलिच के योगदान

सम्प्रत्यय एवं सिद्धान्तों की जगह समकालीन समस्याओंजनित दीर्घ कार्य-कारण सम्बन्धों का विवेचन इलिच की लेखन शैली का वैशिष्ट्य है। इलिच साहित्य की ठोस पृष्ठभूमि उसके कठोर धार्मिक जीवन से सम्बद्ध है। वह एक दशक तक हिटलर के यहूदी यंत्रणा शिविरों के खिलाफ काम करने तथा न्यूयार्क की गरीब वस्तियों में पोर्टिरिको के प्रवासियों के बीच सेवा से निर्मित है। यातायात, स्वास्थ्य और शिक्षा पर सामाजिक आलोचक की दृष्टिकोण से सोचने पर समाज की समकालिक समस्याएँ सामने आती हैं; यही इलिच की विश्लेषण दृष्टि है। मार्क्सवादी समाजशास्त्री के रूप में इनका लेखन नव वामपन्थी रुझान का है।

पाश्चात्य संस्कृति के केन्द्र ब्रिटेन में इलिच के विचारों को प्रखर आलोचना का मुँह देखना पड़ा था। इसके अतिरिक्त पूंजीवादी देशों के आलोचक इलिच के पिछड़े तीसरी दुनियाँ के समाज के प्रति आग्रह को नाक भौ सिकोड़ कर देखते हैं। नये विचारों के अग्रदूत के रूप में इलिच को देखना गैर इलिच दृष्टिकोण है। आलोचना के रूप में कहा जाय तो स्पष्ट है कि भावुक प्रस्तुतीकरण तथा शब्दों का चयन दोनों ही इलिच की रचनाओं में उभर कर आते हैं। 'समाज का पुनर्निर्माण' तथा 'प्रफुल्ल समाज' जैसे सम्प्रत्ययों का ढेर इनकी पुस्तकों में मिलता है। स्कूल व्यवस्था के विषय में इलिच के प्रखर आलोचक पाल गुडमैन एवं जान हाल्ट। हैं अतिसामान्यीकरण से इलिच बचते नहीं हैं। इलिच आलोचना की स्थापनाओं से अलग

हटकर काम करने वाले सामाजिक आलोचक हैं। सांख्यिकी पद्धति से घट रही सामाजिक घटनाओं को देखना इलिच के लेखन का महत्त्वपूर्ण समाजशास्त्रीय उन्मेष माना जाता है। भविष्य के समाज के विषय में 'सोच' की एक समाजशास्त्रीय चिन्तन की शुरुआत इलिच ने की है उसे आगे बढ़ाने का काम सामाजिक भविष्य शास्त्री (Social Futurologist) को करना चाहिये।

References

१. एन० जयराम, प्रोफेट आफ पैराडाइज़, सन्डे, १९८०, पृ० ५७

२. स्कूल का मृत संसार, दिनमान, ३१ दिसम्बर, १९७२, पृ० १२

1. Subshash Kak, Sociological ideas of Ivan Illich, Social Scientist 1975, May issue. p. 73.

Ivan D. Illich (1973) Retooling Society, Penguin Books.

(1971) Dischooling Society, Penguin Books.

(1971) Celeberation of the Awareness, Penguin Books. Harmondsworth.

(1976) Limits to Medicine, Penguin Books.

Subshash Kak (1 75) Sociological Ideas of Ivan Illieh. Social Scientist, May Issue.

N. Jayram (1980) 'Prophet of Paradise', Sunday (Weekly) Oct. 7 p. 57

Elizabeth Hoyt. E. (1970) Choice and the Destiny of the Nation, Philosophical Library, New York.

David Cooper (1970) The Dialectics of Liberation, Penguin Books.

Iavan D. Illich (1974) Energy and Equity. London, Colderf Boyars.

(1975) Medical Nemisis, The Appropriation of Health, Rupa æ Co. (Bombay).

कुछ अभिनव मनोवैज्ञानिक (प्रात्यक्षिक) सम्प्रत्यय कालिदास के मेघदूत में

जगदीश* एवं समशेर बहादुर**

मनोविज्ञान विकास करते हुए शनैः शनैः अपनी तरुणाई को प्राप्त होता जा रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी, जिसे "वैज्ञानिक विकास का स्वर्णिम युग" कहा गया है, में मनोविज्ञान साहित्य ने भी अनेकों क्रान्तिकारी तथा लोकप्रिय सिद्धान्तों को जन्म दिया। वर्तमान शताब्दी में भी नवीनतम सम्प्रत्ययों की व्याख्या की जा रही है। इस समय हमारे देश के अधिकांश शोधार्थी मनोवैज्ञानिक पाश्चात्य प्रयोगों का अन्धानुकरण करते हुए "मनोविज्ञान" को विज्ञान की सुदृढ़ संज्ञा दिलाने का पुरजोर प्रयास तो कर रहे हैं परन्तु अपने अद्यतन प्रयोगों एवं सम्प्रत्ययों को प्राचीन भारतीय साहित्य के सन्दर्भ में अन्वेषण करने की प्रवृत्ति से सर्वथा दूर होते जा रहे हैं। हम आज देख रहे हैं कि विभिन्न आधुनिक विज्ञान के रहस्यमय एवं शोधपूर्ण तथ्य प्राचीन वेदों एवं साहित्य में उपलब्ध हैं। विदेशी वैज्ञानिकों के भारतीय साहित्य की ओर गम्भीर झुकाव एवं मननशीलता का कारण वस्तुतः यही है। इस दशा में हम मनोविज्ञान के अध्येताओं को भी आधुनिक मनोवैज्ञानिक सम्प्रत्ययों एवं प्रविधियों को प्राचीन भारतीय साहित्य में खोजने का प्रयास करते हुए विश्व में अपने मनीषियों के मनोवैज्ञानिक विचारों को अवश्य रखना चाहिए। इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत लेख में कालिदास के "मेघदूत" में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से सन्निहित आधुनिक प्रात्यक्षिक सम्प्रत्ययों के दिग्दर्शन का प्रयास किया गया है।

यदि हम कालिदास के "मेघदूत" का अध्ययन अद्यतन प्रात्यक्षिक सम्प्रत्ययों को ध्यान में रखते हुए करें तो विदित हो जाता है कि कालिदास कितन महान मनोवैज्ञानिक थे जिन्होंने बहुत पहले ही अग्रवर्णित सम्प्रत्ययों का परोक्ष (परन्तु अप्रायोगिक) रूप से विवेचन कर दिया था। अधोलिखित प्रात्यक्षिक अवधारणाओं के सन्दर्भ में आधुनिक मनोवैज्ञानिकों एवं महाकवि कालिदास के विचार तुलनीय हैं—

कालिदास के मेघदूत में आत्मनिष्ठ प्रत्यक्षीकरण

वर्तमान समय में मनोवैज्ञानिकों ने प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि व्यक्ति उद्दीपक (या घटना) का उस रूप में प्रत्यक्षीकरण नहीं करता है जिस रूप में वस्तुतः वह (उद्दीपक) है। व्यक्ति अपनी आवश्यकता के अनुसार उद्दीपक का प्रत्यक्षीकरण करके तदनुरूप व्याख्या भी करता है। उदाहरणार्थ काम आवश्यकता से पीड़ित व्यक्ति अस्पष्ट चित्रों में कामुकता का ही दर्शन करता है। लेकिन, चीन एवं मफी (१९४२) ने अपने अध्ययनों द्वारा पाया कि भूखे प्रयोज्य अस्पष्ट चित्रों में भोज्य पदार्थों का ही प्रत्यक्षीकरण करते हैं। लैजारस

* शोध छात्र मनोविज्ञान विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।

एवं अरेन वर्ग (१९५३) तथा अन्य मनोवैज्ञानिकों के भी प्रयोग इसकी पुष्टि करते हैं। एक मनोवैज्ञानिक ने उचित ही लिखा है—

वी डू नाट परसीव दी थिंगंस एज दे आर बट वी परसीव दी थिंगंस ऐज वी आर।

आत्मनिष्ठ प्रत्यक्षीकरण को ध्यान में रखकर किये गये मेघदूत के अध्ययन से हमें ज्ञात होता है कि कालिदास भी इस तथ्य से अवगत रहे हैं कि वस्तु की विशेषता वस्तुतः केवल उद्दीपक की वास्तविक स्थिति में ही सन्निहित नहीं है बल्कि बहुत कुछ प्रेक्षक की आत्मनिष्ठ धारणा पर भी अवलम्बित है। विरहानल में जलता हुआ एक नायक अपनी नायिका को भी वैसा ही (संतप्त) प्रत्यक्षित करता है। उसे प्रतीत होता है कि संसार में कोई सुखी नहीं है बल्कि सभी किसी न किसी वियोग से पीड़ित हैं। यक्षिणी से वियोग को प्राप्त यक्ष दुख से कातर हो गया है, शरीर कान्तिहीन होता जा रहा है। इस अवस्था में वह अपनी प्रिया को भी शोक संतप्त प्रत्यक्षीकृत करता है। यक्ष सोच रहा है कि प्रियतमा का कमलिनी सा रूप मुरझा रहा होगा।

तां जानीथाः परिमितकथां जीवितं द्वितीयं
दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम्।
गाढ़ोत्वड़ा गुरुषु दिवसेष्वेषु गुच्छत्सु बालां
जाता मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनी वान्यरूपाम्॥ (मेघदूत, ८०)

कालिदास के विचार में चयनात्मक प्रत्यक्षीकरण

सम्प्रति यह एक सुस्थापित मनोवैज्ञानिक तथ्य हो गया है कि व्यक्ति परिवेश में विद्यमान सभी उद्दीपकों पर एक ही समय में समान रूप से ध्यान नहीं देता है बल्कि कुछ ऐसे उद्दीपकों पर ध्यान देता है जो कि उसकी आवश्यकता या उद्देश्य (विशेषतः तात्कालिक) से सम्बन्धित होते हैं। घर में बजते हुए विभिन्न वाद्य यन्त्रों के बावजूद रोते हुए शिशु की ध्वनि को माँ सरलतया प्रत्यक्षीकृत कर लेती है। यहाँ उल्लेखनीय है कि परिवेश में विभिन्न उद्दीपकों (वाद्य यंत्रों आदि की ध्वनियों) की उपस्थिति के होते हुए भी माँ अपने शिशु के प्रति विद्यमान वात्सल्य स्नेह के कारण उसके रोने की आवाज प्रत्यक्षीकृत कर लेती है अर्थात् सुन लेती है।

हम भीड़ में जाते हुए लोगों की बहुत सी बातों को सुनते हुए भी ध्यान नहीं देते क्योंकि हमारी आवश्यकता अथवा उद्देश्य से उनका कोई संबन्ध नहीं होता। परन्तु ज्यों ही भीड़ में अपना नाम सुनते हैं तो तुरन्त उस पर ध्यान व्यवस्थित कर लेते हैं।

कालिदास ने बताया है कि जिन वस्तुओं या घटनाओं से व्यक्ति का लगाव होता है वह सहज ही उसका प्रत्यक्षीकरण करना चाहता है। मेघदूत में वर्णित है कि यद्यपि उस नगरी, जहां कि मेघ को जाना था, में बहुत कुछ रहा होगा परन्तु यक्ष को वही दृश्य दीखा जिनसे उसका भावात्मक सम्बन्ध था। उसे तो केवल रमणीय यक्षिणियों की कन्दर्प कर्षिणी किल्लोलें ही प्रत्यक्षित (अतिरेन्द्रीय प्रत्यक्षीकरण) हो सकी थीं क्योंकि वही उस समय यक्ष की आवश्यकता की केन्द्र बिन्दु थीं।

मेघदूत में आकृति एवं पृष्ठभूमि की अवधारणा

साहित्य के अनुसार रुबिन (१९१५, १९२१) प्रथम व्यक्ति था जिसने बताया कि आकृति पृष्ठभूमि के ऊपर उभरी हुई, अधिक स्पष्ट, सीमित प्रभाव शाली एवं अर्थयुक्त होती है जिसके कारण पृष्ठभूमि की अपेक्षा शीघ्र ध्यानाकर्षण करती है। वास्तव में उन्होंने प्रयोगिक रूप से उसका विवेचन किया, अतएव स्तुत्य हैं, होना भी चाहिए परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि कालिदास ने भी मेघदूत में उल्लेख किया है कि पृष्ठभूमि के मध्य विद्यमान वस्तु (उद्दीपक) स्पष्ट एवं आकर्षक बिन्दु होती है। कालिदास ने मेघ को सम्बोधित करते हुए यक्ष से कहलवाया है कि पीले-पीले पके हुए जंगली आमों से गदराये वनों वाले उस आम्रकूट की चौरी पर सांवले (काले) रंग वाले तुम घिर आओगे तो उसकी शोभा ऐसी हो जायेगी जैसे कि मध्य में सांवला एवं सब ओर पीला पृथ्वी का उठा हुआ स्तन हो। तुम्हारी इस शोभा को देखने के लिए देव दम्पत्ति एवं ललनाएँ भी लालायित हो जायेंगी।

छन्नोपान्तः परिफ्तफलद्योतिभिः काननामै
- स्त्वयुयारूढ़ं शिखरमचलः स्निग्धवेणीसवर्णे।
नूनं यास्यत्यमरमिथुनप्रेक्षणीयामवस्थां
मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः ॥ (मेघदूत १८)

उक्त दृष्टान्त प्रमाण हैं कि प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में ही सही कविकुल गुरु महाकवि कालिदास ने आधुनिक मनोवैज्ञानिक आयामों की व्याख्या अपनी रचना में ही की है। वस्तुतः प्रस्तुत लेख तो एक लघुतर प्रयास है जिसमें मात्र एक सम्प्रत्यय एवं एक साहित्कार की एक रचना के कुछ महत्वपूर्ण अंशों को ध्यान में रखते हुए दोनों के मध्य सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयास किया गया है। वर्तमान वैज्ञानिक परिस्थितियों की यह पावन पुकार है कि हम मनोविज्ञान के अद्यतन सभी सम्प्रत्ययों को एक-एक करके भारतवर्ष के प्राचीन महान मनीषियों एवं साहित्यकारों की कृतियों के साथ सामंजस्य करके भारतीय सन्दर्भ में आधुनिक सम्प्रत्ययों का विकास करते हुए शोध कर्ताओं को इस दिशा में अध्ययन करने हेतु प्रेरित कर कुछ नवीन तथ्य संसार के समक्ष रखे तथा सिद्ध कर दें कि अमर दुर्लभ भारत आज भी वस्तुतः अपने अगाध संचित ज्ञान राशि के कारण "जगद् गुरु" कहलाने का एक मात्र अधिकारी है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

१. काफर, सी० एन, एण्ड एप्ले एम० एच०।
मोटीवेशन : थ्योरी एण्ड रिसर्च, न्यूयार्क, विले १९६४!
२. कालिदास, तदूघमे।

आजमगढ़ की कुछ मध्यकालीन मूर्तियाँ

चन्द्रदेव सिंह*

उत्तर प्रदेश के पूर्वांचल में स्थित आजमगढ़ की छः तहसीलों में सगड़ी तहसील सबसे बड़ी है। इसका कई दृष्टियों से महत्व रहा है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी इस तहसील का अपना महत्त्व है। तहसील के विभिन्न भागों से कुछ पुरातात्विक महत्व के अवशेष प्राप्त हुए हैं। इस तहसील के बछौर खुर्द तथा दान शनिचरा नामक ग्रामों से मध्य युगीन मूर्तियों के कुछ अवशेष मिले हैं। प्रस्तुत लेख में उपर्युक्त स्थलों से मिली मूर्तियों का उल्लेख ही हमारा अभीष्ट है। दोनों ही गाँव पास-पास हैं जो बिलरियागंज-जीयनपुर मार्ग के मध्य में स्थित श्री गाँधी महाविद्यालय, मालटारी से लगभग ३ किमी० उत्तर की ओर स्थित हैं। दान शनिचरा की तुलना में बछौर खुर्द से कुछ अधिक मूर्तियाँ मिली हैं।

बछौर खुर्द—छोटी आबादी वाला यह गाँव एक छोटे से टीले पर बसा हुआ है। यहाँ से स्थान-स्थान पर मिट्टी के बर्तन एवं ईंटों के अवशेष प्राप्त होते हैं। गाँव के पूरब की ओर के एक छोटे से तालाब के समीप के टीले पर कुछ मध्ययुगीन मूर्तियाँ भग्नावस्था में बिखरी पड़ी हैं। इन सामग्रियों की ओर सबसे पहले डा० मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी (प्रवक्ता कला इतिहास विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी) नें लोगों का ध्यान आकृष्ट किया था।[१] बछौर खुर्द से मध्ययुगीन मूर्तियों के अतिरिक्त कुछ अन्य सामग्रियाँ भी मिली हैं। इनमें मिट्टी के बर्तन, प्राचीन ईंटें, जो दीवारों एवम् कुंओं में लगे हैं, तथा दो प्रस्तर स्तम्भ भी हैं, जो टीले में गड़े हुए हैं। अन्य स्थलों की मध्य युगीन मूर्तियों के समान ही यहाँ की मूर्तियों में भी कला के मध्य युगीन तत्व देखे जा सकते हैं। इनमें देवताओं को भाव शून्य एवम् स्थिर रूप में दिखाया गया है। इन मूर्तियों में जीवन्तता एवम् मनोरमता का अभाव है। सभी मूर्तियाँ पर्याप्त खण्डित रूप में हैं। अन्य स्थलों के सदृश सम्भवतः इन मूर्तियों को भी मुसलमान आक्रमणकर्ताओं के क्रूर हाथों का शिकार होना पड़ा था। एक उदाहरण (उत्तरंग) के अतिरिक्त अन्य सभी में माध्यम के रूप में बलुए पत्थर का प्रयोग हुआ है। उत्तरंग स्लेटी रंग के पत्थर पर बना हुआ है, जिस पर ब्रह्माकी मूर्ति बनी है। बछौर खुर्द से प्राप्त सभी मूर्तियाँ चौदहवीं शती ई० की हैं।

बछौर से प्राप्त मूर्तियों में नाग-नागी की मूर्तियाँ सर्वाधिक हैं, जो इस क्षेत्र में मध्यकाल में नाग पूजा की लोक प्रियता को प्रमाणित करती हैं। आज भी नागपंचमी के अवसर पर यहाँ पारम्परिक तरीके से नाग पूजा की जाती है। बछौर खुर्द से प्राप्त मूर्तियों में नाग-नागी के अतिरिक्त वराहरूप विष्णु, गणेश, तथा ब्रह्मा की मूर्तियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। अब हम इन मूर्तियों का विस्तृत उल्लेख करेंगे।

---

* शोधछात्र, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति, एवम् पुरातत्व, का० हि० वि० वि०, वाराणसी—२२१००५

१. वासुकि देव प्रतिमा—

बछौर खुर्द से प्राप्त मूर्तियों में नागदेव वासुकि का निरूपण करने वाली मूर्ति सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। यह मूर्ति ३' ७" लम्बी है। वासुकिदेव को मानव रूप में दिखाया गया है। इस प्रतिमा पर संवत १४०९ (१३५२ ई०) का एक लेख उत्कीर्ण है। किन्तु डा० मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी ने इस लेख की तिथि को संवत् १४०३ (१३४६ई०) पढ़ा है। लेख में स्पष्टतः इसे 'वासुकि देव प्रतिमा' कहा गया है। प्रतिमा शास्त्रीय ग्रन्थों में नागों के विविध रूपों की विवेचना की गयी है। माया शिल्प में सात प्रमुख नागों का उल्लेख है जिसमें वासुकि का नामोल्लेख सबसे पहले हुआ है। अन्य नागों में तक्षक, कारकोट, पद्म महापद्म, शंख, पात्र, और कुलिक के उल्लेख हैं। इस द्विभुज वासुकि मूर्ति का शीर्ष भाग टूट गया है। सिर के ऊपर प्रदर्शित सर्पफण भी पर्याप्त खण्डित है। वासुकि देव समभंग मुद्रा में पीठिका पर खड़े हैं। उनके सिर के ऊपर ग्यारह सर्प फणों का छत्र प्रदर्शित है। वासुकि देव लम्बी माला, यज्ञोपवीत, कुण्डल, हार, कंगन एवम् बाजूबन्द आदि से युक्त हैं। देवता की बायीं भुजा में एक कलश है, जो वक्षस्थल के पास स्थित है। यद्यपि दाहिना हाथ खण्डित है, किन्तु उसकी स्थिति से ऐसा प्रतीत होता है कि उसमें सम्भवतः दण्ड जैसी कोई वस्तु रही होगी। देवता का वाहन स्पष्ट नहीं है। यह प्रतिमा सप्तरथ आसन पर खड़ी है। वासुकि के दोनों ओर दो छोटी नाग आकृतियाँ है, जो सेविकाओं के रूप में हैं। इन पार्श्ववर्ती आकृतियों के सिरों पर भी तीन नागफणों का छत्र प्रदर्शित है, तथा हाथों में कलश एवम् पद्म दिखाया गया है। सेवक आकृतियों के गले में हार, कानों में कुण्डल एवम् हाथ में कंगन आदि बनाया गया है। दाहिने तरफ की सेवक आकृति १'३" लम्बी है, जबकि बायें तरफ की आकृति १'५" लम्बी है। दोनों सेवक आकृतियाँ भी आसन पर ही खड़ी हैं। वासुकि देव की प्रतिमा के दोनों ओर लेख मिलता है। बांये हाथ के पास के लेख में ही सम्वत् एवम् वासुकि प्रतिमा का उल्लेख किया गया है। शेष अंश स्पष्ट नहीं है।

२. नाग देवी—

वासुकि देव प्रतिमा के दायें ओर नाग देवी की एक मर्ति है, जो ३' ८" लम्बी है। यह मूर्ति भी खण्डित है। इस मूर्ति के कानों में कुण्डल तथा माथे पर मुकुट है। मुकुट के ऊपर सात सर्प फणों का छत्र बना है। देवी के गले में माला बनी है। बायें हाथ में वक्षस्थल के समीप स्थित एक अलंकृत कलश बना है। टूटे हुए दाहिने हाथ में दण्ड जैसी वस्तु है। कमर में मेखला बंधी है, तथा सर्प लिपटा हुआ है। भुजाओं में बाजूबन्द तथा कंगन दिखाया गया है।

३. नाग देवी—

यहाँ से नागी की एक दूसरी मूर्ति भी मिली है। मूर्ति पर्याप्त खण्डित अवस्था में है। मूर्ति के कानों में कुण्डल तथा गले में माला है। मूर्ति २' १" लम्बी है। कमर में वस्त्र के निशान बने हैं। मूर्ति के एक हाथ में कलश है।

४. नाग देवी—

चौथी मूर्ति भी नागदेवी की ही है। मूर्ति पर्याप्त खण्डित है। द्विभुज नाग देवी के पैरों

के नीचे का भाग टूटा हुआ है। स्थानक मुद्रा में अवस्थित देवी की कमर में मेखला है, और दोनों पैरों के मध्य धोती का अंश लटक रहा है। कमर से ग्रीवा तक का भाग टूट गया है उदर बन्ध के रूप में एक सर्प प्रदर्शित है, जिसका शीर्ष भाग देवी के बायें ओर देखा जा सकता है। देवी के कानों में कुण्डल तथा सिर पर मुकुट है, तथा उसके ऊपर सात सर्प फणों का छत्र प्रदर्शित है। देवी की अवशिष्ट दाहिनी भुजा सिर के ऊपर सर्प फणों के समीप प्रदर्शित है।

५. गणेश—

गणेश या गणपति को ओंकार का प्रतीक माना गया है। वेदों में गणेश का 'ब्रह्मणस्पति' नाम से उल्लेख है।[२] इन्हें महाहस्ती, वक्रतुण्ड और एकदन्त भी कहा गया है। गणेश सिद्धिदायक एवम् विघ्ननाशक देवता हैं। जैन परम्परा में भी इसी रूप में इनका उल्लेख हुआ है। इन्हें सर्वत्र विद्यमान रहने वाला बताया गया है। प्रत्येक शुभ कार्य के आरम्भ होने से पूर्व इनके पूजा की परम्परा रही है। मूर्तियों में गणेश को लंबोदर, एकदन्त और गजमुख तथा मोदक पात्र, स्वदन्त, परशु आदि से युक्त दिखाने की परम्परा रही है।[३]

बछौर खुर्द से प्राप्त गणेश की छोटी मूर्ति में देवता को ललित मुद्रा में दिखाया गया है। गजमुख गणेश का सूड़ हाथ में स्थित मोदक-पात्र की ओर मुड़ा है। दूसरा हाथ खण्डित है।

६. विष्णु की वराह मूर्त्ति—

सृष्टि के पालन कर्ता विष्णु को पृथ्वी पर सद्जनों एवं अन्य प्राणी वर्ग की रक्षा के लिए कई अवतार लेने पड़े थे। इन अवतारों की सर्वाधिक स्वीकृत संख्या १० है। इनका उल्लेख रूपमण्डन, शतपथ एवं ऐतरेय ब्राह्मणों, मत्स्य एवं कूर्म पुराणों में मिलता है। वराह अवतार में विष्णु ने वराह रूप में अवतरित होकर भू देवी का उद्धार किया था। इस रूप में इन्हें या तो पूर्ण नृवराह अथवा वराह के रूप में दिखाया जाता है। देवता के तीक्ष्ण दाँतों पर भू देवी लटकती होती हैं, तथा हाथों में गदा, शंख, चक्र, पद्म आदि प्रदर्शित होता है।[४]

बछौर की मूर्ति में देवता का सिर वराह का तथा शरीर का शेष भाग मनुष्य का है। ऊपरी बायें हाथ पर भू देवी की छोटीसी स्त्री मूर्ति भी बनी है। निचले हाथ में शंख है। शेष हाथ खण्डित हैं।

७. ब्रह्मा—ब्रह्मा की गणना त्रिदेवों में की जाती है। इन्हें संसार के रचना कार्य से सम्बद्ध किया गया है। यह मूर्ति स्लेटी रंग के उत्तरंग पर उत्कीर्ण है। यहाँ ब्रह्मा को चतुर्भुज एवं चतुर्मुख तथा दाढ़ी एवं मूंछों से युक्त दिखाया गया है। ब्रह्मा एक आसन पर विराजमान हैं, तथा उनके हाथों में पारम्परिक आयुध प्रदर्शित हैं। पद्मासन पर विराजमान ब्रह्मा के चार हाथों में सामान्यतया पुस्तक, स्रुक, अक्षमाला एवं जलपात्र के प्रदर्शन का निर्देश दिया गया है।[५] बछौर खुर्द की मूर्ति में ब्रह्मा के ऊपर के दाहिने हाथ में स्रुक है, जब कि निचला हाथ अभयमुद्रा में है। बायीं ओर के ऊपर के हाथ में पुस्तक तथा नीचे के हाथ में कमण्डलु है। ब्रह्मा की इस मूर्ति के दोनों ओर दो नारी मूर्तियाँ बनी हैं। नारी मूर्तियों के लक्षण बहुत स्पष्ट नहीं हैं। पर ये सरस्वती एवं सावित्री की मूर्तियाँ हो सकती हैं।

८. नन्दी की मूर्ति—नन्दी की बैठी हुई यह मूर्ति १ फुट ६ इञ्च लम्बी है तथा ११ इञ्च ऊँची है। यह मूर्ति बलुए पत्थर की बनी हुई है। इसका मुँह भाग खण्डित है।

९. कच्छप की मूर्ति—यह मूर्ति बहुत छोटी है। कच्छप की इस मूर्ति का आधा अंश टूट गया है। इसकी गर्दन उठी तथा पैर आगे की ओर निकले हैं, जिससे ऐसा आभास होता है, मानों उसे चलने की मुद्रा में बनाया गया हो। सम्भव है यह विष्णु के कूर्म अवतार की मूर्ति रही हो।

१०. नारी मूर्ति—बलुए पत्थर की एक छोटी सी नारी मूर्ति भी यहाँ से प्राप्त हुई है। मूर्ति काफी खण्डित है। नारी के दाहिने कन्धों पर बालक दिखाया गया है। सम्भव है कि खजुराहो एवं अन्य मध्य कालीन स्थलों के गोद में बालक लिये हुए स्त्री मूर्तियों से प्रभावित होकर इसका निर्माण किया गया हो।

दान शनिचरा—दान शनिचरा ग्राम से हमें केवल दो मूर्तियाँ मिली हैं, जिसमें से एक बड़ी मूर्ति विष्णु की है, तथा दूसरी मूर्ति की पहचान सम्भव नहीं है। ये मूर्तियाँ गाँव के पश्चिमी किनारे पर स्थित छोटे से मन्दिर में प्रतिष्ठित हैं।

विष्णु की गणना त्रिदेवों में की जाती है। विष्णु के विषय में कहा गया है कि जो विश्व में सर्वत्र व्याप्त है वही विष्णु हैं।[६] यद्यपि विष्णु को सृष्टि का पालन कर्ता बताया गया है, किन्तु कभी-कभी उन्हें रचना, पालन एवं संहार तीन कार्यों से सम्बन्धित किया गया है। विष्णु का सामान्य रूप ग्रन्थों में निरूपित है जिनमें उन्हें शंख, चक्र, गदा एवं पद्म (या अभयमुद्रा) से युक्त दिखाया गया है।[७]

दान शनीचरा से प्राप्त विष्णु मूर्ति (२० इञ्च ऊँची) लाल बलुये पत्थर में बनी है। इसमें विष्णु को समभंग में खड़ा दिखाया गया है। आकार में छोटी होते हुए भी यह मूर्ति ऊपर वर्णित मूर्तियों में सर्वोत्कृष्ट है। विष्णु को लम्बी वनमाला, छोटी धोती, यज्ञोपवीत, बाजूबन्द, पायजेब, मेखला तथा कंगन आदि से शोभित दिखाया गया है। किरीट मुकुट से सज्जित विष्णु के सिर के पीछे प्रभामण्डल बना हुआ है।[८]

विष्णु की भुजाओं में पारम्परिक आयुध हैं। उपर के दाहिने हाथ में गदा है जब कि नीचे का हाथ अभयमुद्रा में है। ऊपर वाम भुजा में चक्र है, और निचली भुजा में शंख है। पार्श्वों में दो सेवक आकृतियाँ चामर लिए हैं। बायें पार्श्व में पुरुष तथा दायें पार्श्व में नारी आकृतियाँ हैं।

उपर्युक्त मूर्ति के अतिरिक्त ६½ इञ्च चौड़े पत्थर पर दो अन्य मुर्तियाँ भी बनी हैं। इनमें से एक ध्यानमुद्रा में है तथा उसके दोनों हाथ पैरों पर हैं। दूसरी मूर्ति दौड़ती हुई बनी है। घिसे होने के कारण इनकी पहचान सम्भव नहीं है।

ग्रंथ सन्दर्भ

१. देखें "मध्ययुगीन पुरातात्विक अवशेष" शीर्षक से स्वतन्त्र भारत (हिन्दी दैनिक, लखनऊ) के १३ जनवरी १९७७ के अंक में प्रकाशित समाचार।

२. ऋग्वेदः २:२३: (१) गणानां त्वां गणपतिं हवा महे........................सोदसादनम् ।
तैत्तिरीयसंहिता—२:३:१४३

३. बृहत् संहिता ५७:५८

'प्रथमाधिप गजमुखः प्रलम्बजठरः कुठारधारी स्यात् ।
एक विषाणो विभ्रन्मूलकन्दं सुनीलदलकन्दम् ॥'

रूपमण्डन ५—१५

४. रूपमण्डन ३:२४—"मत्स्य कूर्मो स्वरूपो नृवराहो गदाम्बुजम् विभृत्स्यामों [विभ्रचश्यामो] वराहोस्यो दृष्टाग्रे तु धृताधरा ।"

रूपमण्डल ५-१५ दन्तञ्च परशुं पद्मां मोदकञ्च गजाननः ।
गणेशो मूषिकारूढो विभ्राणः सर्वकामदः ॥

५. रूपमण्डन २-७ दक्षिणाधः करात सृष्टया जयमालां तथा श्रुतम्,
पुस्तं कमण्डलुधत्ते सकूर्चः कमलासनः ।

बृहत्संहिता, ५७।४१ ।

"ब्रह्मा कमण्डलुक्तरश्चतुर्मुखः पंकजासनस्थश्च ।"

....

६. विष्णुपुराण ३।१।४५

"यस्मादिष्टमिदं विश्वं तस्य शक्त्या महात्मनः ।
तस्मात्सा प्रोच्यते विष्णु विर्शेर्धातो प्रदेशनात् ॥,,

७. 'विष्णुः कौमोदकीं पद्मं पाँचजन्यम् सुदर्शनम् ।

रूपमण्डन ३।१३

अथ च चतुर्भुजमिच्छति शान्तिद एकोगदाधरस्चान्यः ।
दक्षिणपार्श्वे त्वेवं वामे शंखश्च चक्रम् च ॥

बृहत्संहिता ५७।३४

८. कार्योऽष्टभुजो भगवांश्चतुर्भुजो द्विभुज एव वा विष्णुः ।
श्री वत्सांकितवक्षाः कौस्तुभमणि भूषितोरस्कः ।
अतसीकुसुमश्यामः पीताम्बरनिवसनः प्रसन्नमुखः ।
कुण्डलकिरीटधारी पीनमत्मोरः स्थलांसभुजः ॥

बृहत्संहिता ५७।३१-३२

भारतीयसंस्कृतेः प्रतीकः पण्डितमदनमोहनमालवीयः

कुमारी शोभारानी द्विवेदी*

भारतीया संस्कृतिः विश्वासु संस्कृतिषु श्रेष्ठा वर्तते। अत्रायमेव हेतुः यत् अस्याः अनुयायिनः महात्मानः तपस्विनश्च आसन्। एष्वेव महात्मसु महामनःपण्डितश्रीमदनमोहनमालवीया अप्यासन्। यादृशी उज्ज्वला भारतीया संस्कृतिर्वर्तते तादृशमेव उज्ज्वलमासीन्महामनसां मालवीयमहोदयानां व्यक्तित्वम्।

भारतीयसंस्कृतेः प्रतीकः महामनसः "पण्डितमदनमोहनमालवीयमहोदयाः" देशस्य तीर्थराजरूपेण प्रतिष्ठिते परमपवित्रे प्रयागे अवतीर्णाः। १९१८ विक्रमसंवत्सरे पौषकृष्ण-अष्टम्यां तिथौ "पण्डितव्रजमोहनव्यासमहोदयस्य गृहे पुत्ररत्नस्वरूपेण अस्य राष्ट्ररत्नस्य जन्माऽभवत्। देशस्य विविधैः प्रकारैः सेवां सहायतां च कुर्वता अनेन महापुरुषेण २००३ विक्रम संवत्सरे मार्गशीर्ष चतुर्थ्यां तिथौ निर्वाणं प्राप्तम्। यद्यपि नास्ति महामनाः इदानीं जगतीतले स्वेन भौतिकेन देहेन, तथापि यशःशरीरेण भारतीयसंस्कृतेः प्रतीकस्वरूपेण च अद्यापि तिष्ठति स्थास्यति च स चिरम्।

मालवीयमहोदयानां जीवनस्य प्रत्येकं दिनं भारतीयसंस्कृतेः रक्षार्थं व्यतीतमिति अस्मिन् वक्तव्ये नास्ति अतिशयोक्तिः। बाल्यकालादेव एभ्यः शिक्षा रोचतेस्म। एभिः स्वीया आरम्भिकी शिक्षा प्रयागे "धर्मज्ञानोपदेशपाठशाला" "मुहर केन्द्रीय विद्यालय" नामकयोः द्वयोः विद्यालययोः प्राप्ता। वयसः सप्तदशे वर्षे एतेषां विवाहोऽभवत्। किन्तु विवाहेन एतेषाम् अध्ययनस्य उत्साहः न्यूनतां न गतः। फलतः एभिः कलिकाताविश्वविद्यालयात् १९४१ वि० संवत्सरे स्नातकस्य, १९४९ वि० संवत्सरे विधिशास्त्रस्य च परीक्षा उत्तीर्णा। सम्पूर्णस्य साहित्यस्य सर्वेषां काव्यानाम् अध्ययनमपि एभिः कृतम्।

अनेन प्रकारेण विद्यायाः प्रकाशेन प्रकाशितम् एकं महत्तमं व्यक्तित्वम् एभिः धारितम्। एतेषां स्वरूपमेव भारतीयसंस्कृतेः प्रतीकः आसीत्। ऐतेषां सौम्यतायाः प्रतीकः गौरवर्णा देहयष्टिः शुभ्रैर्वस्त्रैः आवृता भूत्वा द्विगुणां सोम्यतां, शुभ्रतां च धारयति।

तेजसा दीप्तस्य शिरसः उपरि स्थितः सित उष्णीषः, विस्तृतस्य ललाटस्य मध्ये स्थितः तेजस्वितायाः प्रतीकः चन्दन-तिलकः, मुखात् प्रस्फुटा विशुद्धा, सत्या, कल्याणी च वाणी, परोपकारेण प्रपूरितं निश्छलं हृदयम् इत्येतत्सर्वं भारतीयायाः संस्कृतेः प्रतीकतां बिभर्ति। पण्डितश्रीरामकुबेरमालवीयमहोदयैः उचितमेव वर्णितं यत्—

अब्धेः पारं विहाराय गत्वा स्नेहान्निवर्तितम्।
यशोहंसं सितोष्णीष-व्याजात् स शिरसा वहन्॥

---

* बी०ए० प्रथम वर्ष, महिलामहाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

मालवीयद्विजस्यास्ये तिलको वर्तुलः सितः ।
जातिप्रीत्येव संलग्नो द्विजराड् बालचन्द्रमाः ।।
सरस्वतीमतिस्नेहात् स्वयमेवागतामिव ।
शिवपादाब्जसंनत्यां विभूतिं संसृतामिह ।।
हृदयस्य विशुद्धस्य बहिर्भूतां छटामिव ।
पताकामिव धर्मस्य सदा मूर्ध्नि समुद्धृताम् ।।

व्यवसायाय मालवीयमहोदयैः तानि एव क्षेत्राणि स्वीकृतानि यानि भारतीयायाः संस्कृतेः समुत्थानाय सहायकानि आसन् । अध्यापनं, सम्पादनं, न्यायवादित्वम् एषु प्रमुखाणि । एभिः वर्षद्वयं यावत् १९४२-४४ वि० संवत्सरेषु प्रयागस्य राजकीये माध्यमिकविद्यालये अध्यापनं कृतम् । एतैः आँग्लभाषायाम् "इण्डियन यूनियन"-"हिन्दुस्तान"-नामकयोः द्वयोः पत्रयोः सम्पादनं कृतम् । एवमेव मर्यादा-नामकस्य मासिकस्य, अभ्युदय-नामकस्य साप्ताहिकस्य, लीडर-नामकस्य दैनिकस्य पत्रस्यापि सम्पादनमेभिः कृतम् । एतेषां पत्राणि अद्यापि पत्रिकारतायाः मानदण्डं स्थापयन्ति । उचितन्यायस्य प्रतिष्ठायै एभिः प्रयागस्य उच्चन्यायालये वाक्कीलवृत्तिः समारब्धा । एते उचितन्यायस्य प्रवर्तकाः विधिशास्त्रस्य महान्तः ज्ञातार आसन् । एते न्यायालये असत्यं निर्णयं कदापि न स्वीकुर्वन्तिस्म, तथैव असतः पक्षस्य वादमपि ।

यदा आंग्लशासनस्य अंकुशेन भारतीया संस्कृतिः पतनोन्मुखी भूता तदा तस्याः समुत्थानाय, आंग्लशासनस्य समाप्त्यै च निश्चयं कृत्वा एभिः राजनैतिके क्षेत्रे प्रवेशः कृतः । १९४३ वि० संवत्सरे एभिः कांग्रेसस्य सदस्यता स्वीकृता । ततः प्रभृति मृत्युपर्यन्तं एभिः स्वातन्त्र्याय संग्रामः कृतः ।

मालवीयमहोदयः सक्रियः राजनेताऽऽसीत् । विविधेषु अवसरेषु स्थानेषु आयोजितानां कांग्रेस अधिवेशनानामेभिः सभापतित्वं कृतम् । तत्र स्वागतमन्त्र्यपि असौ नियुक्तः । विविधेषु राजनैतिकेषु सम्मेलनेषु अपि एषः भागमगृह्णात् । १९६७ वि० संवत्सरात् प्रभृति १९७५ वि० संवत्सरपर्यन्तं एते हिन्दीसाहित्यसम्मेलनानां सभापतयः नियुक्ताः । एभिः १९६६, ७ , ८९, ९० एतेषु वि० संवत्सरेषु "भारतीय राष्ट्रीय सम्मेलनानां" सभापतित्वं कृतम् । एभिः १९७६ वि० संवत्सरस्य अधिनियमस्य विरोधे ऐतिहासिकं भाषणं दत्तम् । १९८१ वि० संवत्सरात् प्रभृति १९८५ वि० संवत्सरपर्यन्तं मालवीयचरणाः महासभायाः सदस्याः अभवन् । १९८०, ८१, ९३ एतेषु वि० संवत्सरेषु एते हिन्दूमहासभायाः अपि सभापतयः नियुक्ताः । एते १९९५ वि० संवत्सरे सत्याग्रहे मुम्बापुर्यां दिल्लीनगरे च भागमगृह्णन्, अस्मात् हेतोः एभिः कारागारस्य प्रथमा यात्राऽपि कृता । १९९८-९९ विं० संवत्सरे मालवीयपादाः गोलमेजसम्मेलने सम्मिलिताः । अनेन प्रकारेण सक्रिये राजनेतृस्वरूपे एतेषां छविः अद्वितीया वर्तते । मालवीयमहोदयैः एतेषा सम्मेलनानां, सभानां च माध्यमेन भारतीयायाः संस्कृतेः सदैव रक्षा कृता ।

महामनस्स्वेतेषु भारतीय-संस्कृतेः स्थूलानि सूक्ष्माणि च सर्वाण्येव तत्त्वानि सन्निहितानि आसन् । भारतीयसंस्कृतेः मूलमन्त्रः अस्ति अहिंसा, सत्यम्, अस्तेयं, ब्रह्मचर्यम्, अपरिग्रहश्चेति पञ्चमहाव्रतानि । महामना असौ एषां व्रताना मूर्तं स्वरूपम् आसीत् । एते मनसा वाचा कर्मणा च अहिंसायाः प्रपूजकाः आसन् । एते स्वकीये उपदेशे सर्वदा कथयन्तिस्म यत्—

स्त्रीणां समादरः कार्यः दुःखितेषु दया तथा।
अहिंसका न हन्तव्या, आततायी वधार्हणः॥

अपि च जीवितुं यः स्वयं चेच्छेत्, कथं सोऽन्यं प्रघातयेत्।
यद्यदात्मनि चेच्छेत् तत्परस्याऽपि चिन्तयेत्॥

एते कटुवचनानां प्रयोगेण कस्यापि मानस्य हानिं न कुर्वन्ति स्म। अनया भावनयैव एते विद्यालयस्य निर्माणाय परैः दत्तस्य एकस्य लक्षाणां वा रूप्यकाणां समभावेन ग्रहणं कुर्वन्ति स्म।

सत्यपरा महामनसः असत्यस्य पक्षस्य समर्थनं कदापि न कुर्वन्तिस्म। एते सदैव सत्यमेव वदन्ति स्म। अप्रियमपि सत्यं वदितुम् ऐते समर्थाः आसन् न तु प्रियमपि असत्यम्। एते सत्य-मूलस्य सनातनधर्मस्यावलम्बिनः आसन् अतः "सत्यमेव जयते नानृतम्" इति एतेषां मन्त्रः आसीत्।

अस्तेयस्य प्रतिष्ठायै एभिः यत्नः कृतः। "केनाऽपि प्रकारेण अनधिकृतानां वस्तूनां सेवनं न कर्तव्यमिति" एतेषां शिक्षा आसीत्।

एतेषां बचनामृतमासीत् यत्—

अभयं सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं धृतिः क्षमा।
सेव्यं सदामृतमिव स्त्रीभिश्च पुरुषैस्तथा॥

ब्रह्मचर्यस्य स्थापनायै एभिः उपदेशः कृतः। एते विद्यार्थिनः ब्रह्मचर्यस्य पालनाय प्रेरयन्तिस्म। एतेषामुपदेशः आसीत् यत् ब्रह्मचर्यमेव शरीररूपस्य देवालयस्य रक्षकं वर्तते। ब्रह्मचर्यमेव अस्मभ्यं तदात्मबलं ददाति येन वयं संसारं जेतुं समर्थाः भवाम इति।

मालवीयमहोदयाः महान्तः अपरिग्रहिणः आसन्। देशस्य जनाः एभ्यः प्रायेण प्रति-दिनमेव विपुलं धनम् अर्पयन्तिस्म। तत् सर्वम् एभिः विश्वविद्यालयकोशाय प्रदीयतेस्म। तस्मात् काणीवराटिकापि एभिः स्वस्य कृते न गृहीता। एतेषां परिवारस्य पोषणमपि अतिदुष्करम् आसीत्। तथापि एतेषां मनः कदापि विश्वविद्यालयधनं ग्रहीतुं नाऽभवत्। "विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः" इति यत् कालिदासस्य वचः तत् एषु सत्यापितमासीत्। पद्मपत्रस्येवैतेषा निर्लेपता स्मरणेनाऽपि चित्तं निर्मलयति।

मालवीयमहोदयाः आश्रमव्यवस्थाया अपि उन्नत्यै तत्पराः आसन्। आश्रमव्यवस्था भारतीयसंस्कृतेः एकमपूर्वमाकर्षणं वर्तते। आश्रमव्यवस्थायाः पुनःस्थापनायै एभिः "हरिद्वार-नगरे" एकस्य "ब्रह्मचर्यआश्रमस्य" स्थापना कृता। आश्रमोऽयम् इदानीमपि स्वस्मिन् उद्देश्ये सफलो वर्तते अद्यापि अयमाश्रमः हिन्दूसमाजस्य भारतीयसंस्कृतेश्च केन्द्रं वर्तते।

संस्कृतेः स्थायित्वं शिक्षया एव सम्भाव्यते। महात्मनां मालवीयमहोदयानां शिक्षायाः उन्नत्यै अद्वितीयं योगदानं वर्तते। ऐषां विचारः आसीत् यत् "शिक्षा सर्वेषां परिष्काराणां मूलं वर्तते।" भारतीयसंस्कृतेः रक्षार्थं शिक्षायाः महत्त्वं ज्ञात्वा एभिः १९६१ वि०संवत्सरे "काशी-हिन्दूविश्वविद्यालयस्य" स्थापनायै संकल्पः कृतः, यत्नश्च आरब्धः। १९७२ वि०संवत्सरे एतेषां भागीरथः प्रयत्नः सफलो जातः यदा अस्य विश्वविद्यालस्य आधारशिला तदानीन्तनगवर्नरजनरल-

लार्डहार्डिग महोदयेन न्यस्ता ततः परम् अयं विद्यालयः निर्मितोऽभवत् । अस्मिन् विद्यालये त्रीणि संस्थानानि, त्रयोदशसंकायाश्च विलसन्ति । तेषु प्रायेण सर्वेषामपि ज्ञानविज्ञानानाम् उच्चतमा शिक्षा प्रदीयते, अनुसंन्धानानि च प्रवर्तन्ते । मालवीयमहोदस्य इयं कल्पनाऽसीत् यत् "शिक्षायाः क्षेत्रे भारतवर्षम् आत्मनिर्भरं भवतु" । अस्याः कल्पनायाः सिद्धये एभिः विद्यालयेऽस्मिन् "प्रौद्योगिकीविज्ञानादीनां विषयाणां शिक्षायाः व्यवस्था तस्मिन् समये कृता यस्मिन् समये एतेषां विषयाणामुपरि केवलानां पश्चात्यदेशानामेव अधिकारः आसीत् । अस्य विद्यालयस्य त्रयोदशमीलव्यापि क्षेत्रं पश्यतां चंक्षूषि विस्फारयति । अस्मिन् क्षेत्रे निर्मितानि भवनानि सुवर्णश्रृंगमण्डितानि विद्यामन्दिराणीव दृश्यन्ते । भगवतः विश्वनाथस्य कुतुबमीनारादपि उन्नतं हिमशुभ्रं प्रविशालं मन्दिरं भारतीयां संस्कृतिं दिगन्तेषु उत्कीर्णयतीव । संस्कृत-वाङ्मयस्य विद्वांसः विद्यालयेऽस्मिन् चतुर्णामपि वेदानां पारायणम् अनुतिष्ठन्ति । श्रीमद्भगवद्गीतायाः प्रवचनं प्रतिरविवारं प्रवर्तते । श्रीमद्भागवतस्य रामचरितमानसस्य च प्रवचनानि अस्य महतः विद्यामन्दिरस्य अपरो विशेषः । सर्वधर्मसमन्वयः भारतीयसंस्कृतेः अपरो गुणः । पुरुषाणामिव नारीणां शिक्षायाः अत्र समाना व्यवस्था वर्तते । द्विजानामिव अन्त्यजानामपि समान एव अधिकारः शिक्षायाम् अत्र । प्रायेण सहस्राणां विंशतिः अत्र विद्याभ्यासं करोति छात्राणां । अनेनास्य देशस्य सर्वांगीणस्य विकासस्य विचारः स्पष्टो भवति । इदमपि सिद्धं यत् विद्यालयोऽयं भारतीयायाः संस्कृतेः रक्षकः वर्तते ।

भारतीयसंस्कृतौ 'सौम्यतया सह तेजस्वितायाः महत्त्वं वर्तते । एते सौम्यतायाः प्रतिमूर्तयः आसन् । किन्तु तेजस्वितायाः सन्निवेशः अपि एतेषु आसीत् । एते एकस्य राज्ञः सचिवः आसन् । एभिः राज्ञः पूर्वमेव वचनं गृहीतं यत् "सुरां पीत्वा मया सह वार्ता न क्रियेत" । यदा राज्ञा प्रतिज्ञायाः उल्लंघनं कृतम् तदा तेजस्वितायाः मूर्तयः एते तस्मिन्नेव क्षणे पदं त्यक्तवन्तः । उज्ज्वलतममिदमुदाहरणं सच्चरित्रतायाः ।

भारतीयायाः संस्कृतेः विशेषः वर्तते कलासु प्रीतिः । मालवीयमहोदयाः अद्वितीयाः कलाप्रेमिण आसन् । एते नाटकेषु अभिनयं कुर्वन्तिस्म । इदं सुविदितं यत् एभिः महाकविना कालिदासेन विरचिते "अभिज्ञानशाकुन्तल" नामके नाटके नायिकायाः शकुन्तलायाः, शेक्सपीयरेण आंग्लभाषायां विरचिते "मर्चेन्ट आफ वेनिस" नामके नाटके नायिकायाः पोर्शियायाः अभिनयः कृतः । एभिरेव विद्यालयेऽस्मिन् सर्वप्रथम् संगीतविभागस्य स्थापना कृता । कलायाः एकः अन्योपि पक्षो वर्तते । स च विचाराणाम् अभिव्यक्तिः । एते स्वान् विचारान् व्यंजयितुं पूर्णरूपेण समर्थाः दक्षाश्च आसन् । एभिः बाल्यकालादेव वक्तृतायाः अभ्यासः कृतः । वाङ्माधुर्येण महामनसः मालवीयाः "रजतरसना" उच्यन्तेस्म ।

संस्कृतेः धर्मेण सह घनिष्ठः संबन्धः वर्तते । वस्तुतस्तु "धर्म एव संस्कृतिः । अतः धर्मरक्षकाः मालवीयाः संस्कृतेरपि संरक्षकाः आसन् । एतेषां कथनमासीत् "धर्मोहि परमं धनम्" ।

भारतीयसंस्कृतौ सम्मानेन पूजितस्यैव जीवनस्य महत्वं वर्तते । एतेषां कथनमासीत् यत् "मान-प्रतिष्ठा-गौरवाणां रक्षायै प्राणत्यागोऽपि श्रेष्ठः । एतेषां वचनामृतमासीत् यत्—

सत्येन ब्रह्मचर्येण व्यायामेनाथ विद्यया ।
देशभक्त्यात्मत्यागेन सम्मानार्हः सदा भव ॥

संस्कृते रक्षार्थं नियमानां पालनम् आत्मशुद्धेः चरित्रोन्नतेः, शरीरसौष्ठवस्य, गोरक्षायाः, परोपकारस्य माहात्म्यम् एभिः निपुणं प्रकटितम्। प्राप्ते समये एते वाहनेपि संध्योपासनं कुर्वन्तिस्म। एतेषां विचारः आसीत् यत् चरित्रहीनेभ्यः जगति स्थानं न वर्तते। चरित्रवन्तो भूत्वा यदा केपि छात्राः विद्वांसः भवन्ति तदैव मम विद्यामन्दिरं सफलतां प्राप्स्यसि। मनसः बुद्धेश्च सौष्ठवेन सह शरीरस्यापि सौष्ठवं प्रति एभिः ध्यानं दत्तम्। एतेषां कथनमासीत् "पुरुषार्थानां मूलमारोग्यम्, शरीरसौष्ठवाय दुग्धं पेयं व्यायामश्च कार्यः।" दुग्धोत्पादनवृद्धये गवां रक्षायै च एभिः गोरक्षाव्रतं गृहीतम्। एतेषां विचाराः आसन् यत् "गौः अस्माकं जननी वर्तते। सा तृणपत्राणि खादित्वा अस्मभ्यम् अतिगुणकरं दुग्धं ददाति। अतः गोरक्षा अस्माकं धर्मो वर्तते।" अनेनैव विचारेण एभिः गोरक्षासम्मेलनानामायोजनं सभापतित्वं च कृतं। परोपकारः भारतीयसंस्कृतेः आधारो वर्तते। महामनसा सदैव परोपकारः कृतः। परोपकारस्य भावनयैव एभिः उक्तम्—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नाऽपुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥ इति,

अपि च

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥ इति।

एकस्य महापुरुषस्य संस्कृतेः कृते अतः श्रेष्ठा का नु आस्था भवेत्? एतेन स्पष्टं यत् महामनसः पण्डितश्रीमदनमोहनमालवीयमहोदयाः भारतीयसंस्कृतेः प्रतीकाः आसन्॥

आसन् प्रतीको धर्मस्य तद्वदेवार्यसंस्कृतेः।
मालवीय-महात्मन इति सत्यं सनातनम्॥

✲

२४.१२.८३ को १२३वीं मालवीय जयन्ती के अवसर पर संपन्न निबन्ध-लेखन-प्रतियोगिता में पुरस्कृत संस्कृत निबन्ध।

विश्वव्यापी पेय जल-समस्या और हिमशिलायें

भारत भूषण जैन*

जल की आवश्यकता :

'अमर कोश' में जल को जीवन का पर्याय कहा गया है। प्राकृतिक चिकित्सकों के मतानुसार अधिक पानी पीना लाभप्रद ही नहीं बल्कि स्वस्थ जीवन का एकमात्र साधन है। दीर्घकाल से चिकित्सक अधिक जल पीने के लिए कहते आ रहे हैं। चाणक्य के मतानुसार अजीर्ण होने पर जल औषधि है। भोजन करने के समय जल अमृत है। शरीर में जल की मात्रा सर्वाधिक है किन्तु शरीर से जल का क्षय बराबर होता रहता है। इसलिए कुछ जीवविज्ञान-शास्त्रियों का मत है कि व्यक्ति को प्रति घंटे एक गिलास पानी पीते रहना चाहिये। प्राकृतिक चिकित्सा शास्त्री ब्रिज ने अपनी पुस्तक 'डायरेक्टिव्स फार दी क्लीनिशियन' में लिखा है कि अधिक पानी पीना पाचन प्रणाली में बैक्टीरिया की घुलनशीलता को घटाता है।

इस पृथ्वी पर जिसका ७०% भाग पानी में डूबा है, जल का कुल आयतन १३८६ करोड़ घन किलोमीटर है। यदि इस जल को पृथ्वी के समस्त धरातल पर एक सा फैला दिया जाय तो इस जल की परत ३७०० मीटर से भी अधिक गहरी होगी। इस जल का कुल ९६.५ प्रतिशत (१३३८ करोड़ घन किलोमीटर) समुद्री जल है। शायद यह कहना अधिक तर्कसंगत होगा कि हम अपने ग्रह को पृथ्वी के स्थान पर सागर कहें। इसमें से ९७ प्रतिशत भाग सागरों व महासागरों में साढ़े तीन प्रतिशत नमक युक्त खारापन लिए हुए है जो पीने के योग्य नहीं है एवं २ प्रतिशत भाग पर्वत शिखरों पर हिम के रूप में जमा हुआ है, शेष भाग का मात्र १ प्रतिशत भाग पेयजल के रूप में उपलब्ध है।

अन्तर्राष्ट्रीय जल विज्ञान दशाब्दी में रूसी वैज्ञानिकों ने एक क्रमिक तालिका प्रस्तुत की है, जिससे यह ज्ञात होता है कि विश्व के ताजे जल के भण्डार जिसमें नदियां, झीलें, पृथ्वी के नीचे का जल, बर्फीले मैदान और बर्फीली चोटियां शामिल हैं, कुल मिला कर ३५० लाख घन किलोमीटर है अथवा पृथ्वी के कुल जल का २ प्रतिशत है, किन्तु शीघ्र ही उपलब्ध जल की मात्रा अपेक्षाकृत इससे भी कम है, क्योंकि इन भंडारों का ७० प्रतिशत (२४० लाख घन किलोमीटर से भी अधिक) आर्कटिक, अंटार्कटिक और ग्रीनलैंड में जमी हुई हिम है और यह आसानी से प्राप्य नहीं है।

यदि पृथ्वी का आकार एक बड़े संतरे के बराबर माना जाये और उसका समस्त जल चाहे वह वायु, भूमि के नीचे, महासागरों, समुद्रों, झीलों तथा नदियों के रूप में हो तो वह उस संतरे के छिलके में 'पिपेट' के द्वारा बड़ी सावधानी से डाली गई जल की एक छोटी सी बूंद से अधिक न होगा। ऐसी अवस्था में जल की वह लगभग पूरी बूंद (९७ से ९८%) विश्व के महासागरों और समुद्रों के लवण जल से बनी होती है और शेष दो या तीन प्रतिशत स्वच्छ

* शोधछात्र, भूगोल विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

जल से। स्वच्छ जल की यह छोटी मात्रा मानव जीवन के लिए अत्यावश्यक समझी जाती है। स्वच्छ जल की यह मात्रा इस संतरे की तुलना में इतनी कम है कि वह एक सूई की नोंक से भी कम दिखाई देगी। पर इस स्वच्छ जल में भी गंदगी घोल कर उसे आज का औद्योगीकृत मानव-समाज विष बना रहा है और इसका मनमाना उपभोग करके अपव्यय कर रहा है।

स्वच्छ जल का अभाव :

अधिकांश देशों में मानवीय उपभोग तथा उपयोग के लिए जल का प्रमुख स्रोत नदियां और झीलों में भरा हुआ सतही जल है और भविष्य में भी यही जल काम आयेगा, परन्तु ये जल भण्डार असीम जलराशि से कहीं कम है। नवीनतम आँकड़ों के अनुसार नदियों और झीलों में २५,००० घन किलोमीटर से अधिक जल नहीं है। पृथ्वी पर कुल वार्षिक वृष्टिपात १,१९,००० घन किलोमीटर है, परन्तु इस जलराशि का ४५,००० घन किलोमीटर जल आर्कटिक और अंटार्कटिक के हिमनदों द्वारा समुद्र में जाता है, शेष जल भाप बनकर वायुमण्डल में उड़ जाता है अथवा पृथ्वी में छन कर गहराई तक पहुँच जाता है। इस प्रकार वार्षिक वृष्टिपात से नदियों का जल-प्रवाह बना रहता है और जल वितरण में अवरोध नहीं हो पाता। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पृथ्वी पर 'जल अभाव' मुख्य समस्या नहीं है, किन्तु प्रमुख समस्या स्वच्छ ताजे जल को प्राप्त करने की है।

विश्व के कुछ देशों में और उनके अंशभूत क्षेत्रों में स्वच्छ एवं ताजे जल का अभाव है और यह अभाव जनसंख्या की वृद्धि, उद्योग और कृषि के विकास के कारण निरन्तर बढ़ता जा रहा है। यह स्थिति तब और भी गम्भीर हो जाती है जब लोग पानी को प्रकृति की मुफ्त देन समझ कर बड़ी लापरवाही से प्रयोग करते हैं। इसके कारण पानी प्रदूषण से युक्त हो जाता है, फलस्वरूप पशुओं तथा वनस्पतियों के लिये प्रयुक्त दूषित जल से उनकी अपूरणीय क्षति होती है तथा जीव मण्डल सम्बन्धी परिस्थिति विज्ञान का संतुलन बिगड़ जाता है। सम्प्रति जल प्रदूषण का बढ़ती हुई जनसंख्या से गहरा सम्बन्ध है। उद्योग धन्धे, कृषि व शहरी मल-मूत्र विसर्जन-प्रणाली इत्यादि सभी योजनाएँ बढ़ती हुई जनसंख्या के आँकलन के बाद ही बनाई जाती हैं। अतः बढ़ती हुइ जनसंख्या को यदि जल प्रदूषण का मुख्य-स्रोत कहा जाये तो अतिशयोक्ति न होगी।

दूसरी ओर छोटे-बड़े उद्योग मुख्यतः दवाइयाँ, कपड़ा, कागज, चमड़ाशोधन, रसायन, खाद्यपदार्थ, डेरी, घी इत्यादि सभी उद्योग जहाँ एक ओर अपनी दैनिक आवश्यकताओं के लिए समीपतम नदी या जलाशय से जल लेते हैं, वहीं दूसरी ओर उद्योग जनित मलबे को सीधे उन्हीं जलाशयों में प्रवाहित भी कर देते हैं। वैसे विभिन्न देशों में जल प्रदूषण नियंत्रण विधान के अधीन इस मलबे का अथवा दूषित जल का पुनः शुद्धीकरण अनिवार्य है, किन्तु अधिकतर देशों में इसका पालन नहीं किया जाता है।

स्वच्छ जल का विश्वव्यापी वितरण एवं उपभोग :

निकट भविष्य में मानव जाति के सम्मुख सबसे आवश्यक समस्या यह सामने आयेगी कि स्वच्छ जल कैसे प्राप्त किया जाये? मनुष्य बिना भोजन के चालिस से पचास दिन तक तो

जीवित रह सकता है, किन्तु बिना जल के वह चार दिन से अधिक जीवित नही रह सकता। प्रतिवर्ष नदी के प्रवाहित जल का वितरण अत्यधिक असमान है। पृथ्वी मोटे तौर से दो भागों में विभक्त है: एक तो वह भाग है जहाँ बहुत अधिक आर्द्रता होती है, लेकिन तापमान पर्याप्त नहीं होता है और दूसरा वह भाग है जहाँ आवश्यकता से अधिक तापमान है, लेकिन आर्द्रता बहुत कम है। यूरोप के क्षेत्र का ३३ प्रतिशत, एशिया का ६० प्रतिशत भाग, लगभग संपूर्ण आस्ट्रेलिया, अफ्रीका के अधिकांश क्षेत्र तथा दक्षिणी अमरीका का ३० प्रतिशत क्षेत्र तथा उत्तरी अमरीका के पश्चिमी क्षेत्र का हिस्सा दूसरे भाग के अन्तर्गत आता है। शेष अंश प्रथम भाग में परिगणित है।

इसी प्रकार स्वच्छ जल के वितरण पर विचार करें तो हमें विदित होगा कि सबसे दयनीय अवस्था यूरोप की है जहाँ विश्व की २० प्रतिशत जनसंख्या निवास करती है और स्वच्छ जल के भंडार के मात्र ८ प्रतिशत संसाधन उपलब्ध हैं। एशिया में जहाँ ६० प्रतिशत विश्व की जनसंख्या है, वहाँ स्वच्छ जल का ३१ प्रतिशत भंडार उपलब्ध है।

चिन्ता का विषय यह है कि स्वच्छ जल-संसाधनों के गुणतत्त्वों में निरन्तर कमी हो रही है इससे जल समस्या और भी जटिल होती जा रही है। विश्व भर में नदियों और जलाशयों में उपलब्ध दूषित जल की मात्रा पहले से ही बहुत अधिक है। यदि इस जल को आधुनिक तकनीकी पद्धतियों से शुद्ध भी किया जाये तो इस जल को इतने ही आयतन के शुद्ध जल में कम से कम दस बार घोलना होगा, तब यह जल फिर से उपयोगी हो सकता है। रासायनिक उद्योगों से बहने वाले जल को भी शुद्ध करने के लिए इतने ही आयतन के १०० अथवा २०० गुने शुद्ध जल की आवश्यकता होती है।

मनुष्य को अपने दैनिक उपयोग हेतु कितना स्वच्छ जल चाहिये? इसका अनुमान कुछ उदाहरणों से लगाया जा सकता है। जैसे—एक टन इस्पात बनाने से २५ हजार गैलन, एक टन कागज के निर्माण में ५० हजार गैलन और एक लीटर पैट्रोल तैयार करने में १० लीटर पानी खर्च होता है, एक टन एसीटेट बनाने में २ लाख ५० हजार गैलन जल का प्रयोग होता है तथा एक टन सीमेन्ट बनाने में ३.५ हजार लीटर पानी चाहिये। खानेपीने, कपड़े धोने आदि में प्रतिदिन प्रति व्यक्ति ८० लीटर स्वच्छ जल की आवश्यकता होती है। घरेलू उपयोग में एक आदमी ६० हजार लीटर जल हर वर्ष व्यय करता है, जो कि हमारे कुल उपयोग का ४० प्रतिशत है। दुनिया भर के उद्योग लगभग १६० घन किलोमीटर जल हर वर्ष प्रदूषित करते हैं, इससे जन स्वास्थ्य के लिये लगातार खतरा बढ़ता जा रहा है। साथ ही उपलब्ध स्वच्छ जल की कमी होती जा रही है।

सन् १९०० में विश्व की जनसंख्या १.६७ अरब थी तथा जल की कुल वार्षिक खपत ४०० घन किलोमीटर थी तथा अब विश्व की जनसंख्या ४ अरब हो गई है और जल की खपत २८०० घन किलोमीटर तक पहुँच गई है। नगरों में जीवन स्तर भी उठा है तथा इसीलिए नगरों की बढ़ती हुई जनसंख्या की माँगों के कारण प्रतिव्यक्ति जल की खपत तिगुनी हो गई है। २०१५ में जब कि विश्व की जनसंख्या ८ अरब हो जाने की आशंका है, उस समय हमें २०,००० घन किलोमीटर शुद्ध जल की आवश्यकता होगी। अर्थात् हमारे ग्रह को वर्तमान

समय में उपलब्ध स्वच्छ जल के संसाधनों से प्राप्त जल की अपेक्षा लगभग दुगुनी मात्रा की अपेक्षा होगी ।

समाधान :

इस बढ़ती हुई विकट जल समस्या का समाधान करने के लिए हमारे समक्ष मुख्यतः दो उपाय हैं—प्रथम तो समुद्री जल का शुद्धीकरण और द्वितीय हिमशिलाओं से जल दोहन । समुद्री जल से स्वच्छ जल को अलग करना एक अत्यधिक व्यय साध्य विधि है, जबकि हिमशिलाओं से स्वच्छ जल को प्राप्त करना आर्थिक रूप से लाभदायक होगा ।

पृथ्वी पर उपलब्ध स्वच्छ जल का ७५ प्रतिशत भाग ठोस हिम के रूप में होता है और शेष अन्य रूपों में मिलता है । हिम शिलाओं से स्वच्छ जल दोहन करने की प्रक्रिया एक सर्वथा नवीन प्रयोग है । यह प्रक्रिया अभी अपनी प्रारंभिक अवस्था में है, किन्तु प्रयास काफी उत्साहवर्धक प्रतीत होते हैं । आज से तीस वर्ष पूर्व हिम-शिलाओं से स्वच्छ जल पूर्ति के लिये एक योजना का प्रारूप "स्क्रिप्ट आफ ओशनोग्राफर" नामक संस्था ने तैयार किया था । बाद में योजना को अव्यावहारिक समझ कर ठुकरा दिया गया ।

पेट्रो डालर से सम्पन्न सऊदीअरब में स्वच्छ जल आपूर्ति के लिये आगामी तीन वर्षों (१९८५ के अन्त तक) में सैकड़ों टन वजन की विशाल हिम शिलाएँ लाई जायेंगी । वहाँ पर इन्हें समुद्री किनारे पर प्लास्टिक के कवर से ढक कर रखा जायेगा तथा प्रत्येक हिमशिला तीन वर्षों तक जल आपूर्ति करेगी । इस प्रकार की योजना को कार्यरूप देने के लिये संयुक्त राज्य अमेरिका की "कोल्ड रीजन रिसर्च एण्ड इंजिनियरिंग लेबोरेटरी" में शोध-कार्य हो रहा है ।

स्वच्छ जल का अपरिमित भण्डार

हिम शिलायें (Iceberg) १०० प्रतिशत शुद्ध जल से बनी होती हैं । पूरे विश्व में इनका विस्तार ६० लाख वर्ग किलोमीटर क्षेत्र पर है । एक अनुमान से केवल दक्षिणी ध्रुव से ही प्रतिवर्ष १०००० अरब घन मीटर हिम हिमशिलाओं के रूप में बहकर समुद्र में मिलता है, इसके विपरीत हिमशिलाओं के स्रोतों—दक्षिणी ध्रुव, उत्तरी ध्रुव तथा ग्रीनलैण्ड पर हिम की उतनी और सम्भवतः उससे भी अधिक मात्रा हिमपात द्वारा पूरी हो जाती है । इस प्रकार उत्तरी व दक्षिणी ध्रुव हिमशिलाओं के स्रोत के रूप में शुद्ध जल के अक्षय अपरिमित भण्डार हैं । इनका निर्माण हिम की तह पर तह के जमने से होता है, भारी दबाव के कारण ये हिम-शिलायें काफी कठोर हो जाती हैं । ग्रीनलैण्ड में हिमशिलाओं की ऊँचाई तीन किलोमीटर से अधिक ज्ञात की जा चुकी । भारी दबाव के कारण हिमशिलायें फिसल कर समुद्र में जा गिरती हैं तथा प्रवाह के साथ बह कर समुद्री जहाजों आदि के लिए खतरा बनती हैं । ग्रीनलैण्ड में औसतन प्रतिवर्ष २०००० हिमशिलाएँ समुद्र में गिरतीं हैं । समुद्र के बाहर हिमशिला का मात्र १/४ भाग ही तैरता हुआ दृष्टिगोचर होता है शेष ३/४ भाग समुद्री जल की सतह के अन्दर रहता है । इनका व्यास ४०० से ५०० फुट तक होता है । यह त्रिभुजाकार तथा चतुर्भुजाकार स्वरूपों में मिलती हैं । इनके शीघ्र गलने का मुख्य कारण यह है कि ये सूर्य के

९० प्रतिशत प्रकाश को परावर्तित कर देती हैं। हिमशिलाओं की रचना अत्यधिक कठोर होती है तथा इनके अन्दर वायु को जरा भी स्थान नहीं मिल पाता है अतः ये शीघ्र नहीं पिघलती हैं। ये हिम-शिलायें अत्यधिक ठंडी होती हैं, जिससे किसी भी प्रकार के जीवाणु या अन्य हानिकारक जीव जीवित नहीं रह सकते हैं। इस प्रकार से इनका महत्व बढ़ जाता है। इन हिमशिलाओं से १०० प्रतिशत शुद्ध जल प्राप्त किया जा सकता है, जिसमें लवण की मात्रा विलकुल भी नहीं होगी।

हिम स्रोतों की विभिन्न स्थितियों के अनुसार ही हिमशिलाओं की प्रकृति में भी अन्तर पाया जाता है। उत्तरी व दक्षिणी ध्रुवों पर पाई जाने वाली हिमशिलाओं में काफी अन्तर है। उत्तरी ध्रुव में हिमशिलाएँ अधिकतर ग्रीनलैंड से आती हैं, जो आकार में छोटी तथा विषम होती हैं, जिन्हें परिवहन (Transportation) करना लाभदायक नहीं हो सकता है। इसके विपरीत दक्षिणी ध्रुव या अन्टार्कटिक समुद्र में पाई जाने वाली हिमशिला ध्रुव प्रदेश से टूट कर बनती हैं, अतः ये चतुर्भुजाकार व अत्यधिक विशाल रूपों में होती है। अन्टार्कटिक से उत्तर दिशा में चलने वाली समुद्री धाराएँ इनके परिवहन में सहायक नहीं हैं। इनके विशाल स्वरूप तथा समुद्री दशाओं को देखने से लगता है कि हिमशालाओं का परिवहन कार्य अत्यन्त कठिन है, परन्तु जहाँ आज मनुष्य चन्द्रमा को पीछे छोड़ शुक्र ग्रह पर मानव को वैठाने की तैयारी कर चुका है, इसके अनुपात में यह हिमशिलाओं का परिवहन कार्य अत्यन्त सरल है।

अनुसन्धान कार्य :

हिमशिलाओं की उपयोगिता को समझ कर आज विश्व के सुविधा सम्पन्न पश्चिमी देश हिमशिलाओं की सहायता से पेयजल की समस्या हल करने के लिए अनुसन्धान कार्यों में जुटे हुए हैं।

स्टेट युनिवर्सिटी आयोवा में 'इन्टरनेशनल आइसबर्ग युटिलाइजेशन कान्फ्रेंस' का आयोजन सऊदी अरब के मोहम्मद शाह फैजल के सहयोग से १९७८ में किया गया था, जिसमें विश्व के विभिन्न देशों से लगभग २०० वैज्ञानिकों ने भाग लिया था। इस आयोजन में विशेष रूप से ४७८५ पौंड वजन की छोटी हिमशिला को चार हजार किलोमीटर दूर से जहाज व ट्रक की सहायता से लाया गया था। इससे प्रेरणा प्राप्त कर कैलिफोर्निया शहर के लिए स्वच्छ जल प्राप्त करने की एक ऐसी योजना पर विचार हो रहा है, जिसमें अंटार्कटिक सागर से एक विशाल हिमशिला का परिवहन 'टग' जहाज द्वारा केलिफोर्निया के तट तक किया जायेगा।

अमेरिका का रक्षा विभाग 'नासा' के सहयोग से कृत्रिम सैटेलाइटों द्वारा विभिन्न हिमशिलाओं का निरीक्षण कर रहा है। भारो भरकम हिमशिलाओं के परिवहन के लिये अमेरिका की नाडार्क कम्पनी ने कई योजनाएँ बनाई हैं। अब तक चार लाख टन वजन के सौ से भी अधिक हिमशिलाखण्डों का सफलतापूर्वक स्थान परिवर्तन इस कम्पनी द्वारा किया जा चुका है।

रूस ने अंटार्कटिक सागर में ४ किलोमीटर लम्बी हिमशिला पर एक अनुसन्धान केन्द्र तथा सैनिक छावनी का निर्माण किया है। आवागमन के लिये इस शिला पर ७००० फुट लम्बी

हवाई पट्टी भी है, जिस पर से सैकड़ों विमान और हेलीकाप्टर नित्य उड़ान भरते हैं। इस हिमशिला का नामकरण 'एन० पी० २२' किया गया है।

तटीय नगरों व खेती के लिये जल आपूर्ति हेतु सैनाडिगों के वैज्ञानिकों द्वारा एक योजना बनाई गई है, जिसमें हिमशिलाओं को 'टग' जहाजों के द्वारा घसीट कर किनारे लाया जायेगा। इस प्रकार के एक पाइलट प्रोजेक्ट (Pilot Project) पर मात्र साढ़े चार लाख डालर खर्च करने का लक्ष्य है। आयोवा कान्फ्रेंस में एक अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक आयोग की स्थापना की गई है, जिसका कार्य इस विषय से सम्बन्धित आवश्यक सैद्धान्तिक और प्रायोगिक अनुसंधान करना है। इस आयोग के सदस्य दस अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त वैज्ञानिक हैं।

हिमशिलाओं से स्वच्छ जल सुगमतया व कम व्यय में उपलब्ध कराने हेतु निरन्तर अनुसंधान हो रहे हैं, जिनमें से कुछ कार्यों की संक्षिप्त विवेचना ऊपर की गई है। अब वह दिन दूर नहीं है जब वाटर सप्लाई कम्पनी के स्थान पर अंटार्कटिक वाटर सप्लाई कम्पनी स्वच्छ जल पहुँचाने का कार्य करेगी।

संस्कृत-मुक्तक-काव्यपरम्परा और आर्यासप्तशती

कैलाश नारायण तिवारी*

जिस शैली में गाथासप्तशती, आर्यासप्तशती और अमरूकशतक आदि की रचना हुई है, शास्त्रीय भाषा में उसी को मुक्तक काव्य कहा जाता है। भाषा भेद के आधार पर आचार्य आनन्दवर्धन ने मुक्तक के तीन भेद बतलाएँ हैं—(१) संस्कृतनिष्ठ, (२) प्राकृतनिष्ठ, (३) अपभ्रंशनिष्ठ।[1]

"मुक्तकं संस्कृतप्राकृतापभ्रंशनिबद्धम्।" [ध्वन्यालोक ३. ७]

अभिनवगुप्त के अनुसार—

मुक्तकमन्येनानालिङ्गितं, तस्य संज्ञाया कन्।
पूर्वापरनिरपेक्षणापि हि येन रसचवर्णा क्रियते तदेव मुक्तकम्॥

पूर्वापर जिसका संबंध न हो, जो अपने अर्थ को स्वतः प्रकट करने में सिद्ध हो, ऐसे पद्य को मुक्तक काव्य कहते हैं। तरुणवाचस्पति से अनुसार "इतर की अपेक्षा न रखने वाला सुभाषित काव्य" मुक्तक काव्य है—

मुक्तकमितरानपेक्षमेकं सुभाषितम्।[२अ]

अग्निपुराण के अनुसार—"काव्य में एकमात्र सत्ता रखने वाला तथा सहृदयों को चमत्कृत करने वाला श्लोक मुक्तक है—

मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षमः सताम्।[२]

इस प्रकार काव्य में स्वतन्त्र सत्ता 'बनाये रखने वाले तथा पूर्वापर अर्थ की अपेक्षा रहित रसयुक्त पद्य या पद्य-समूह को मुक्तक काव्य कहा जाता है। एक पद्य रस की पूर्ण अनुभूति और विषय को सांगोपांग प्रस्तुति में पूर्ण समर्थ होता है। अमरूक के मुक्तक की प्रशंसा करते हुए आनन्दवर्धनाचार्य ने लिखा है कि--

मुक्तकेषु हि प्रवन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते।
यथा ह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तकाः शृङ्गाररसस्यन्दिनः प्रबन्धायमानाः
प्रसिद्धा एव॥ ध्व. ३.७ वृत्ति॥

आर्यासप्तशती के निर्माता आचार्य गोवर्धन के समक्ष दो आदर्श ग्रन्थ थे—गाथासप्तशती और अमरूकशतक। तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि आर्यासप्तशती की रचना करते समय कवि ने उपर्युक्त दो प्रमुख मुक्तक ग्रन्थों के अतिरिक्त संस्कृत के अन्य प्रबन्ध काव्यों से भी प्रेरणा प्राप्त की है।

राजतरंगिणी के आधार पर आचार्य गोवर्धन सेन वंशीय शासक राजा लक्ष्मणसेन के आश्रित कवि थे।

---

* शोधछात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

सकलकलाः कल्पयितुं प्रभुः प्रबन्धस्य कुमुदवन्धोश्च ।
सेनकुलतिलकभूपतिरेको राकाप्रदोषश्च ।।[३]

लक्ष्मणसेन के आश्रित कवि गोवर्धन और "पवनदूत" के रचयिता धोयी, एवं गीतगोविन्दकार—जयदेव तीनों का काल लगभग समान है—

गोवर्धनश्च शरणो जयदेव उमापतिः ।
कविराजश्च रत्नानि समितौ लक्ष्मणस्य तु ।।

इन तीनों कवियों का सम्बन्ध मधुर और प्रीतिकर था—

शृङ्गारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धन-
स्पर्धी कोऽपि न विश्रुतः श्रुतधरो धोयी कविक्ष्मापतिः[४]

कवि का कवित्व निर्वाह उसकी सफलता की पूंजी है :

"कविः क्रान्तिदर्शी भवति कवते वा" के अनुसार कवि के लिए साहित्यिक ज्ञान के अतिरिक्त शास्त्रज्ञान, लोकज्ञान और सूक्ष्मनिरीक्षण की पैनी दृष्टि अपेक्षित है । जिस प्रकार सुन्दरबाला के सौन्दर्य में अवयवगत सुडौलता के अतिरिक्त लावण्य नामक अनिर्वचनीय तत्त्व सन्निविष्ट होता है उसी प्रकार महाकवि की वाणी में छन्द, अलंकार, गुणादि के अतिरिक्त अनिर्वचनीय प्रतीयमान अर्थ का भी सन्निवेश होना चाहिए—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव, वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।[५]
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं, विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ।। ध्व. १.४ ।।

प्रतीयमान अर्थ के उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

अंगेषु जीर्यति परं खंजनयूनोर्मनोभवप्रसरः ।
न पुनरनन्तर्गर्भितनिधिनि धरामण्डले केलिः ।।[६]

यहाँ कवि एक ओर तो नायिका के माध्यम से यह कहलाना चाहता है कि—प्रिय, रतिक्रीड़ा अत्यन्त सुरक्षित, मूल्यवान् एवं गुप्त स्थल पर की जाती है । तत्क्षण तुम्हारी अभिलाषा मैं पूरी नहीं कर सकती । दूसरी वह खंजनपक्षी के रतिक्रीड़ा संबंधी ज्ञान प्रस्तुत करता है । खंजनपक्षी गुप्तस्थल पर रतिक्रीड़ा करते हैं । पुनः गोवर्धन नेत्रों की उत्कृष्टता बतलाने के लिए जैनसिद्धान्त का सहारा लेते हैं—

अतिपूजिततारेयं दृष्टिः श्रुतिलङ्घनक्षमा सुतनु ।
जिनसिद्धान्तस्थितिरिव सवासना कं न मोहयति ।।[७]

कवि का लोकज्ञान सहज एवं सरल है । नायिका के लिए प्रिय को देखने, उससे मिलने, बातें करने में गुरुजनों और माता-पिता का भय सदैव बाधक होता है । इसलिए प्रिय को प्रासाद के झरोखों से देखती है—

सौधगवाक्षगतापि हि दृष्टिस्तं स्थितिकृतप्रयत्नमपि ।
हिमगिरिशिखरस्खलिता गंगेवैरावतं हरति ।।[८]

उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि उनकी अभिरुचि का क्षेत्र लोक से लेकर शास्त्र तक और जनसाधारण से लेकर आभिजात्यवर्ग तक था ।

गोवर्धन ने पारम्परिक कवियों की साहित्यिक साधना का अध्ययन अथक परिश्रम से किया था। उदाहरण के तौर पर आर्यासप्तशती में कालिदास (३५) बृहत्कथा के निर्माता गुणाढ्य (३३), वाल्मीकि, व्यास (३४), भवभूति (३६), और बाण (३७) सम्बन्धी श्लोकों को देखा जा सकता है।

श्री अभिनवगुप्ताचार्य ने लिखा है "प्रज्ञा में वर्णनीय वस्तु के स्फुरण को ही प्रतिभा कहा जाता है। वर्णनीय विषय सीमित होता है।[९] तथापि वह कभी बासी नहीं होता यदि प्रतिभा की कामधेनु उसे रस से प्रेक्षित करती रहे, ध्वनिकार ने स्वीकार किया ही है—

दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्था· काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः ॥[१०]

रस के परिग्रह से पुराने अर्थ भी उसी प्रकार नवीन लगने लगते हैं जिस प्रकार मधुमास आने से पुराने वृक्ष।

विचार किया जाये तो गोवर्धन का भी प्रत्येक पद किसी न किसी पूर्ववर्ती कविता पर आधरित मिल सकता है। गाथासप्तशती से तुलना करने पर यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है।

गाथा-सप्तशती और आर्या-सप्तशती :

मुक्तक भुवन्तक काव्य रचयिता महाकवि हाल का गोवर्धन की आर्यासप्तशती पर व्यापक प्रभाव है। लोक में नायक-नायिका के प्रेम का प्रादुर्भाव ही चक्षुराग या नेत्र परिचय से होता है। आंखें चार होने के बाद प्रेम गाढ़तर होता जाता है। इसलिए दोनों कवियों के लिए "दृष्टि" अधिक उपयोगिनी है—

अष्णाणं विद्धोन्ति मुहे पम्हल धवलाई दीहकसणाई।
त अणांइं सुन्दरीणं तह विहु दठ्ठुणं जाणन्ति ॥[११]

निम्नलिखित आर्या में गोवर्धन ने उक्त गाथा का भाव बदलकर नयापन देने में सफलता प्राप्त की है—

उज्झितसौभाग्यमदस्फुटयाञ्चाऽनङ्गभीतयोर्यूनोः ।
अकलित मनसोरेका दृष्टिर्दूती निसृष्टार्था ॥[१२]

ऐसी मान्यता है कि पारिवारिक जीवन में देवर-भाभी का रिश्ता पवित्र और मधुर होता है, पर गाथा की नायिका देवर के कुत्सित विचारों से दुःखी है। उसके पति का चरित्र विषम है, और देवर का चित्त उसके प्रति चंचल है। यदि वह उसकी चपलता को व्यक्त करती है तो पारिवारिक विघटन का भय है। इस प्रकार चिन्तित भाभी दिन प्रतिदिन कृशकाय होती जा रही है—

असरिसचिन्ते दिअरे सुद्धमणा विअअमे विसमसोले।
ण कहइ कुडुम्बविहडणभएण तणु आअए सोण्हा ॥[१३]

परन्तु आर्यासप्तशती की भाभी इस अवैध रिश्ते से प्रसन्न है—

दलिते पलालपुंजे वृषभं परिभवति गृहपतौ कुपिते।
निभृतनिभालितवदनौ हलिकवधूदेवरौ हसतः ॥[१४]

जहां गाथा की भौजाई देवर के अव्याकृत व्यवहार से दुःखी है, वहीं आर्या की भौजाई देवर के अवैध रिश्ते से सुखी है। गाथाकार अपेक्षाकृत आर्याकार के, परिवार के प्रति बहुत दूर तक सजग है। इसी आशय की एक ओर गाथा है जिसमें भौजाई देवर को उपदेश देती है—

दिअरस्स अशुद्धमणस्स कुलेबहू णिअ अकुड्डलिहिआई।
दिअहं कहेइ रामाणलग्ग सोमित्तिचरिआई ॥[१५]

गाथासप्तशती का आर्यासप्तशती पर लोकजीवन के अतिरिक्त ग्रन्थ के नामकरण, श्रृंगाररस की प्रधानता, ज्योतिष, नीति, भक्ति, दर्शन, वैद्यकादि वर्णनों का भी प्रभाव पड़ा है। दोनों ने काव्यरचना का प्रमुख कारण कामरूप तत्वों को सुबोध रूप से विज्ञापित करना माना है—

अभिअं पाउअकव्वं पढ़िउं सोउं अ जेण आणन्ति।
कामस्स तत्तन्ति कुणन्ति ते कहेणं लज्जन्ति ॥[१६]
मसृणपदरीतिगतयः सज्जनहृदयाभिसारिकाः सुरसाः।
मदनाद्वयोपनिषदो विशदा गोवर्धनस्यार्याः ॥[१७]

इस प्रकार दोनों कवियों ने श्रृङ्गार के बाह्य पक्ष के साथ-साथ आन्तरिक पक्ष का भी वर्णन किया है। दोनों का प्रेम परकीयोन्मुख है। दोनों के नायक राह चलती अपरिचित युवतियों से छेड़खानी करते हैं। दोनों के नायक सखी और दूती से परकीया मिलन के लिए अभ्यर्थना करते हैं। इतनें पर भी गाथा की नारी की स्थिति आर्या की नारी से अधिक प्रौढ़ है। गाथा नारीत्व का बोध कराने के लिए पुरुष को मुंहतोड़ जवाब देती है।[१८] उसकी वाणी स्वाभाविक है।[१९]

अमरुकशतक और आर्यासप्तशती

आर्याकार को प्रभावित करने वाले दूसरे महत्वपूर्ण कवि अमरुक हैं। दोनों के साम्य को देखते हुए यदि अमरुक को गोवर्धन और गोवर्धन को अमरूक कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। गाथाकार की भांति दोनों कवि स्वकीया को प्रसन्न रखने के साथ-साथ परकीया की प्रेमालाप का लोभ संवरण नहीं कर पाये। दोनों ही नारी-विज्ञान के विशेषज्ञ और सूक्ष्म भावभंगिमा के समर्थ कवि हैं। एक उस पुरुष को धन्य मानता है जिसने सीत्कार करती मानिनी का चुम्बन कर लिया—

संदष्टेऽधरपल्लवे सचकितं हस्ताग्रमाधुन्वतो
मा मा मुञ्च शठेति कोपवचनैरानर्तितभ्रूलता।
सीत्कारांचितलोचना सरभसं यैश्चुम्बिता मानिनी
प्राप्तं तैरमृतं श्रमाय मथितो मूढ़ैः सुरैः सागरः ॥[२०]

दूसरा कवियों को सलाह देता है कि काव्यरचना के पहले प्रिया के अधर रूपी सुधारस का पान करना आवश्यक है—

आस्वादितदयिताधरसुधारसस्यैव सूक्तयो मधुराः।
अकलितरसालमुकुलो न कोकिलः कलमुदंचयति ॥[२१]

अमरुक सखियों के सामने वे सभी बातें कह देते हैं जो नहीं कहनी चाहिए। उनका नायक सखियों के सामने ही नायिका को अनावृत करना चाहता है, जो उचित नहीं लगता—अन्ततः सखियों को जाना पड़ता है—

त्वं मुग्धाक्षि ! विनैव कंचुलिकया धत्से मनोहारिणीं
लक्ष्मीमत्यभिधायिनि प्रियतमे तद्वीटिकासंस्पृशि।
शय्योपान्तनिविष्टसस्मितसखीनेत्रोत्सवानन्दितो
निर्यातः शनकैरलीकवचनोपन्यासमालीजनः ॥[२२]

गोवर्धन की नायिका जुआ खेलते-खेलते पूर्व निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार नाराज हो जाती है। जुआ बन्द हो जाता है, सखियाँ घर चली जाती हैं। फलतः दोनों मिलने का अवसर निकाल लेते हैं—

असाद्य भंगमनया द्यूते विहिताभिरर्चितकेलिपणे।
निःसायाताक्षानिति कपटरुषोत्सारिताः सख्यः ॥[२३]

कालिदास और गोवर्धन :

संस्कृत काव्य के प्रमुख कवि कालिदास का प्रभाव गोवर्धन पर परिलक्षित होता है। उन्होंने प्रारम्भ में ही लिख डाला कि पूर्ववर्ती कवियों के साहित्याध्ययन का परिणाम ही आर्यासप्तशती है। उदाहरणार्थ कुमारसंभव में कालिदास तपोनिरत पार्वती के देहसौष्ठव का वर्णन करते हुए लिखते हैं :—

स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः
पयोधरोत्सेध–निपातचूर्णिताः ।
वलीसु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे
चिरेण नाभिप्रथमोदबिन्दवः ॥[२४]

गोवर्धन इसी अभिप्राय को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं

प्रमदवनं तव च स्तनशैलं मूलं गम्भीरसरसां च।
जगति निदाघनिरस्तं शैत्यं दुर्गत्रयं श्रयति ॥[२५]

कालिदास के स्फुट अंगों के वर्णन में नेत्रों, लोमों की श्लक्ष्णता और घनत्व, अधरों की कोमलता, स्तनों का काठिन्य और विशालता, बलियों की बनावट और नायिका का गाम्भीर्य एक ही श्लोक में वर्णित है। जब कि छन्द में स्तनों की कठोरता और तालाब की गहराई के समान हृदयादि दिखाकर वर्णन को कवि ने सामान्य कर दिया है। परन्तु छन्द में सन्तापाधिक्य का वर्णन नवीन प्रयोग है।

माघ और गोवर्धन :

संक्षेप में दोनों कवियों के उदाहरण अलग-अलग रूप में उद्धृत हैं—

माघ :

महामहानीलशिलारुचः पुरो
त्तिषेदिवान् कंसकृषः स विष्टरे ।
श्रितोदयाद्रेरभिसायमुच्चकै-
रचूचुरच्चन्द्रमसोऽभिरामताम् ॥२६

गोवर्धन—

पूर्वमहीधरशिखरे तमः समासन्नमिहिरकलितम् ।
शूलप्रोतं सरुधिरमिदमन्धकवपुरिभावाति ॥२७अ

महाकवि बाण और गोवर्धन :

कहाकवि बाण से गोवर्धन बहुत प्रभावित थे । "कादम्बरी" के शुकनासोपदेश खण्ड में लक्ष्मी के बारे में जो विचार बाण ने दिये हैं ठीक उसी से मिलते विचार गोवर्धन के हैं—

बाण—

अपरिणामोपाशमो दारुणो लक्ष्मोमदः । कष्टमनञ्जनवर्तिसाध्यमपरम् ऐश्वर्यतिमिरान्धत्वम् । अशिशिरोपचारहार्योऽतितीव्रो दर्पदाहज्वरोष्मा....................।२८

गोवर्धन—

सन्तापमोहकम्पान् सम्पादयितुं निहन्तुमपि जन्तून् ।
सखि ! दुर्जनस्य भूतिः प्रसरति दूरं ज्वरस्येव ॥२९
सुखयतितरां न रक्षति परिचयलेशं गणांगनेव श्रीः ।३०

भर्तृहरि और गोवर्धन

भर्तृहरि के तीन शतकों में सर्वाधिक प्रभाव शृङ्गारशतक का है । परन्तु नीतिशतक के असंख्य श्लोकों में कुछेकों से गोवर्धन का पद साम्य रखता है—

नीतिशशक—

निन्दन्तु नितिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥३१

आर्यासप्तशती—

दर्शितचापोच्छ्रायैस्तेजोवृद्धिः सुगोत्रसंजातैः ।
हीरैरप्स्वपि वीरैरापत्स्वपि गम्यते नाधः ॥३२

जिस प्रकार वीर पुरुष आपत्तिकाल में नीच कार्य नहीं करते उसी प्रकार दानी पुरुष असमय में भी दानवृत्ति नहीं छोड़ते—

अर्था न सन्ति च मुञ्चति मां दुराशा
त्यागे रतिं वहति दुर्ललितं मनो मे।
याञ्चा च लाघवकरी स्ववधे च पापं
प्राणा व्रजन्तु किमलं परिदेवितेन ॥[३३]
कृच्छ्रानुवृत्तयोऽपि हि परोपकारं त्यजन्ति न महान्तः।
तृणमात्रजीवना अपि करिणो दानद्रवार्द्रकराः ॥[३४]

अतः यह कहा जा सकता है कि आर्याकार गोवर्धन मुक्तक काव्य के साथ-साथ -प्रबन्ध कोटि जैसे काव्य से भी प्रभावित हैं। यह भी कहा जा सकता है कि आचार्य गोवर्धन ने शास्त्र से लेकर पूर्ववर्ती सभी साहित्यिक कवियों के समुचित अध्ययन के पश्चात् आर्यासप्तशती जैसी सरस मुक्तक काव्य कृति की रचना की। आर्यासप्तशती में जहाँ एक ओर मुक्तक की सभी विशेषताएँ हैं वहीं उसमें नीति, भक्ति एवं शृङ्गार की त्रिवेणी है। पूर्ववर्ती मुक्तककारों की सूक्ष्म भावनाओं के आधार पर सुदृढ़ प्रासाद खड़ा करना निश्चित ही गोवर्धन की उच्च प्रतिभा का द्योतक है।

निश्चित ही संस्कृत की मुक्तक काव्य परम्परा में आर्यासप्तशती का स्थान महत्त्वपूर्ण है।

सन्दर्भ

१. ध्वन्यालोक ३.७ पर लोचन।
२अ. काव्यादर्श के टीकाकार-तरुण वाचस्पति २ब. अग्निपुराण-अग्निपुराणकार
३. आर्यासप्तशती–गोवर्धन ५ ग्रन्थारम्भप्रव्रज्या—३९
४. गीतगोविन्द—जयदेव–१/४
५. ध्वन्यालोक, १/४, आनन्दवर्धन ६. आर्यासप्तशती, ७, गोवर्धन ७. वृहत्संहिता, ४५/१२ एवं बसन्तराजः, १०/२५ देखें। ८. आर्या, गोवर्धन, श्लोक संख्या, २१
९. आर्या, गोवर्धन, श्लोक संख्या, ६७२, १०. लोचन टीका, अभिनवगुप्ताचार्य, उद्योत–४
११. ध्वन्यालोक, आनन्दवर्धन
१२. गाथा २. आर्या, सं० १२८, गोवर्धन। १३. गाथा, १/५९ १४. आर्या सं०–३०२
१५. गाथा सं०–१/३५ १६. गाथा सं०–१/२ १७. आर्या सं० ५१, ग्रन्थारम्भव्रज्या
१८. गाथा सं० १/२६ १९. गाथा सं–१/१७
२०. अमरुशतकम्–३६ २१. गाथासप्तशती–४९, ग्रन्थारम्भव्रज्या २२. अमरूकशतकम्–२७
२३. आर्या–७८ २४. कुमारसम्भवम्–५/२४, कालिदास २५. आर्या–३५९
२६. शिशुपालवध–१/१६–माघ
२७. अ-आया—३६२
२८. कादम्बरी सौरभम्–(शुकनासोपदेश से उद्धृत)–बाण २९. आर्या–६७७–गोवर्धन
३०. आर्या–६७८–गोवर्धन ३१. भर्तृहरिश्लोक (वैराग्यशतक)–७४ भर्तृहरि।
३२. आर्या–२९४, ३३. सुभाषितम्, ३४. आर्या–१७३

स्वास्थ्य सम्बन्धी लोक कहावतें

डा० शैलेन्द्र कुमार त्रिपाठी*

सम्राट ने कवि से प्रश्न किया 'कवीश्वर'! संसार में सुख कितने प्रकार के हैं; उनको प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है। कवीश्वर ने उत्तर दिया।

अर्थागमो नित्यमरोगिता च
प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च।
वसस्य पुत्रोऽर्थकरी च विद्या
षट् जीव लोकस्य सुखानि राजन् ॥

श्लोक के प्रथम चरण में द्वितीय बात (नित्य आरोग्य) सच कहा जाय तो अद्वितीय है जिस शरीर को हमारे पूर्वजों ने 'शरीरं व्याधिमंदिरम्' कहा है। वह सदैव निरोग रहे, क्या यह साधारण सुख है? नहीं, यह तो बहुत ही बड़ी बात है। किन्तु क्या ऐसा प्रश्न कोई सम्राट ही कर सकता है? क्या इसका उत्तर कोई कवीश्वर ही दे सकता है? क्या इस असाधारण सुख के बारे में साधारण लोग नहीं सोच सकते? नहीं ऐसी कोई बात नहीं है यह आवश्यकता समूचे जन-जीवन की है और सम्पूर्ण जन-जीवन इस सम्बन्ध में सोच समझ सकता है। साथ ही अपने पूर्वजों द्वारा किये गये अनुभव से लाभ उठा सकता है। हमारे ग्रामीण जीवन में तो इन अनुभवों को कहावतों में बाँध कर सूत्रवत् सुरक्षित कर दिया गया है। दोष उनका नहीं, हमारा है, जो हम आधुनिकता की ओर इतनी तेजी से भाग रहे हैं, या भाग चुके हैं कि ये सब अमृतोपम कहावतें बहुत पीछे छूट चुकी हैं। इतनी पीछे कि हम उलट कर देखते हैं तो दिखायी तक नहीं पड़तीं। पश्चिम का यह मोह हमें उसी प्रकार अंधकार में डाल देता है जैसे वह नित्य सूरज को निगल जाता है। सच्चाई है कि पूरब सूरज उगाने के लिए बना है और पश्चिम उसे खा जाने के लिये। इसीलिए कहना यह है कि सूर्योदय वाले देश की संतानो! लौटो अपने देश की ओर देखो कि यहाँ क्या-क्या हो चुका है। कहाँ है सूर्योदय, कहाँ है अन्त्योदय?

यह है हमारा झोपड़ियों का गाँव। आज भी अपनी पुरानी परम्पराओं पर चला जा रहा है। पूर्वजों के सूत्र वचनों को यदि इसने धरोहर के रूप में न रख लिया होता तो शायद इस भौतिकता भरे युग में अपना अस्तित्व ही खो बैठा होता। प्रायः जीवन के सभी क्षेत्रों में ये सूत्र वचन आज भी बोल रहे है। किन्तु प्रसंगवश हम यहाँ स्वास्थ्य सम्बन्धी कहावतों पर चर्चा करेंगे। हमारे पूर्वजों ने ग्रामीण क्षेत्रों में तथा जंगल और पहाड़ों पर उगने वाली जड़ी-बूटियों के गुणों को बड़ी सूक्ष्मता से पहचाना था, उन पर प्रयोग किया था तथा लाभ-हानि को भोगा था। तब जाकर कहीं इन कहावतों का निर्माण किया था। जैसे—

---

* रिसर्च एसोसिएट आ. सी. एम. आर, ग्रामीण स्वास्थ्य समन्वित ग्रामीण विकास केन्द्र, का० हि० वि० वि०

प्रात काल खटिया से उठि के पिये तुरन्तै पानी।
ताके घर में वैद्य न आवे, बात 'घाघ' की जानो।

सवेरे उठकर जो व्यक्ति पानी पीता है, उसको वैद्य या चिकित्सक बुलाने को आवश्यकता नहीं। यह बात 'घाघ' की जानी हुई है

सावन हरें भादों चीत, क्वार मास गुड़ खाओ मीत।
कार्तिक मूली, अगहन तेल, पूस में करे दूधसे मेल।

माघ मास घिउ खिचड़ी खाय,
फागुन उठि के प्रात नहाय।
चैत मास में नीम बेसहती,
बैसाख मास में खाय जड़हती।
जेठ मास जो दिन में सोवै
ताकर दुःख असाढ़ में रोवें।

यह रही संक्षेप में बारहों महीने के खान-पान तथा दिनचर्या की सूची, कहावत बतलाती है:—

जो व्यक्ति सावन में हरें, भादों में चिरायता, क्वार में गुड़, कार्तिक में मूली, अगहन में तेल, पूस में दूध, माघ में घी और खिचड़ी खायेगा। फागुन में प्रातःकाल स्नान करेगा, चैत में नीम की फुनगी, और वैसाख में भात खायेगा, जेठ मास में दिन में सोयेगा, उसका रोग आसाढ़ में रोवेगा अर्थात् वह पूरे वर्ष निरोग रहेगा।

घाघ रोके चारि जो, जिये थोर दिन पूत
भूख प्यास के साथ में, मल शंका ओ मूत।।

घाघ कहता है कि वह पुत्र (मनुष्य) बहुत थोड़े दिन ही जीवित रहता है जो भूख, प्यास, मल और मूत्र इन चारों को रोकता है।

श्रम भर निशि दिन खाय जो, दम भर कारज कीन्ह।
इन्द्री जेहि के बस रही, जगत जीति बस कीन्ह।।

परिश्रम के अनुपात में भोजन करने वाला, शक्ति के अनुरूप कार्य करने वाला और इन्द्रियों को बस में रखने वाला व्यक्ति सारे संसार पर विजय प्राप्त कर सकता है।

भगवान् श्रीकृष्ण महाभारत में कहते हैं—जहाँ स्वच्छता है, वहाँ मेरा निवास समझा जाना चाहिए। स्वच्छता शब्द का अर्थ सीमित करने पर पूर्णता असंभव है। एक कहावत में कहा गया है कि:—

ध्यान रहे जो तीनि का, तो फिर बढ़े हयात।
स्वच्छ हवा, जल स्वच्छ, ओ भोजन स्वच्छ सुहात।।

इन तीन बातों का ध्यान रहे तो स्वर्गिक आनन्द प्राप्त हो सकता है। वे तीनों बातें हैं स्वच्छ हवा, स्वच्छ जल, और स्वच्छ भोजन।

ज्यादा खाय, जल्द मरिजाय।
सुखो वहो जो थोड़ा खाय॥

× × ×

रहे निरोगो जो कम खाय।
बिगरै काम न जो गम खाय॥

× × ×

अंतरे खोतरे कसरत करै।
ताल नहाय ओस में परै॥
लागी रही सौच ना करै।
दैव न मारे अपने मरै॥

अधिक भोजन करने वाला अल्पजीवी होता है, थोड़ा खाने वाला सुखी रहता है।

कम खाने वाला रोग रहित रहता है और गम खाने वाले का काम नहीं बिगड़ता है।

अनियमित ढ़ंग से व्यायाम करने वाला, ताल में स्नान कर ओस में सोने वाला और शौच रोकने वाले को परमात्मा नहीं मारता है, वह तो अपने आप मर जायेगा। तात्पर्य यह है कि ऐसे लोग रोग से छुटकारा नहीं पा सकते हैं और अन्त में काल कवलित हो जाते हैं।

जाको मारा चाहिये, बिन मारे बिन घाव।
ताको यही बताइये, घुइयाँ पूरी खाव॥

जिसको बिना मारे या बिना चोट पहुँचाये मारना चाहें, उसे किसी प्रकार यह सिखा दें कि वह घुइयाँ (अरवी) और पूड़ी खाया करे। कहने का तात्पर्य यह है कि घुइया और पूड़ी खाने से स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

जल्दी सोवे जल्दी जागे।
ताको रोग दिन में भागे॥

शीघ्र अर्थात् अधिक रात बीतने के पहले सोने वाला और भोर में उठने वाला निरोगी रहता है।

खाइके मूतै सूतै वाँव।
काहे वैद्य बसावै गाँव॥

भोजन करने के बाद मूत्र त्याग करे और तब बायें करवट होकर लेटे। ऐसा करने वाले को वैद्य या डाक्टर की आवश्यकता नहीं होती है।

प्रातः काल उठना, शौच से निवृत होना और उसके पश्चात् टहलना लाभ कर माना जाता है किन्तु टहलने के लिए स्वच्छ वायु अपेक्षित है, किस वायु को स्वच्छ माना जाय, इसके सम्बन्ध में घाघ ने कहा है कि :—

लच्छन निर्मल वायु के, घाघ मते यह आय।
बगिया या जलराशि की दिशा बहै जो पाय॥

घाघ मत से निर्मल हवा का लक्षण यह है कि वह या तो किसी जलाशय के ऊपर होकर आ रही हो या बाग की ओर से।

स्वच्छ पानी के सम्बन्ध में हमारे ग्रामीण पूर्वजों का कथन इस प्रकार है कि--

गहिर कूप, पर्वत के ऊपर, और आकाशी पानी।
वैद्य बूढ़ सब इन्हैं बखानै, सब बातें जिन जानी॥

या तो गहरा कुंआ का पानी हो, या पर्वत के ऊपर का या बादलों से गिरने वाला पानी हो। वैद्य और बुजुर्ग सभी ऐसे पानी को स्वच्छ जल मानते हैं। वे इस बात को जानते हैं कि—

सुथल, सुजन, शुचि पाक हो, समय सहित मिलि जाय।
एहि विधि जो भोजन मिलै, एक ग्रास कम खाय॥

अच्छे (स्वच्छ) स्थान पर, अच्छे व्यक्ति द्वारा, शुद्ध भोजन यदि समय से मिल जाय तो उसे भी एक ग्रास कम ही खाना चाहिए। ऐसा करने से व्यक्ति रोगी नहीं बनने पाता। कहा गया है कि कम खाने वाला और गमखाने वाला आदमी सुखी रहता है।

इस तरह हमारे ग्रामीण अंचलों में स्वास्थ्य सम्बन्धी कहावतें बिखरी पड़ी हैं। इनकी भरमार है, जिन्हें हमने यह सोचकर त्याग कर दिया है कि ये तो गँवारों की कहावतें हैं। अत्यधिक पढ़ने-लिखने वालों तथा पाश्चात्य सभ्यता की ओर बेतहाशा भागने वाले इन अभागे भारतीयों को कौन समझाये कि ये कहावतें सहस्रों वर्ष के अनुभव पर आधारित हैं और वैज्ञानिक दृष्टि से शत प्रतिशत उपयोगी हैं। हमारे यहाँ व्रत, उपवास को इसीलिए धर्म से जोड़ा गया ताकि लोग लघन से लाभ करें, फायदा उठावें। मगर इन बातों को हम समझें तब तो।

आज आवश्यकता है कि विस्मृति के गर्त में जाने वाले इन सूत्र वचनों का संग्रह किया जाय और उनसे लाभ उठाया जाय। ये औषधियाँ इतनी सस्ती हैं कि थोड़ा सा परिश्रम करने से सुलभ हो सकती है। रोग के लिये धन-बर्बाद करने की आवश्यकता नहीं है बशर्ते एक बार मुड़कर पीछे की ओर देखा जाय कि हम क्या छोड़कर किधर भागे जा रहे हैं। ※

उदयन-कथाओं में कलाविलासिनी नारी

डॉ० किरण कुमारी सिंह*

भारतीय साहित्य को जिन ग्रन्थों ने सर्वाधिक प्रभावित किया तथा जो सैकड़ों वर्षों तक इस देश के बुद्धिजीवियों एवं कलाकारों के लिए अजस्र स्रोत बने रहे वे रामायण, महाभारत और वृहत्कथा ग्रन्थ हैं। ये तीनों ही समानान्तर नूतन साहित्य सृजन के आधार स्तम्भ हैं। गुणाढ्य की मूल वृहत्कथा यद्यपि विलुप्त हो चुकी है परन्तु उससे पूर्व हो वह भारतीय साहित्य को इतना अधिक प्रभावित कर चुकी थी कि मूल कलेवर काल के गाल में समा जाने पर भी उसकी आत्मा और प्रेरणा सर्वथा अक्षुण्ण बनीं रहीं। भारतीय साहित्य को उसकी अमूल्य देनों में से एक है उदयन-कथा भी।

संस्कृत से लेकर पालि प्राकृत और अपभ्रंश तक के साहित्य में हमें उदयन-कथा का रूप अविच्छिन्न रूप से उपलब्ध होता है। काव्य, कथा, नाटक-नाटिका, आख्यायिका, धर्मग्रन्थ, पुराण आदि काव्य की कोई भी ऐसी विधा नहीं जिसमें उदयन-कथा को स्थान न मिला हो। अब तक के उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि संस्कृत साहित्य में सर्वप्रथम भास ने इस कथा को अपने दो प्रमुख नाटकों का आधार बना कर, इसे लोगों के सम्मुख लाने तथा लोकप्रिय बनाने का महत्वपूर्ण कार्य किया। जितने उल्लेख प्राप्त होते हैं उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि कम से कम एक हजार वर्षों तक उदयन-कथा का भारतीय रंगमंच पर अद्वितीय प्रभुत्व रहा एवं भास को भारतीय रंगमंच का सबसे प्रथम कलाकार मानने पर यह कहना अनुचित न होगा कि उदयन-कथा ने ही भारतीय रंगमंच को प्राण प्रदान किया, क्योंकि संस्कृत साहित्य में स्वप्नवासवदत्ता एवं प्रतिज्ञायौगन्धरायण ही, अब तक के उपलब्ध अभिनेय नाटकों में, सर्वप्रथम कृतियाँ हैं।[1] इस कथानक पर आधारित अनंगहर्ष मातृराजकृत तापसवत्सराज, अज्ञात कवि कृत वीणावासवदत्ता एवं उन्मादवासवदत्ता, श्रीहर्ष कृत रत्नावली और प्रियदर्शिका जैसी नाट्यकृतियां तो हमारे समक्ष उपलब्ध हैं ही, परन्तु उसके अतिरिक्त भोजदेव कृत श्रृंगारप्रकाश में सुबन्धु कृत वासवदत्ता एवं नाट्यधारा तथा विशाखदेव कृत अभिसारितावंचितकम् नामक नाट्य कृतियों का उल्लेख मिलता है। इनके कथानक का मूलाधार भी उदयन-कथा को ही बताया गया है। इस कथानक को लेकर लिखे गये तापसवत्सराज आदि नाटकों के अतिरिक्त, सातवीं शताब्दी के नाटककार भवभूति (मालतीमाधव) एवं नवीं शताब्दी के लेखक दामोदर गुप्त (कुट्टिनीमत) आदि उदयन-कथा का स्पष्ट उल्लेख करते हुए दिखाई देते हैं। इसके बाद ११वीं शताब्दी के काश्मीरी लेखकों द्वारा तैयार किए गए वृहत्कथा के संक्षिप्त संस्करणों—सोमदेव कृत कथासरित्सागर तथा

---

* रिसर्च एसोसियेट, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, का० हि० वि० वि०

क्षेमेन्द्र कृत वृहत्कथामञ्जरी—तथा नेपाल से उपलब्ध बुद्धस्वामी कृत वृहत्कथाश्लोकसंग्रह जैसे ग्रन्थों में पाये जाने वाले उदयन-कथा के विविध विवरण हैं।

न केवल संस्कृत साहित्य में अपितु पालि साहित्य में भी हमें छठीं शताब्दी से पूर्व ही, इसकी पर्याप्त लोकप्रियता का परिचय मिलने लगता है। पांचवीं शताब्दी में रचित धम्मपद की टीका में इसका बड़ा विस्तृत विवरण पाया जाता है तथा "मज्झिम निकाय" की बुद्धघोष कृत टीका में भी उल्लेख आता है।

इसी प्रकार जैन साहित्य के अनेक कथानकों एवं ग्रन्थों में इस कथा का निरूपण और उल्लेख पाया जाता है जिनमें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं हेमचन्द्र कृत त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित सोमप्रभ कृत कुमारपालप्रतिबोध एवं मालाधारी देवपाल कृत मृगावतीचरित।

अतः उपरोक्त सर्वेक्षण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रथम शताब्दी के आसपास से लेकर १२वीं शताब्दी तक भारतीय रंगमंच एवं साहित्य के विविध अंगों में उदयन-कथा जीवनतत्त्व बनकर कवियों, लेखकों, कलाकारों एवं जनता का अपार प्रेम और संरक्षण पाती रही।

वस्तुतः उदयन-कथा ने भारतीय साहित्य में एक विशेष धारा का प्रतिनिधित्व किया। संस्कृत नाट्य-साहित्य का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट दिखाई देता है कि उसमें आदर्शवादी धार्मिक विचारधारा एवं विशुद्ध कलावादी धर्म-निरपेक्ष्य विचारधारा समानान्तर चलतीं रहीं, इसमें आदर्शवादी धारा का प्रतिनिधित्व किया मर्यादापुरुषोत्तम राम ने और रोमांटिक काव्यवादी धारा का प्रतिनिधित्व किया वत्सराज उदयन ने। यह कहना सर्वथा संगत ही होगा कि संस्कृत का सम्पूर्ण नाट्यसाहित्य इन दो नायकों के इर्द-गिर्द ही चक्कर लगाता रहा है। विशुद्ध कलात्मक दृष्टि से समीक्षण करने पर कहा जा सकता है कि लोकप्रियता की दृष्टि से उदयन का नायकत्व यदि राम से बढ़कर नहीं तो उससे किसी अंश में कम भी नहीं। वस्तुतः धर्म-निरपेक्ष्य परिवेश में देखने पर पाते हैं कि ऐसा कोई अन्य व्यक्ति नहीं जिसे कि इतने दीर्घकाल तक इतनी अधिक लोकप्रियता प्राप्त करने एवं इतने विशाल साहित्य का नायकत्व करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ हो जितना वत्सराज उदयन को। इन नायकों के साथ ही नायिकाओं में सीता व वासवदत्ता के भी नाम चिरस्मरणीय एवं आदरणीय हो गये।

चिर आकर्षणमयी तथा प्रेम की परिपूत प्रतिमा नारी सृष्टि की कोमलतम रचना मानी गई। समस्त कलाओं ने उसे सदैव उच्च एवं सम्मानित स्थान प्रदान किया है। क्या वास्तुकला और मूर्तिकला, क्या संगीतकला एवं नृत्यकला, क्या काव्यकला—सभी ललित कलाओं के लिए वह आधार और प्रेरणा का स्रोत रही हैं। नारी की कमनीय मूर्ति के बिना कला ही नहीं, विश्व का समस्त विधान अविकसित रहता है। नारी का लावण्य कला का ललामभाव है, वह रस बनकर कला में ओत-प्रोत हुआ है और अपने अस्तित्व से कला को दर्शनीय बनाता है। स्त्री-चित्रण के बिना कला केवल दर्शन की अनुगामिनी बनकर रह जाती है।

काव्य की सर्वप्रिय अनुभूति सौन्दर्य चित्रण ही रही है और नारी अपने आप में एक सौन्दर्य और एक कला है। सौन्दर्य में नारी और नारी में सौन्दर्य, यही तो रहस्य है, अतः दोनों को एक दूसरे से अलग करके नहीं देखा जा सकता। नारी का चित्रण करने को कलाकार

की आकांक्षा प्राचीन काल से रही है। नारी के नाना शृङ्गारिक रूप कलाकार को मुग्ध करते तथा उसकी सृजनात्मक शक्ति को बल देते रहे हैं।[2] कला और नारी का निकट का सम्बन्ध है। कला में रूप का जो स्थान है उसकी अभिव्यक्ति नारी को छोड़ और किसी वस्तु में नहीं हो सकती। यदि यह सत्य है कि सौन्दर्य की सर्वोच्च अभिव्यक्ति कला में होती है, तो यह भी सत्य है कि सौन्दर्य की सर्वोच्च अभिव्यक्ति के लिए कला को संसार की इस सर्वाधिक सुन्दर वस्तु नारी के सौन्दर्य को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाना पड़ता है। ऐसी स्थिति में कला, सौन्दर्य एवं नारी एक दूसरे के पूरक ही सिद्ध होते हैं। सौन्दर्य नारी की शोभा है, नारी कला की शोभा है और कला सौन्दर्य की शोभा है। नारी के बिना कला नीरस और प्राणहीन है तभी तो हमारे चिन्तकों, कलाकारों एवं कवियों ने अपनी कला में नारी को सर्वोपरि स्थान दिया है, वास्तव में नारी के सौन्दर्य चित्रण ने ही कला को जीवित रखा है।

रमणी और उसके रूप चित्रण की परम्परा हमारे भारतीय वाङ्मय में अन्यन्त प्राचीन है। प्रेम की परिपूत प्रतिमा तथा चिर आकर्षणमयी यह नारी अपने अलौकिक सौन्दर्य तथा असीमित मानवीय गुणों के कारण ही प्रत्येक देश में सदा से विद्वानों, कलाकारों और कवियों का आकर्षण एवं साहित्य की प्राण रही है। वास्तव में कमनीय कला और काव्य का ललित रूप कामिनी में ही अधिक स्पष्ट हुआ है। साहित्य, कलात्मक दृष्टि से देखते हुए, समाज का दर्पण माना जाता है। अतः साहित्य, समाज के इस 'अर्द्धांग'–नारी–की अवहेलना कर ही कैसे सकता है। उदयन-कथाओं के प्रमुख नारी पात्रों में वासवदत्ता, मालती, रत्नावली, पद्मावती, प्रियदर्शिका, इत्यादि महत्वपूर्ण नाम हैं।

महारानी वासवदत्ता चौंसठ कलाओं में पूर्ण दक्ष थीं। उनके कला-चातुर्य को देखकर यह निर्णय नहीं किया जा सकता था कि महारानी कलाओं से अनुप्राणित हैं या कलायें महारानी को पाकर अनुप्राणित हुई हैं।

काव्यशास्त्र विनोद के लिये अन्तःपुर में एक काव्यलोक था जहाँ पर शास्त्रज्ञ विदुषी, कवि संगीतज्ञा, हास्य कवि, चित्रकार, व्यंग्यचित्रकार, इतिहासज्ञा, पुराणज्ञा, आदि कलाविद् महिलाएँ बैठती थीं। अन्तःपुर की रानियाँ एवं अन्तःपुरिकाएँ, नाट्य-काव्य गोष्ठियों में सक्रिय भाग लिया करती थीं। महारानी वासवदत्ता की प्रेरणा पाकर सभी अन्तःपुरिकाएँ काव्यकला, चित्रकला, संगीत, आदि समस्त ललित कलाओं में पूर्ण निपुण थीं। अन्तःपुरिकाओं को प्रेरणा देने के लिए राजभवन में प्रायः विराट् काव्य गोष्ठियों का आयोजन महाराज उदयन महारानी वासवदत्ता के अनुरोध पर किया करते थे।

महारानी वासवदत्ता के कौशाम्बी आने पर प्रथम बार उनका जन्म-दिवस मनाया गया, उस आनन्द दिवस पर काव्य-मंडप के बीचोबीच सरस्वती की प्रतिमा रखी गयी, उसके बाद सबके बैठने के लिये आसन एवं वेदिका बनाये गये। सर्वप्रथम सरस्वती पूजन हुआ फिर कवियों को समस्याएँ देकर प्रहेलिका, विन्दुमती आदि से उनकी बौद्धिक परीक्षा ली गई। कथाकारों को तत्काल कोई घटना बतायी गई और वे सुन्दर पद्यबद्ध रचना रचकर सुनाने लगे तथा महारानी वासवदत्ता अन्तःपुरिकाओं के साथ परदे के अन्दर बैठी उसमें रस लेती रहीं।

जन्म-दिन के दूसरे दिन अन्तःपुरिकाओं ने मिलकर अन्तःपुर के काव्यलोक में काव्य-गोष्ठी का भव्य आयोजन किया। इसमें विविध प्रकार की काव्य समस्याएँ मानसीक्रिया, पुस्तकवाचनयोग, दुर्वाचनयोग, देशभाषाविज्ञान, आख्यानछन्दोरचना, रसालाप, आदि विविध प्रकार के साहित्यिक और बौद्धिक कार्यक्रम प्रस्तुत किये गये।

अन्तःपुर की इस गोष्ठी में जिस समय संगीत कला का कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ गीतों की स्वर-लहरी कोकिल कंठों से गूँजने लगी; अन्तःपुर की सुन्दर युवतियाँ हाथ में आम्रमंजरी लिए हुए द्विपदो खण्ड का गान करती हुई नाच रही थीं।

इस तरह वासवदत्ता की कला प्रियता अन्तःपुर को समस्त प्रकृति, सम्पूर्ण वातावरण सभी प्राणियों में पुलक स्पन्दन और रसमाधुरी का सृजन किया करती थो। कौशाम्बी का अन्तःपुर मनोविनोदों, क्रीड़ाओं, उत्सवों और गोष्ठियों के लिए समस्त वत्सदेश का प्रतिनिधित्व करता था। कलाविलासिनी महारानी वाससदत्ता का दृष्टिकोण अत्यन्त उदार था, कला का लक्ष्य कला नहीं अपितु वह उसे परमतत्व की प्राप्ति का साधन मानकर उसकी साधना किया करती थीं। उनके कला-विलास में अनुरंजन के साथ ही मानसिक और बौद्धिक विकास का पूर्ण रूप से ध्यान रखा जाता था।

महारानी वासवदत्ता नई-नई व्याह कर कौशाम्बी आयी हुई थीं; उस वर्ष का मदनमहोत्सव कौशाम्बी के कलाविलास के इतिहास में अद्वितीय रहा। मदनिका ने निवेदन किया कि देव महादेवी मदनोद्यान में महाराज की प्रतीक्षा कर रही हैं, देवी ने निवेदन किया है कि आर्यपुत्र उनकी पूजा स्वीकार करें। रक्त अशोक के नीचे स्फुटित रत्नजटित आसन पर महाराज बैठाए गये। उनके सामने स्वर्णपीठ पर ब्राह्मण वसन्तक बैठे। प्रथम महारानी ने कामदेव का पूजन किया फिर कांचनमाला ने उनके हाथों में अबीर, कुंकुम, चन्दन और पुष्प दिए, रानी ने उस पुष्पांजलि को महाराज के चरणों में बिखेर दिया, वैतालिकों ने मंगलाचरण किया, महारानी ने ब्राह्मण वसन्तक को दक्षिणा दी और मदनोत्सव समाप्त हुआ।[3]

इसी प्रकार सुयामुन प्रासाद के बहिःप्रकोष्ठ में भगवती सरस्वती के पूजन का आयोजन किया गया। उच्च वेदिका पर स्थित वीणापाणि की कलामयी प्रतिमा के समक्ष एक वेदिका पर सर्वतोभद्र की रचना की गई। माल्यचन्दन, उपलेपन, धूप, दीप, नैवेद्य से महारानो वासवदत्ता समेत महाराज उदयन ने पूजन किया, तदनन्तर साहित्यिक मनोरंजन के मंच पर सभासीन हुए। एक ओर रससिद्ध कवि समस्यापूर्तियाँ सुना रहे थे, दूसरी ओर साहित्य के आचार्य अनेक बिन्दुओं में अकार आदि मात्राएँ लगाकर उससे पूरे श्लोक का उद्धार करते हुए बिन्दुमती नाम की काव्य-क्रीड़ा कर रहे थे। कुछ लोग प्रहेलिकाओं के बुझौवल का आनन्द ले रहे थे।

मध्याह्नोत्तर वन-बिहार का कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ। सभी महारानियों, परिचारिकाओं और सम्भ्रान्त अन्तरंग पौरजानपदों सहित महाराज उदयन मकरन्द उद्यान पहुँचे। वहाँ क्रीडैकशाल्मली विनोद, अभ्यूषखादनिका (गेहूं, चना, जौ, मटर की हरी फलियों को भूनकर होला खाना), पाश चतुरंग, आदि विविध क्रीडाएँ की गई। सूर्यास्त होने जा रहा था उस समय महारानी वासदत्ता तुरन्त क्रीडाविरत होकर उदयन से बोलीं आर्यपुत्र अतिकाल हो रहा है आज के मुख्य उत्सव कुसुमावचय की समस्त विधियाँ अभी अवशेष हैं। महाराज

बोले–तो देवि किस सौभाग्यशालिनी को अपनी मुख-मदिरा से आसिंचित कर बकुल वृक्ष को उत्फुल्ल करने का आदेश दे रही हो।

सस्मितवदना वासवदत्ता बोलीं–हम सबसे अल्पवय, अत्यधिक सुन्दर, यौवनसम्पन्न रत्नावली हैं उन्हींसे यह कृत्य सम्पादन कराने की मेरी इच्छा है, जैसा देव आज्ञा दें, एवमस्तु कहकर महाराज ने स्वीकृति दे दी। तुरन्त प्रसाधिका ने रत्नावली का प्रसाधन किया, महाराज मरकतमणि जटित पीठ पर बैठे, सम्मुख स्वर्णपीठ पर ब्राह्मण वसन्तक बैठा, रत्नावली ने मदन-पूजा की। महाराज के मस्तक पर तिलक लगा कर पुष्पांजलि उनके चरणों में बिखेर दी। फिर ज्यों हो अपनी मुख-मदिरा से सिंचित किया वैसे ही बकुल वृक्ष मुकलित हो गया। फूलों से बोझिल बकुल वृक्ष की एक टहनी पकड़ कर अंचल का पल्लू सँभाल कर रत्नावली ने ज्यों ही उसे हिलाया तो फूलों से उनका आँचल भर गया। महाराज उदयन ने आँचल का छोर पकड़ कर खींच लिया, पुष्प बिखर गये और सभी रानियाँ कुसुमावचय करने लगीं।

युग विशेष की सांस्कृतिक उन्नति में कला का विशेष योग रहता है। कलात्मक उन्नत्ति ही सांस्कृतिक प्रगति का आधार स्तम्भ है। कला का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। कला जीवन की पूरक है और जीवन कला का पूरक है। कला जीवनमय है और जीवन कलामय है। कला जीवन में लालित्य को जन्म देती है और स्वयं जीवन से प्रेरणा एवं चेतना ग्रहण करती है। कला और जीवन के मणिकांचन संयोग से ही कलाकार सजीव कलाकृति का सृजन करता है। जिस कलाकृति में जीवन का समावेश नहीं होता है वह निष्प्राण-सी प्रतीत होती है।

कलाकार कला के माध्यम से स्पन्दित जीवन की अभिव्यक्ति करता है। हमारे समक्ष जीवन का ललित एवं परिष्कृत रूप कला ही प्रस्तुत करती है। कला मानव के हृदयगत भावों का मूर्त्तीकरण है। कला हृदय का व्यायाम करती है और मनुष्य को सहृदय बनाती है।

कला में सामाजिक गौरव का इतिहास निहित रहता है। किसी भी देश की कला देश के सामाजिक स्वरूप को अभिव्यक्त करती है। विविध कलाकृतियों और कलात्मक प्रतिमाओं में तत्कालीन नारी के उत्कर्ष, अपकर्ष का चित्र प्रतिबिम्बित होता है।

इस युग की प्रायः सभी नारियाँ पुष्प, लता, वृक्ष व पक्षियों के साथ स्नेह व अपना मनोरंजन किया करती थीं। महारानी स्वयं पुष्प गूँथने में अद्वितीय थीं जिसकी प्रशसा स्वप्न-वासवदत्तम् में आयी है।[४] महारानी पद्मावती हरिश्रृङ्गार के गुच्छे खिले हैं या नहीं यह देखने प्रमदवन (नजरबाग) में विवाहोपरान्त आती हैं।[५] अन्तःपुर से लगी वाटिका में अनेक प्रकार के सुगन्धित पुष्प-लताएँ और वृक्ष थे, इन्हीं के सुगन्धित पुष्पों से अन्तःपुरिकाओं का नित्य शृंगार किया जाता था, वृक्षवाटिका के किनारे-किनारे अशोक, अरिष्ट, पुन्नाग, शिरोष आदि बड़े-बड़े छायादार वृक्ष लगे हुए थे।

वाटिका के बीचोबीच मणिमरकतमय सोपानों की एक भवनदीर्घिका थी जिसमें तैरते हुये राजहंसों के कन्धों से ढकेली गई लहरियाँ कह्लारों से टकराती थीं। उस दीर्घिका में राज-हंस, कलहंस, चक्रवाक, कारण्डव, क्रौंच, आदि अनेक पक्षी कलरव करते हुए बिहार करते थे।

वीणा और चित्रकला महाराज उदयन को प्राणों से भी अधिक प्रिय थे, किन्तु रानी वासदत्ता के आ जाने पर वीणा एवं वासवदत्ता में कोई अन्तर न रह गया। महाराज उदयन की

कुंजरविमोहिनी वीणा और महारानी वासवदत्ता की घोषवती वीणा जिस समय एक साथ बजा करती थीं उस समय उनकी मोहक ध्वनि से अन्तःपुर पुलक उठता, कौशाम्बी मुस्करा उठती और यमुना हिलोरें लेने लगती थी।

महारानी वासवदत्ता चित्रकला एवं संगीतकला को अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष देनेवाली समझ कर उसकी साधना अन्तःपुर में करती थीं। वह विद्ध, अविद्ध, रसचित्र, फूलचित्र, इन चारों प्रकार के चित्रकर्म में अद्वितीय निपुण थीं। राजकुमारी रत्नावली भी चित्र निपुण थी। सुसङ्गता उसकी प्रशंसा करते हुये कहती है कि तुम्हारी निपुणता आश्चर्यजनक है।[६]

ललित कलाओं की साधना के अतिरिक्त महारानी वासवदत्ता अक्षक्रीड़ा, पाशक्रीड़ा और चतुरंगक्रीड़ा से भी अत्यधिक अनुराग रखती थीं। अन्तःपुर की अन्य सुन्दरियों के साथ वे काव्यशास्त्र विनोद भी किया करती थीं। अन्तःपुर में होने वाले धार्मिक उत्सवों में वे बड़े उल्लास से नृत्य संगीत में भाग लिया करती थीं।

अन्तःपुर में एक भव्य रंगशाला भी थी, जहाँ पर नृत्य, नाटक के प्रदर्शन हुआ करते थे। अन्तःपुरिकायें ही नाटक लिखतीं और वहीं अभिनय भी किया करती थीं। प्रियदर्शिका में तो यहाँ तक उल्लेख आता है कि उज्जयिनी में राजकुमारी वासवदत्ता की आचार्या भगवती सांकृत्यायनी थीं, वह कुलीन परमविदुषी परिव्राजिका थीं। वासवदत्ता का विवाह हो जाने पर वह भी कौशाम्बी में आकर रहने लगी थीं।

उदयन और वासवदत्ता के प्रणय प्रसंग पर भगवती सांकृत्यायनी ने एक रूपक लिखा था। उदयन और वासवदत्ता दोनों ने उस नाटक को पढ़ा और बड़े प्रसन्न हुए। वासवदत्ता ने उसके अभिनय की योजना अन्तःपुर के रंगमंच में करने की व्यवस्था की। अन्तःपुरिकाएँ ही उस अभिनय में पात्र बनी हुई थीं। वासवदत्ता की प्रधान सहचरी कांचनमाला को उस नाटक में कांचनमाला की ही भूमिका दी गई, मनोरमा को उदयन की, और रनिवास की परम सुन्दरी रत्नावली को जो आरण्यका के रूप में थी वासवदत्ता की भूमिका दी गई, और उसने वासवदत्ता का बड़ा ही स्वाभाविक अभिनय किया।[७] जिस भाग में नृत्य-नाटक के आयोजन हुआ करते थे उसे रंगभूमि कहा जाता था। वह रंगशाला कलाओं की प्रतिमूर्ति-सी थी, उसके स्तम्भ रत्न-जटित थे। वहाँ पर पुष्पप्रकरों से सुशोभित अनेक वितान बने हुए थे। रंगशाला का एक भाग प्रेक्षागार कहलाता था जिसके मध्य भाग में एक ऊँची वेदिका बनी हुई थी, जिस पर बैठकर महारानी वासवदत्ता नृत्य-नाटक और अभिनय देखा करती थीं। उनके पीछे खड़ी हुई रूप-यौवन-आभरण-अलंकृत सहचरियाँ धीरे-धीरे चँवर डुलाया करती थीं।

बायीं ओर अन्तःपुर की अन्य रानियों के बैठने के आसन थे। दाहिनी ओर महारानी की प्रमुख सखियों, धात्रेयी और आचार्य के बैठने के स्थान निश्चित थे, उनके पीछे अन्तःपुर की प्रमुख परिचारिकाएँ बैठती थीं। अनुशासन और नियन्त्रण बनाए रखने के लिए मुख्य-मुख्य स्थानों पर वेत्रधारिणी आरक्षिकाएँ खड़ी रहती थीं। वीथिकाओं में अन्तःपुर की विशिष्ट परिचारिकाएँ बैठती थीं। पौरजानपद स्त्रियाँ दर्शक वेदिका पर बैठती थीं।

पारिवारिक उत्सवों के अवसर पर अन्तःपुर वीणा, वेणु, मुरज और पगनूपुरों की झंकार से तथा कोकिल कंठी रमणियों के सरस गान से तथा लास्य नृत्य के पादविक्षेप से

गुंजायमान रहता था। ऐसे उत्सवों में भाग लेने वाली पौर युवतियों के लगातार आने जाने से मरकत-मणि-जटित आंगन उनके महावर लगे हुये पैरों की छाया से ऐसा जान पड़ता था मानों सरोवर में रक्त कमल खिले हुए हों।

इन पूर्व विवेचनों के आधार पर यह प्रतीत होता है कि न तो यह कहा जा सकता है कि वासवदत्ता को पाकर उदयन लोकदेवता बने या उदयन को पाकर वासवदत्ता ने जनदेवी का पद प्राप्त किया, दोनों एक दूसरे के पूरक और प्रेरक थे। उदयन और वासवदत्ता दोनों ऐतिहासिक पात्र हैं किन्तु दुःख हैं कि इतिहास ने उनके साथ न्याय नहीं किया। यदि संस्कृत का नाटक साहित्य और कथा साहित्य भी इतिहास की भाँति इनकी उपेक्षा करता तो भारतीय संस्कृति और राजनीति के इन दो ध्रुवों का अस्तित्व सदा के लिये मिट गया होता। इस युग की नारियों की कला-प्रियता राष्ट्र और संस्कृति के निर्माण में सदा सृजनात्मक रही, उसी ने प्राचीन सामाजिक उत्सवों की विधि और परम्परा, प्राचीन कलाओं की विविधता और उपयोगिता एवं कला और जीवन की एकरूपता को जीवित रखा। इस युग की नारियों की सांस्कारिता उनकी कलाप्रियता न केवल कौशाम्बी की अपितु भारत की अस्मिता बन गई। विशेष रूप से महारानी वासवदत्ता की कला विलासिता वासनामयी न थी, उसमें सृजन के तत्व और जीवन की अभिव्यक्ति थी।

सन्दर्भ

१. तापसवत्सराज, अनङ्गहर्ष,' संपादक डा० देवीदत्तशर्मा एवं प्रो० इन्द्रदत्त उनियाल, मेरठ, १९६९, भूमिका।
२. हिन्दी काव्य में नारी, डा० वल्लभदास तिवारी, मथुरा, १९७४ पृ० ५२ और आगे।
३. रत्नावली, श्रीहर्ष, हिन्दी टीका—रमाशंकर त्रिपाठी, १९७०, १—१२—२३, पृष्ठ २८-५२।
४. स्वप्नवासवदत्तम्, भास, हिन्दी टीका, पं० जगन्नाथ शास्त्री, होशिङ्ग, १९८२, पृ० ९५।
५. स्वप्नवासदत्तम्, भास, पृ० १०४।
६. रत्नावली—श्रीहर्ष, हिन्दी टीका—रमाशंकर त्रिपाठी, १९७०, पृ० ६९।
७. प्रियदर्शिका-श्रीहर्ष, संपा० हरिदत्त, वाराणसी, १९३८, अंक ३।

चरक एवं पतञ्जलि के अनुसार योग का स्वरूप

डॉ० गिरीशचन्द्र गौड़*, डॉ० ज्योतिर्मित्र**

योग शब्दार्थ

व्याकरण की दृष्टि से विचार करने पर योग शब्द युजिर् योगे[1] धातु से घञ् प्रत्यय (भावे० ३/३/१८) करने से बनता है। इसका अर्थ जोड़ना या मिलाना होता है। इसी से संयोग एवं वियोग शब्द की उत्पत्ति होती है।

"युज् समाधौ"[2] धातु से भी भाव में घञ् प्रत्यय करने पर योग शब्द की निष्पत्ति होती है, जिसका अर्थ है समाधि लगाना।

उपर्युक्त प्रथम धातु "युजिर् योगे" का तात्पर्य होता है जोड़ना, मेल करना, एकतास्थापन, एकत्रीकरण, संहनन, साम-दाम-दण्ड-भेद का संयोजन, गति, दोषदूष्यादि की परिकल्पना करके औषध की योजना करना, शरीर में स्थिरता लाना, विष्कम्भ (खम्भा या नाटक के दो अङ्कों के मध्य प्रसंगों का जोड़ना), विश्वासघातक कवच तथा क्रियाशीलता।[3]

द्वितीय "युज् समाधौ" धातु का तात्पर्य है "चित्तवृत्तिनिरोध" अर्थात् चित्तवृत्तिनिरोध करने पर ही समाधि प्राप्त हो सकती है। दर्शन पद्धति में इसी धातु का ग्रहण किया जाता है। इसके अनुसार योग शब्द से "परमात्म-चिन्तन" का ग्रहण किया जाता है।

योग शब्द के शास्त्र-प्रयुक्त विभिन्न अर्थ

औपनिषद परम्परा में योग शब्द ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त होता है।[4] श्रीमद्भगवद्गीता में विभिन्न विभक्तियों के रूप एवं प्रत्यय उपसर्ग लगाकर लगभग सौ से अधिक बार "योग शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिसके विभिन्न अर्थ कहे गये हैं। गीता में एक स्थान पर सिद्धि और असिद्धि में समस्वभाव को ही "योग" कहा गया है।[5] आगे नवम अध्याय में गीता में "योगक्षेम" शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिसपर भाष्य करते हुए शङ्कराचार्य ने लिखा है कि "योगो प्राप्तस्य प्रापणं क्षेमस्तद्रक्षणं तदुभय वहामि।" श्रीधर स्वामी लिखते हैं कि "योगं धनादिलाभं क्षेमञ्च तत्पालनं मोक्षं वा, तैरप्रार्थितमपि अहमेव वहामि प्रापयामि" इत्यादि।

देवीभागवत में योग शब्द "प्रेम" के लिए प्रयुक्त हुआ है।[6] इसकी टीका करते हुए नीलकण्ठ ने "योगयुक्तः" का अर्थ "प्रेमयुक्तः" किया है।

---

* बी० ए० एम० एस०, व्याकरणशास्त्री, डिप० इन जर्मन, एम० डी० (आयु०) वरिष्ठ तकनीकी सहायक (आयुर्वेद), स्वास्थ्य-मन्त्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली

** रीडर, मौलिक सिद्धान्त विभाग, चिकित्सा विज्ञान संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

मनुस्मृति में छल-कपट के अर्थ में योग शब्द प्रयुक्त हुआ है।[७] इसकी टीका करते हुए कुल्लूकभट्ट ने लिखा—"योगाधमनेति योगशब्दच्छलवाची छलेन ये बन्धकविक्रपदानप्रतिग्रहाः क्रियन्ते न त वृतोऽन्यत्रापि निक्षिपेदादौ यत्र स छद्म जानीयात्। वस्तुतः निक्षेपणादि न कृतं तत्सर्वं विनिवर्तयेत्॥"

एक स्थान पर "योग" का प्रयोग मनुस्मृति में किसी वस्तु को कार्य में लगाने के लिए किया गया है।[८]

ज्यौतिष शास्त्र में योग शब्द का ग्रहण विभिन्न अर्थों में होता है—जैसे—अंकों को जोड़ना, जन्मकुण्डली के विभिन्न ग्रहों के सम्बन्ध में, विशिष्ट तिथि, नक्षत्र, वार आदि के एक साथ मिलने पर (जैसे—गुरुवार को पुनर्वसु नक्षत्र हो तो सिद्धयोग)।

साहित्य शास्त्र में योग का कुछ विशिष्ट अर्थ होता है, हितोपदेश में कहा गया है—"कथायोगेन बुध्यते" यहाँ पर प्रयुक्त योग शब्द रीति या क्रम अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। "मुद्राराक्षस" में योग शब्द "जादू" के लिए प्रयुक्त किया गया है।[९] कालिदास ने "रघुवंश महाकाव्य" में योग शब्द का प्रयोग "सम्पर्क" या "स्पर्श" के लिए किया है।[१०]

छन्दःशास्त्र में योग नामक छन्द का वर्णन मिलता है जिसके प्रत्येक चरण में १२, ८ के यति से २० मात्राएँ एवं अन्त में यगण होता है।

पातञ्जलयोग दर्शन में योग शब्द से "परमात्म-चिन्तन" का ग्रहण होता है। योग का लक्षण, स्वरूप तथा उसकी प्राप्ति के उपायों का वर्णन करते हुए पातञ्जलयोगदर्शन में बतलाया गया है कि चित्त की ५ वृत्तियाँ होती हैं।[११] इन पाँचों के अलग-अलग लक्षण भी बतलाए गए हैं। पतञ्जलि ऋषि ने "निद्रा" को भी चित्त की वृत्ति विशेष के अन्तर्गत माना है।[१२] अन्य दर्शनकारों की भाँति इनकी मान्यता में निद्रावृत्तियों का अभाव रूप अवस्था विशेष नहीं है तथा विपर्ययवृत्ति का लक्षण करते समय उसे मिथ्याज्ञान बताया है। पातञ्जलयोग दर्शन में प्रधानतया योग के ३ भेद माने गए हैं—सविकल्पक, निर्विकल्पक तथा निर्बीज इन तीन भेदों में से सम्प्रज्ञात योग के २ भेद हैं, उनमें जो सविकल्पक योग है, वह तो पूर्वावस्था है, उसमें विवेक ज्ञान नहीं होता। दूसरा जो निर्विकल्पक योग है, जिसे निर्विचार समाधि भी कहते हैं, वह जब निर्मल हो जाता है[१२] उस समय उसमें विवेक-ज्ञान प्रकट होता है। वह विवेक ज्ञान पुरुषख्याति तक हो जाता है।[१३] जो कि पर वैराग्य का हेतु है (योग० १।१११)[१४] क्योंकि प्रकृति और पुरुष के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होने के साथ ही साधक के समस्त गुणों एवं उसके कार्य में "आसक्ति" का सर्वथा अभाव हो जाता है, तब चित्त में कोई भी वृत्ति नहीं रहती। यह सर्ववृत्तिनिरोधरूप निर्बीज समाधि है,[१५] इसी को असम्प्रज्ञात योग तथा धर्ममेघ समाधि भी कहते हैं।[१६] इसकी विस्तृत व्याख्या योगसूत्र के समाधिपाद में की गई है निर्बीज समाधि ही योग का अन्तिम लक्ष्य बताया गया है। इसी से ही आत्मा की स्वरूप प्रतिष्ठा या कैवल्यस्थिति प्राप्त होती है।

आयुर्वेद व्यावहारिक शास्त्र है, अतः इसमें योगदर्शन किस रूप में व्याप्त है इसका विचार करना अत्यावश्यक हो जाता है। चरकसूत्र स्थान के प्रथम अध्याय में जहाँ ऋषियों की संगोष्ठी का प्रसंग आया है, उस स्थल को पढ़ने से हिमालय के उस स्थान का दिग्दर्शन होता

है जो वस्तुतः समाधि प्राप्त करने के लिये उपयुक्त स्थल था, क्योंकि चक्रपाणि ने स्पष्ट कर दिया है कि उक्त वातावरण में लोग समाधिस्थ हो जाते हैं।[१७]

उक्त समाधिस्थल में जितने महर्षिगण उपस्थित हुए वे सभी ब्रह्मज्ञान-यम-नियम आदि के निधि थे। उनकी तपस्या उत्कृष्ट थी, वे प्रज्वलित अग्निशिखा की तरह देदीप्यमान थे और उन्होंने यह अनुभव किया कि धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों का मूल आरोग्यमय जीवन है।[१८] यहाँ यह ज्ञातव्य है कि आयुर्वेद शास्त्र का प्रयोजनीभूत लक्ष्य विकार को दूर करते हुए स्वस्थ पुरुष के स्वास्थ्य का रक्षण करते हुए उसे मोक्ष मार्ग तक ले जाना ही दृष्टिकोण है। इसीलिए आयुर्वेद में योग एवं मोक्ष दोनों का वर्णन स्पष्ट रूप से मिलता है। "योगो मोक्षप्रवर्तकः" के अनुसार योग का ज्ञान प्राप्त कराना भी आयुर्वेद का चरम लक्ष्य है महामति भरद्वाज ने त्रिस्कन्ध और "अनन्तपार" विशेषणों से युक्त आयुर्वेद को अत्यल्प समय में जाना था। यहाँ प्रयुक्त हुआ "अनन्त" शब्द "मोक्ष" के लिए प्रयुक्त हुआ है।[१९] आचार्य गंगाधर ने चरम सुख के साक्षात्कार को मोक्ष की संज्ञा प्रदान की है।[२०] इस प्रकार मोक्ष साधन का हेतुभूत योग आयुर्वेद का एक भाग है, जिसका वर्णन आचार्य चरक ने विभिन्न दृष्टियों से किया है।

चरकसंहिता के सिद्धिस्थान में जहाँ ३६ तन्त्रयुक्तियों का वर्णन किया गया है, वहीं "योग" नामक तन्त्रयुक्ति का भी उल्लेख किया गया है। उसका अर्थ करते हुए चक्रपाणि ने बतलाया है—"योगोनाम योजना", व्यस्तानां पदानामेकीकरणं योगः"। अर्थात् बिखरे हुए पदों को जोड़ना योग कहलाता है। सुश्रुत संहिता में भी योग नामक तन्त्रयुक्ति का उल्लेख है—"येन वाक्यं युज्यते स योगः।"

आयुर्वेद में "योग" को ही रोगों का कारण तथा योग को ही रोगों का निवारण बतलाया गया है। वस्तुतः सुख-दुःख का कारण न इन्द्रियां है, न ही इन्द्रियों के अर्थ (विषय) अपितु सुख के हेतु समयोग तथा दुःख के हेतु अतियोग, अयोग तथा मिथ्यायोग ये चार प्रकार के "योग" ही हैं। क्योंकि इन्द्रियां भी हैं। उनके अर्थ भी है। किन्तु उनका एक साथ संयोग जब तक न हो तबतक दुःख होगा और न सुख ही, इसीलिए सुख और दुःखों का कारण आयुर्वेद में उपर्युक्त "चतुर्योग" को ही माना जाता है। उनमें समयोग सुख का कारण है तथा ३ योग (अयोग-अतियोग-मिथ्यायोग) दुःख कारण है।[२१] आचार्य चरक ने "धातु साम्य" को "प्रकृति" और धातुवैषम्य को विकार कहा है। धातुसाम्य ही आरोग्य है और वह आरोग्य सुख संज्ञक है।[२२] यहाँ सुखसंज्ञक शब्द का तात्पर्य धातुसाम्यरूपी आरोग्य से है, यह लौकिक सुख कहलाता है। वास्तव में "पारमार्थिक सुख ही मोक्ष है। पारमार्थिक सुख के अतिरिक्त जो सुख है वे सुख के आभास हैं; क्योंकि सभी कारण वाला कार्य दुःख होता है", वह आत्मसम्बन्धी नहीं होता। अतः वह अनित्य एवं अयथार्थ सुख कहलाता है। यथार्थ सुख "पारमार्थिक सुख" कहलाता है जो योग के द्वारा प्राप्त होता है। इस प्रकार आयुर्वेद में आत्यन्तिक वेदना की निवृत्ति को स्थिति को प्राप्त करने का जो महार्घ्य साधन है, उसे "योग" कहा गया है। इसी योग से ही तत्वस्मृति होती है और तत्वस्मृति से "सत्याबुद्धि" उत्पन्न हो जाती है।[२३] इस प्रकार जिस योगी को "सत्याबुद्धि" उत्पन्न हो जाय वह सर्वसन्यस्त होकर जीवन्मुक्त हो जाता है।

आयुर्वेद में योग का स्वरूप

आचार्य चरक के अनुसार आत्मा, इन्द्रिय, मन एवं अर्थों के सन्निकर्ष से सुख तथा दुःख होते हैं, परन्तु जब आत्मा में मन स्थिर हो जाता है तब किसी कार्य के होने से सुख तथा दुःख इन दोनों भावों की निवृत्ति हो जाती है, ऐसी स्थिति में शरीर के साथ आत्मा वशी हो जाता है, इस स्थिति को ऋषिगण योग कहते हैं।[२४]

चरक ने एक स्थान पर 'उपधा' शब्द का प्रयोग किया है, उपधा का अर्थ तृष्णा है, तृष्णा ही सभी प्रकार के दुःखों का मूल है। इसीलिये चरक ने 'नैष्ठिकी चिकित्सा' का भी उल्लेख किया है। तात्पर्य यह है कि जब अत्यन्त मोक्षरूपा (निष्ठा) तृष्णा शून्य प्रवृत्ति परा होती है तभी मोक्ष होता है और मोक्षरूपी फल जिस चिकित्सा से प्राप्त होता है उसे 'नैष्ठिकी' कहा गया है। 'उपधा, (तृष्णा) ही दुःख और दुःख के आश्रयभूत शरीर की उत्पत्ति में मूल कारण है। सभी प्रकार की उपधाओं का नाश करना ही सम्पूर्ण दुःखों के उन्मूलन का मूल है। चरक ने भी उदाहरण दिया है कि जिस प्रकार कोषकार (रेशम का कीड़ा) स्वयं वधप्रद अंशुओं (रेशों) को उत्पन्न करके उनके जाल में फँसकर मर जाता है, उसी तरह अज्ञानी पुरुष 'तृष्णा' रूपी जाल में फँसकर दुःखों को भोगता रहता है। जो ज्ञानी पुरुष हैं, वे उन विषयों को अग्निवत् दुःखदायी समझकर उससे पृथक् हो जाते हैं और रज तथा तम से मुक्त होने के कारण किसी आसक्तिजनक कार्य को नहीं करते, फिर वे राग द्वेष मुक्त होकर रज और तम को अपने मन में प्रश्रय नहीं देते इसी कारण उनका कोई ऐसा संचित कर्म नहीं होता कि जिसे भोगने के लिए उन्हें विवश होना पड़े। अतः वे आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति रूप मुक्तावस्था प्राप्त कर लेते हैं।[२५] आचार्य चरक ने सुख दुःख की निवृत्ति होने में "स्मृति" को कारण बतलाया है और कहा है कि मोक्ष के साधनभूत जो उपाय हैं।[२६] उनके पालन करने से स्मृति जानी जाती है जब भाव (अर्थात् संसार में उत्पन्न वस्तुओं का स्वभाव) स्मरण होता है तब दुःख से निवृत्ति हो जाती है।[२७] इस प्रकार "तत्त्व स्मृतिबल" को ही चरक ने योग एवं मोक्ष प्राप्ति का मार्ग बतलाया है। इसी तत्वस्मृति बल के द्वारा ही "सत्याबुद्धि" उत्पन्न होती है, यह सत्याबुद्धि शुद्ध मन वाले पुरुष में जब उत्पन्न होती है तभी उसे योगी की सिद्धि होती है। विद्या, सिद्धि, मति, मेधा, प्रज्ञा और ज्ञान को "सत्याबुद्धि" का पर्याय आचार्य चरक ने कहा है।[२८] सिद्धयोगियों का वर्णन करते हुए चरक ने बतलाया है कि जब योग की सिद्धि हो जाती है तब उन्हें कुछ स्वभाविक शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। जैसे दूसरे के शरीर में प्रवेश कर जाना, दूसरे के मन की बातों को जान जाना, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध इन अर्थों को अपनी इच्छा से प्रवृत्त करना, अतीन्द्रिय वस्तुओं को भी देखना, कर्णेन्द्रिय अपने इच्छित वस्तुओं को चाहे वह दूर की हो या नजदीक की हो—सुनने लगना, स्मरणशक्ति ठीक रहे अर्थात् सभी भावों से तत्वों को समझने लगना, शरीर में देवताओं की तरह कान्ति का हो जाना जब चाहे तब अपने शरीर को छिपा लेना या प्रगट कर देना। इस प्रकार ८ प्रकार का बल योगियों को ईश्वर से प्राप्त हो जाता है।[२९]

योग ही मोक्ष का प्रवर्तक

योग मोक्ष के प्राप्ति का परमोत्कृष्ट साधन है। चरक ने बतलाया है कि योग और मोक्ष

में सभी प्रकार की वेदनाओं का नाश हो जाता है। मोक्ष की स्थिति में वेदनाओं का "आत्यन्तिक विनाश" होता है, यह फल योग की प्राप्ति के अनन्तर ही प्राप्त होता है।[३०] मोक्ष के स्वरूप का वर्णन करते हुए आचार्य चरक ने बतलाया है कि जब मन से रज एवं तम का अभाव हो जाता है तथा जिसके बलवान् कर्मों का क्षय हो जाता है तब कर्म संयोग अर्थात् कर्मजन्य बन्धनों से वियोग हो जाता है, तब ऐसी अवस्था को "मोक्ष" कहते हैं। यह अपुनर्भव की अवस्था कहलाती है।[३१] यह मोक्ष विपाप, विरज, शान्त, पर, अक्षर, अव्यय, अमृत, ब्रह्म, निर्वाण तथा शान्ति इन पर्यायों से भी जाना जाता है।[३२]

सन्दर्भ

१. (रु० उ० अ०) विधिसूत्र–"भावे" ३।३।१८ ॥
२. "युज् समाधौ" (दि० आ० अ०)
३. योगः संहननोपायध्यानसंगतियुक्तेषु (अमरकोष) ३।३।२२ ॥ तथा योगो पूर्वार्थसंप्राप्तौ संगतिध्यानयुक्तेषु, वपुः स्थैर्यप्रयोगे च विष्कम्भादिषु भेषजे। विश्रब्धघातके द्रव्योपाय-संहननेष्वपि। कार्मणेपि च। मोदिनीकोश (२३।१८।१९)
४. योगात्सञ्जायते ज्ञानम् (त्रिशिखि ब्रा० १९)
५. योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गंत्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ गी० २।४८ ॥
६. स्वीयान् गुणान् प्रवितनात् प्रवदस्तदासौ।
तां प्रेमदामनुचकार च योग–युक्तः ॥ ३।१५।१३ ॥
७. योगाधमनविक्रीतं योगदानप्रतिग्रहम्।
यत्र वाप्युपधिं पश्येत् तत्सर्वं विनिवर्तयेत् ॥ (मनु०)
८. एतैरूपाययोगैस्तु शक्यास्ताः परिरक्षितुम्। (मनु० ९।१०)
९. "कल्पितनेन योगचूर्णं मिश्रितं चन्द्रगुप्ताय" (मुद्राराक्षस).
१०. तमङ्कमारोप्य शरीरयोगजैः सुखैः निषिञ्चन्तमिवामृतं त्वचि ॥ रघु० ३।३६ ॥
११. वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टा ऽक्लिष्टा।
प्रमाणविपर्यय विकल्पनिद्रास्मृतयः ॥ (पा० यो० समाधिवाद ५-६).
१२. अभावप्रत्यालम्बनावृत्तिर्निद्रा (यो० १।१० ॥)
१३. निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः (यो० सू० १।४७ ॥)
१४. (क) योङ्गागानुष्ठानादशुद्धिज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः। (२।२८ ॥)
(ख) सत्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषोभोगः परार्थात्स्वार्थ संयमात्पुरुषज्ञानम् ॥ ३।३५।११
१५. तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्। (यो० १।१६ ॥)
१६. तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः (पा० यो० १।५१)
१७. प्रसंख्यानेप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः। (पा० यो० ४।२९ ॥)
१८. समेताः पुण्यकर्माणः पार्श्वे हिमवतः शुभे। च० सू० १।७
शुभे इति पदं कर्तव्यसमाध्यनुगुणोपदर्शनार्थं, यतः शुभेहि देशे समाधयः प्रसीदन्ति ॥ (च० सू० १।७ पर चक्रपाणि)

१९. ब्रह्मज्ञानस्य निधयो यमस्य नियमस्य च, तपसस्तेजसा दीप्ता हूयमाना इवाग्नयः। सुखोपयविष्टास्ते तत्र पुण्यां चक्रुः कथामिमां, धर्मार्थकाममोक्षाणां आरोग्यंमूलमुत्तम् ।। (च० सू० १।१४–१५)।

२०. सोऽनन्तपारं त्रिस्कन्धमायुर्वेदं महामतिः, यथावदचिरात्सवं बुबुधे तन्मना मुनिः। अनन्तो मोक्षः एवं परममुत्कृष्टं फलं यस्यायुर्वेदस्यासावनन्तपारः। वक्ष्यति हि चिकित्सा तु नैष्ठिकीसा विनोपधाम् (च० शा० १) अत्र नैष्ठिकीमोक्षसाधनहेतुः (चक्रपाणि च० सू० १।२५ पर)

२१. मोक्षो विषयवासनात्यागजनितसुखदुःखेषु चरमदुःखत्यागपूर्वकचरमसुखसाक्षात्कारः। --(गङ्गाधर)

२२. नेन्द्रियाणि न चैवार्थाः सुखदुःखस्य हेतवः। हेतुस्तु सुखदुःखस्य योगो दृष्टश्चतुर्विधः। सन्तीन्द्रियाणि सन्त्यर्था योगो न च न चास्तिसक्। न सुखं कारणं तस्माद्योग एव चतुर्विधः ।। (चरक शा० १/१३०-३१)

२३. विकारो धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते।
सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च ।। (च० सू० ९/४)
अत्र संज्ञकग्रहणेन लौकिकसुखं न परमार्थतः सुखमिति दर्शयति। यतो वक्ष्यति "सर्वं कारणवद्दुःखम्।" (च० शा० १/५२ चक्रपाणि टीका)

२४. यावन्नोत्पद्यते सत्या बुद्धिर्नैतदहं यथा।
नैतन्ममेति विज्ञायज्ञः सर्वमतिवर्तते ।। (च. शा. १।१५३)

२५. आत्मेन्द्रियमनोर्थानां सन्निकर्षात्प्रवर्तते।
सुखदुःखमनारम्भादात्मस्थे मनसि स्थिरे ।।
निवर्तते तदुभयं वशित्वं चोपजायते।
सशरीरस्य योगज्ञास्तं योगमृषयो विदुः ।। (च. शा. १।१३८-१३९)
वशित्वं = वक्ष्यमाणमष्टविधमैश्वर्यबलम् । (च. शा. १।३९ पर चक्रपाणि)

२६. उपधाहि परो हेतुर्दुःख दुःखाश्रयप्रदः, त्यागः सर्वोपधानां च सर्वदुःखव्यपोहकः। कोषकारो यथा ह्यंशूनुपादत्ते वधप्रधान्। उपादत्ते तदर्थेभ्यस्तृष्णामज्ञः सदाऽऽतुरः। यस्त्वग्निकल्पानर्थानज्ञोज्ञात्वातेभ्यो निवर्तते। अनारम्भादसंयोगात्तंदुःखं नोपतिष्ठते ।। (च० शा० १।९५-९७)

२७. च० शा० १।१४८-१४९ ।।

२८. स्मृतिः सत्सेवनाद्यैश्चधृत्यन्तैरुपजायते।
स्मृत्वा स्वभावं भावानां स्मरन् दुःखात्प्रमुच्यते ।। (च० शा० १।१४७ ।।)

२९. शुद्धसत्वच्य या शुद्धा सत्याबुद्धिः प्रवर्तते।
यथा भिनत्यतिवलं महामोहमयं तमः ।।
.... ।
.... ।।
याति ब्रह्मथयानित्यमजरं शान्तमव्ययम्।
विद्यासिद्धिर्मतिर्मेधाप्रज्ञा ज्ञानं च सा मता ।। (च० शा० ५।१६-१९)

३०. आवेशश्चेतसो ज्ञानमर्थानां छन्दतः क्रिया ।
दृष्टिः श्रोत्रंस्मृतिः कान्तिरिष्टतश्चाप्यदर्शनम्
इत्यष्टविधमाख्यातं योगिनां वलमैश्वरम् ।
शुद्धसत्वसमाधानात्तत् सर्वमुपजायते ॥ (च० शा० १।१३७)

३१. योगे मोक्षे च सर्वासां वेदनानामवर्तनम् ।
मोक्षे निवृत्तिः निःशेषा योगो मोक्ष प्रवर्तकः ।" (च० शा० १।१३७)

३२. मोक्षो रजस्तमो भावाद्वलवत्कर्म संक्षयाद् ।
वियोगः सर्व संयोगैरपुनर्भव उच्यते ॥ (च० शा० १।१४२)

ईश्वर की सत्ता और गाँधी द्वारा प्रतिपादित युक्तियाँ

डॉ० देवव्रत चौबे*

ईश्वर की सत्ता का प्रश्न दार्शनिकों के लिए विशेष महत्त्व रखता है। धार्मिक व्यक्ति के लिए ईश्वर का अस्तित्व कोई समस्या प्रस्तुत नहीं करता क्योंकि धार्मिक व्यक्ति श्रद्धा एवं आस्था द्वारा ईश्वर के अस्तित्व का ज्ञान प्राप्त करता है, तर्क द्वारा नहीं। चूंकि गाँधी जी एक धार्मिक व्यक्ति थे अतः उन्हें ईश्वरका अस्तित्व निर्विवाद प्रतीत होता है। वे कहते हैं, "मैं ईश्वर की सत्ता के प्रति अधिक विश्वस्त हूँ, अपेक्षाकृत इस तथ्य के कि आप और मैं इस कोठरी में बैठा हूँ। मैं इस बात को भी प्रमाणित कर सकता हूँ कि मैं हवा एवं जल बिना जिन्दा रह सकता हूँ परन्तु ईश्वर बिना नहीं। आप मेरी आँखें फोड़ सकते हैं किन्तु उससे मेरी हत्या नहीं हो सकती। आप मेरी नासिका काट कर पृथक् कर सकते है परन्तु उससे मेरी हत्या नहीं होगी। परन्तु मेरे ईश्वर विश्वास का नाश कर दिया जाय तो मैं मर जाऊँगा।"[1] गाँधी ईश्वर के अस्तित्व को युक्लिड की रेखागणित की भाँति स्वतःसिद्ध मानते हैं।[2] ईश्वर के अस्तित्व में अविश्वास करना अपने अस्तित्व में अविश्वास करना है जो आत्म-विरोधी बात है।[3] डेकार्ट का भी कथन है कि मेरी सत्ता का अपलाप नहीं हो सकता। आत्मतत्त्व स्वतः सिद्ध सत्य है। आत्मा की स्वतःसिद्धता का प्रतिपादन कर डेकार्ट ने ईश्वर की सत्ता को सिद्ध किया है। गाँधी जी ने भी ईश्वर को स्वतःसिद्ध मानकर इसकी सत्ता को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने के लिए उन्होंने लगभग वे सभी युक्तियाँ दी हैं जो शताब्दियों से भारतीय तथा पाश्चात्य दार्शनिक देते रहे हैं।

सत्तामूलक तर्क—इस तर्क के अनुसार ईश्वर की सत्ता स्वयं प्रत्यक्ष है। ईश्वर के अस्तित्व में अविश्वास करना एक तार्किक असम्भावना है। ईश्वर एक ऐसी सत्ता है जिससे महान् की कल्पना नहीं की जा सकती। सन्त एनसलम इसके मूल प्रतिपादक हैं। उनके अनुसार ईश्वर के प्रत्यय से ही ईश्वर की सत्ता सिद्ध होती है। डेकार्ट के अनुसार ईश्वर के प्रत्यय से ईश्वर की सत्ता उसी प्रकार सिद्ध होती है जिस प्रकार त्रिभुज के प्रत्यय में उसके तीनों कोणों का ज्ञान निहित है। ईश्वर की पूर्णता में ही उसका अस्तित्व समाविष्ट है।

काण्ट ने इस तर्क की आलोचना की है। उनके अनुसार ईश्वर की पूर्णता के विचार से केवल ईश्वर के विचार की सत्ता प्रमाणित होती है उसकी सत्ता सिद्ध नहीं होती। हम प्रत्यय से वस्तु की ओर नहीं जा सकते। विचार मात्रसे ही ईश्वर की सत्ता स्थापित नहीं हो सकती।

ईश्वर के सन्दर्भ में प्रत्यय और अस्तित्व को एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। 'ईश्वर सत्य है' इस वाक्य के द्वारा गाँधी यह बतलाना चाहते हैं कि सत्य ईश्वर का गुण नहीं

* प्रवक्ता, दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्व विद्यालय

बल्कि ईश्वर ही है।[४] शब्दोत्पत्ति की दृष्टि से सत्य की व्याख्या करते हुए गांधी जी ने लिखा है; "सत्य शब्द सत् से बना है। सत् का अर्थ है—अस्ति अर्थात् अस्तित्व। इसीलिए सत्य का ही अस्तित्व है। ईश्वर ही सत् है, दूसरी किसी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है।"[५]

गांधी के अनुसार 'ईश्वर सत्य है' वाक्य से 'सत्य ही ईश्वर है' विशेष उपयुक्त वाक्य है।[६] क्योंकि वह व्यक्ति भी ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करता उसके लिए 'ईश्वर सत्य है' वाक्य जो निरर्थक है। लेकिन सत्य की सत्ता को कोई अस्वीकार नहीं करता। 'सत्य' में ईश्वरवादी एवं अनीश्वरवादी दोनों आस्था रखते हैं।[७] 'सत्य ही ईश्वर है; से यह अर्थ निकलता है कि जिस तरह सत्य की सत्ता है उसी तरह ईश्वर की भी। अतः 'सत्य ही ईश्वर है' वाक्य विशेष उपयुक्त है।

सृष्टिमूलक तर्क—यह अत्यधिक प्राचीन तर्क है और इसका प्रचलन प्रायः सभी प्राचीन धार्मिक एवं दार्शनिक परम्पराओं में पाया जाता है। ज्ञान तर्क में सृष्टि से सृष्टिकर्त्ता का अनुमान किया जाता है। इस तर्क का प्रयोग प्लेटो से लेकर आधुनिक युग के दार्शनिकों तक ने किया है। प्लेटो के अनुसार प्रत्येक वस्तु अथवा घटना का कोई कारण होता है, अकारण कोई भी कार्य नहीं होता। इस कार्य-कारण रूपी श्रृंखला का अन्त होना आवश्यक है अन्यथा अनवस्था दोष उत्पन्न हो जायगा। अतः सभी कार्यों का एक कारण है जो स्वयं अकारण है। उस कारण को ईश्वर कहा जाता है। गांधी जी भी इस तर्क के आधार पर ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। वे कहते हैं, "हमलोगों का अस्तित्व है, हमारे माता-पिता तथा उनके माता-पिता का भी अस्तित्व है। अतः समस्त सृष्टि के कारण के रूप में ईश्वर में विश्वास करना उचित है।"[८,९] प्रो० फिल्न्ट का भी कथन है कि प्राकृतिक जगत् ऐसा कार्य है जिसका कारण ईश्वर ही माना जा सकता है। जो० एच० जाँइस के अनुसार भी "प्रथम व मूल कारण के अभाव में किसी भी गौण कारण की सत्ता संभव नहीं हो सकती।"[१०] डेकार्ट भी इस युक्ति का समर्थन करते हैं।

पाश्चात्य विचारक अनवस्था दोष से बचने के लिए सृष्टि के कारण के रूप में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हैं।[११] गांधी के साथ ऐसी बात नहीं है। इनकी युक्ति में अपनी सत्ता मान ली गयी है और इसी के आधार पर संपूर्ण सृष्टि के कारण के रूप में ईश्वर को स्वीकार किया गया है। अतः अनवस्था दोष से बचना गांधी का उद्देश्य नहीं है। गांधी द्वारा प्रतिपादित युक्तियों में तार्किकता एवं सूक्ष्मता के अतिरिक्त सहजता भी है।

प्रयोजनमूलक तर्क—प्रयोजन मूलक तर्क उन दार्शनिकों ने प्रस्तुत किया है जो सृष्टि में निहित प्रयोजन के आधार पर एक प्रयोजनकर्ता ईश्वर की स्थापना करते है। इस तर्क में सृष्टिमूलक तर्क की अपेक्षा जगत् के चेतन प्रयोजन की व्याख्या की जाती है। जगत् में व्याप्त परिवर्तन की व्याख्या एक चेतन सृष्टिकर्ता की मान्यता के द्वारा ही संभव है। जगत् को प्रयोजनात्मक स्वीकार करने का तात्पर्य यह है कि उसकी व्यवस्था किसी विशेष प्रयोजन के लिए हुयी है। प्रयोजन बराबर किसी न किसी बुद्धि सम्पन्न व्यक्तित्व की ओर संकेत करता है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक न्यूटन के मत में, "नियम और उद्देश्य के अनुसार ये सब गतियाँ कभी भी केवल भौतिक शक्ति से उत्पन्न नहीं हो सकतीं। सूर्य, ग्रह और उल्काओं का एक

सामञ्जस्यपूर्ण साहचर्य अवश्य ही किसी एक ऐसी सत्ता से उत्पन्न होनी चाहिए जो एक ही साथ ज्ञानवान् और शक्तिशाली हो।" आइन्स्टाइन भी इसी प्रकार की विचारधारा को स्वीकार करते हुए एक ऐसी दैवी शक्ति की ओर संकेत करते हैं जो विश्व में निहित है।

अन्य दार्शनिकों की तरह गांधी भी विश्व में व्याप्त व्यवस्था के आधार पर एक चेतन व्यवस्थापक के रूप में ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करना चाहते हैं। उनका कथन है कि "मैं देखता हूँ कि विश्व में अनुक्रम है। सृष्टि के सभी जड़-चेतन पदार्थ एक अकाट्य नियम के द्वारा परिचालित होते हैं। यह अन्ध विधान नहीं है क्योंकि जीवित प्राणियों के आचरण को अन्धविधान नियंत्रित नहीं कर सकता। वह नियम या विधान जो सकल जीवन को नियंत्रित करता है नियंता, विधाता या ईश्वर है।"[१२] पुनः "इस विश्व में जो कुछ भी है छोटा या वड़ा, अल्पमत अणुओं को भी लेकर वह ईश्वर से व्याप्त है। उसे स्रष्टा या ईश कहा जाता है।"[१३] ईश्वर का नियम एवं नियामक दोनों होना उसकी सत्ता को सिद्ध करता है। प्रकृति में अभिव्यक्त यह प्रयोजन कुशलता, योग्यता तथा योजना का द्योतक है। जगत् में सर्वत्र ही ऐसी व्यवस्था दृष्टिगोचर होती है जो विशिष्ट प्रयोजन की द्योतक है। इस प्रकार की व्यवस्थायें एक अनन्त चेतन शक्ति की ओर संकेत करती हैं। गांधी उसे ईश्वर या सत्य नाम से अभिहित करते हैं।

साधारण मानव को यह तर्क अधिक सरल तथा आकर्षक प्रतीत होता है। प्रो० राइट ने सरलता और अनुकूलता को इस युक्ति का आकर्षण कहा है। आलोचकों ने भी यह स्वीकार किया है कि अन्य तर्कों की अपेक्षा यह तर्क अधिक प्रमाणिक है। कान्ट ने सभी परम्परागत तर्कों की आलोचना की है। फिर भी उन्होंने प्रयोजनात्मक तर्क को श्रद्धा की दृष्टि से देखा है। हास्पर्स ने भी इस तर्क के सम्बन्ध में कहा है, "ईश्वर की सत्ता के पक्ष में लोकप्रिय तर्क प्रयोजनात्मक तर्क है।"[१४] जे० जे० सी० स्मार्ट का कथन है कि इस तर्क के द्वारा प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति अपनी धार्मिकता की रक्षा करता है। यह तर्क धार्मिक संवेगों को बल देने में सक्षम है।[१५]

यद्यपि इस तर्क से ईश्वर का अस्तित्व स्पष्टतः सिद्ध नहीं होता, तथापि इसके द्वारा हमारी बुद्धि ईश्वर सम्बन्धी प्रत्यय को दृढ़ता से ग्रहण कर सकती है। सत्तामूलक तर्क, सृष्टि मूलक तर्क तथा प्रयोजनमूलक तर्क अपने-अपने ढंग से ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। सृष्टिमूलक तर्क के द्वारा हम सृष्टि के मूल कारण की ओर जाते हैं और प्रयोजनमूलक तर्क में सृष्टि के अन्तिम कारण की कल्पना करते हैं। ये दोनों तर्क सत्तामूलक तर्क की सार्थकता को प्रमाणित करते हैं। इन तर्कों में निकटता का सम्बन्ध है।

नैतिक तर्क—काण्ट ने इस तर्क को एक तार्किक मान्यता के रूप में प्रस्तुत किया है। यह तर्क नैतिक मान्यता के ऊपर आधारित है। काण्ट के मत में नैतिक व्यक्ति सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति के लिए प्रयास करता है किन्तु सर्वोच्च शुभ की उपलब्धि के लिए धर्म और सुख का संयोग आवश्यक है ईश्वर ही धर्म और सुख के समन्वय द्वारा जीवन में सर्वोच्च शुभ की स्थापना करा सकता है। अतः सर्वोच्च शुभ की संभावना के लिए परमसत् की कल्पना आवश्यक है। यही प्रकृति एवं नैतिकता का मूल आधार है। ईश्वर की सत्ता में नैतिक जीवन की समस्याओं का सफल समाधान होता है।

काण्ट की इस तार्किक विधि को न्यूमैन, सॉर्ले, मार्टिनो तथा रेशडेल ने और विकसित किया है। मार्टिनो ने नैतिक आदर्श को सर्वोपरि माना है। नैतिक आदर्श सत्यता है अतः ईश्वर ही नैतिक आदर्श का प्रतीक है। हेस्टिंग्स रेशडेल का नैतिक तर्क वस्तुनिष्ठ प्रत्ययवाद पर आधारित है। उनके अनुसार नैतिकता की व्याख्या प्रकृतिवाद एवं भौतिकवाद के द्वारा संभव नहीं है क्योंकि आदर्शवाद को भ्रमात्मक मानते हैं। नैतिकता की यथार्थ व्याख्या प्रत्यय-वाद के द्वारा ही संभव है। "एक नैतिक आदर्श बुद्धि के अतिरिक्त अन्य कहीं नहीं हो सकता; एक निरपेक्ष नैतिक आदर्श की सत्ता केवल ऐसी बुद्धि में संभव है जिससे संपूर्ण वास्तविकता का उद्‌गम होता है। इस विश्वास को नैतिकता की उपमान्यता कहा जा सकता है।"[१६] रेशडेल ने नैतिक अनुभूति की स्वतंत्रता एवं निरपेक्षता के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व का अनुमान प्रस्तुत किया है।

गांधी जी नीति के प्रवक्ता थे। नैतिकता उनका जीवन था। उनके अनुसार व्यक्ति नैतिक नियमों का पालन अपनी अन्तरात्मा की पुकार या ईश्वरीय आवाज के कारण करता है। इसी अन्तरात्मा की पुकार पर प्रयुक्त तर्क नैतिक तर्क कहा जाता है।[१७] गांधी ईश्वर को निरपेक्ष नैतिकता का आधार मानते हैं। काण्ट का निरपेक्ष आदेश कर्त्तव्य भावना का आदेश है, ईश्वर का नहीं। इन्होंने ईश्वर को साधन तथा नैतिकता को साध्य मान लिया है। अतः काण्ट द्वारा प्रतिपादित यह तर्क ईश्वर को गौण स्थान प्रदान करता है। किन्तु गांधी के चिन्तन में नैतिक नियम और ईश्वर का ऐक्य हो जाता है। गांधी के शब्दों में "हमें नैतिकता का पालन करना चाहिए क्योंकि यही सत्य है, यही सबके हित में है तथा यही अन्त-रात्मा की आवाज है।" निरपेक्ष नैतिकता में गांधी परमार्थ[१८] और निष्कर्मता[१९] दोनों को देखते हैं ? यह हमारे अन्तर्गत स्थित ईश्वरीय नियम है। यह सर्वोच्च नियम है।[२०] नैतिक नियम अपरिवर्तन शील है।[२१]

गांधी की सबसे बड़ी देन है कि उन्होंने नीति और धर्म को एक दूसरे का पूरक माना है। उनके अनुसार "बौद्धिक और वैज्ञानिक दृष्टियों से विचार करने पर धर्म और नैतिकता आपस में संबद्ध हैं तथा उन्हें संबद्ध रहना चाहिए।"[२२] धर्म में नैतिक नियमों का पालन स्वार्थवश नहीं अपितु कर्तव्य समझ कर निष्काम भाव से किया जाता है।[२३]

गांधी जब ईश्वर को नैतिकता का अंतिम अवलम्बन मानते हैं तो इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं होता कि हम शुभ कर्म व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर की आज्ञा से करते हैं। सत्य की दृष्टि से प्रत्येक मानव का शुभ समान है। प्राणी की दृष्टि से प्रत्येक के मूल्य समान हैं तथा आत्मा की दृष्टि से सभी समान हैं।

गांधी के अनुसार सत्य अंतर्ध्वनि का सूचक है सत्य का पालन अन्तरात्मा के आदेशों का पालन है। काण्ट इसे निरपेक्ष आदेश कहता है। "यह ठीक है कि अन्तरात्मा के आदेशों के पालन से कभी एक व्यक्ति का सत्य दूसरे व्यक्ति के सत्य का विरोधी प्रतीत होता है, किन्तु यथार्थतः वे सभी एक ही ईश्वर रूपी वृक्ष की विभिन्न पत्तियां हैं।"[२४] अतः अपने-अपने सत्य के अनुरूप ईमानदारी पूर्वक कार्य करने में किसी प्रकार की अनुचित बात नहीं है अपितु वह प्रत्येक मानव का कर्त्तव्य है।[२५] सत्य के बिना जीवन में किसी भी नियम का पालन करना

असम्भव है।[२६] नैतिक दृष्टि से सत्य वह है जिसके द्वारा हमारी अन्तरात्मा की पहचान होती है। जिस कार्य से अन्तरात्मा को धक्का लगता है, वह असत्य है। अतः सत्य-असत्य का साक्षी अन्तरात्मा है।[२७]

शब्द प्रमाण— गांधी शंकर की तरह ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए शब्द प्रमाण का अवलम्बन लेते हैं। उनका कथन है, "सभी शास्त्रों का यानी वेद का निचोड़ इतना ही है कि ईश्वर है और वह एक ही है। कुरान और बाइबिल का भी यही निचोड़ है।"[२८]

धार्मिक अनुभूति—धार्मिक व्यक्ति ईश्वर को अनुभव का विषय मानता है, तर्क का नहीं। धार्मिक व्यक्ति को ईश्वर का अनुभव उसी प्रकार होता है जिस प्रकार मानव को सांसारिक वस्तुओं का। ईश्वर अनादि काल से धार्मिक व्यक्तियों के लिए अनुभव का विषय रहा है। अतः उनके लिए तर्क का कोई स्थान नहीं है। रहस्यवादियों को यह अनुभूति तीव्र संवेग के साथ प्राप्त होती है।

धार्मिक मान्यताओं की प्रमाणिकता का ज्ञान हमें धार्मिक सन्तों, योगियों एवं पैगम्बरों से ही प्राप्त होता है। सी० डी० ब्रॉड के अनुसार धार्मिक अनुभूति की व्यापकता से सिद्ध होता है कि इसमें व्यक्ति का वास्तविकता से ऐसा यथार्थ सम्बन्ध स्थापित होता है, जो अन्य साधनों से नहीं हो सकता।

धार्मिक अनुभूति के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए प्रो० वाख् ने कहा है कि धार्मिक अनुभूति पूर्ण सत्ता का पूर्ण अनुभव है।[२९] डा० राधाकृष्णन् के अनुसार धार्मिक अनुभूति स्वतः सिद्ध एवं स्वयं प्रकाश है। यह अपने अधिकारों का स्वयं स्वामी तथा परिचायक भी है।[३०] इस प्रकार को अनुभूति का वर्णन भक्ति साहित्य एवं धर्म ग्रन्थों में अधिकांशतः मिलता है।

गांधी भी ईश्वर को तर्क का विषय न मानकर अनुभव का विषय मानते हैं। वे शास्त्र वेद, कुरान, बाइबिल आदि को ईश्वर की सत्ता का प्रमाण मानते हैं।[३१] साधु, महात्माओं, पैगम्बरों आदि के अनुभव को भी ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण मानते हैं।[३२, ३३] उनके अनुसार साधु, महात्माओं, पैगम्बरों, ऋषियों आदि ने ईश्वर का स्पष्ट अनुभव किया है अतः उनके वचन असत्य नहीं हो सकते। इसीलिए ईश्वर धार्मिक अनुभूति का विषय है।

सर्वसम्मति अनुभव—कुछ विचारक सर्वसम्मति के आधार पर ईश्वर की सत्ताको सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार के तर्क को प्लेटो और जॉयस ने स्वीकार किया है। गांधी भी इसे प्रमाण मानते हैं। वे कहते हैं कि "ईश्वर की सत्ता में विश्वास लाखों लोगों को है। अधिकांश व्यक्ति इसकी सत्ता में विश्वास करते हैं चूंकि मैं भी उन लोगों में एक हूँ अतः मुझे भी ईश्वर में विश्वास है।"[३४]

ऐतिहासिक अनुभूति—कुछ धर्मशास्त्री ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के ऐतिहासिक तर्क की अनिवार्यता को विशेष महत्व देते हैं। इसके अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि इसके विकास में दैवी प्रयोजन निहित है। इतिहास का विचार ईश्वरवाद की ही देन है। इतिहास के अवलोकन से ईश्वर की सत्ता प्रकट होती है। ऐतिहासिक तथ्यों को देखने से प्रतीत होता है कि संपूर्ण प्राकृतिक व्यवस्था किसी अप्राकृतिक तत्व पर अवलम्बित है।

गांधी जी का भो कथन है कि ईश्वर धारणा अनादि काल से बुद्धिमानों एवं मूर्खों सभी में चली आ रही है। अतएव ईश्वर का अस्तित्व उतना ही निश्चित है जितना सूर्य का।[३५,३६] ऐतिहासिक अनुभूति संपूर्ण मानवीय ज्ञान एवं अनुभव की परिचायक है।

यथार्थतः यह तर्क प्रयोजनमूलक तर्क का ही एक रूप है। इसमें प्रकृति में स्थित प्रयोजन की अपेक्षा ऐसिहासिक अनुभव को विशेष महत्त्व दिया जाता है।

मूल्यात्मक अनुभूति—आधुनिक संदर्भ में यह तर्क ईश्वरवादी मान्यता का एक प्रमुख आधार बन गया है। मानवीय मूल्यों की अनुभूति एवं उनकी वस्तुनिष्ठता में विश्वास से उस तर्क की उत्पत्ति होती है। यह तर्क सत्य, शिव एवं सुन्दर से संबन्धित है। जीवन में हमें इन मूल्यों का अनुभव होता है। ये मूल्य स्वयं में पूर्ण होते हैं इनकी अनुभूति से हमें एक ऐसे परम मूल्य की सत्ता स्वीकार करनी पड़तो है जो स्वयं में पूर्ण सत्य, शिव एवं सुन्दर है। यही परम मूल्य ईश्वरोय रूप में प्रगट होता है। सांसारिक मूल्य इसी परममूल्य पर अवलम्बित है।

गांधी जी के लिए सत्य एवं ईश्वर समरूप हैं। यद्यपि ईश्वरता के अन्य पहलू शिवं एवं सुन्दरं उन्हें आवारभूत लक्षण के रूप में ग्राह्य प्रतीत नहीं होते। किन्तु उनके कथनानुसार शिवत्व एवं सौंदर्य सत्य से उपलक्षित होते हैं।[३७] उनका कथन है, "समस्त सत्य केवल सच्चे विचार ही नहीं, बल्कि सच्ची मुखाकृतियाँ, सच्चे चित्र या गीत भी सुन्दर होते हैं। साधारणतः लोग सत्य में सौन्दर्य नहीं देख पाते।········जब लोग सत्य में सौन्दर्य देखना आरम्भ करेंगे तभी सच्ची कला का उदय होगा।"[३८]

प्रयोगवादी तर्क—यह तर्क ईश्वरीय विश्वास के ऊपर आधारित है। गांधी जी का कथन है कि ईश्वरीय विश्वास मानव की जीवन यात्रा को आसान बना देता है। उन्हीं के शब्दों में, "विनम्र एवं मौन ईश्वर की प्रामाणिकता की स्वीकृति जीवन-यात्रा को आसान बनाती है। यहाँ तक कि पार्थिव नियम की स्वीकृति भी इसके अन्दर जीवन को अपेक्षाकृत आसान बना देती है।"[३९] गांधी का यह तर्क अमेरिकन दार्शनिक विलियम जेम्स से बहुत कुछ समानता रखता है। जेम्स के अनुसार भी ईश्वरीय विश्वास मानव को दुःखों में शांति प्रदान करता है।[४०] हम किसी भी प्राक्कल्पना को अस्वीकृत नहीं कर सकते यदि इससे जीवन के लिए उप-योगी परिणाम निकलते हैं। यदि उनका कोई उपयोग ही नहीं है तो न उनका कोई अर्थ होगा और न ही वे सत् होंगी। लेकिन यदि उनका कोई उपयोग है तो वे उसी हद तक सार्थक भी होंगे।[४१] ईश्वर के चिरस्थायी हाथ हमेशा सहारा देने के लिए तत्पर रहते हैं, चाहे कोई प्रतीतियों के सीमित क्षेत्र में सफल हो या असफल। इसमें कोई संशय नहीं है कि जब मनुष्य अपनी चरम सीमा तक पीड़ित हो जाते हैं तो पूर्णतावाद हो ऐसी योजना है जो उनकी सहायता कर सकता है।[४२] गांधी की धारणा है कि ईश्वरीय विश्वास के अनुरूप आचरण करने से मानवीय हृदय एवं व्यवहार में परिवर्तन हो जाता है।[४३] यदि ईश्वर का अस्तित्व नहीं होता तो ऐसा परिणाम नहीं आता। अतः ईश्वर में विश्वास रखने वाले को अपने को असहाय नहीं समझना चाहिए।[४४] ईश्वर हमारे जोने का आधार है इसोलिए जेम्स ने कहा कि यदि ईश्वर नहीं है तो हमें उसका निर्माण करना होगा। उसके सनातन सशक्त हाथ मानव की रक्षा करते हैं तथा आधार प्रदान करते हैं।

उपमान—इस तर्क के द्वारा गांधी ने यह बतलाने का प्रयास किया है कि ईश्वर का ज्ञान न होने पर भी उसकी सत्ता निर्विवाद है। "उन्होंने एकबार मैसूर राज्य की अशिक्षित एवं निर्धन जनता से उस राज्य के राजा एवं राज्य नियम के संबन्ध में पूछा। परन्तु वहाँ की जनता ने इस संबन्ध में अपनी अज्ञानता प्रगट की। उन्होंने केवल इतना ही कहा कि कोई ईश्वर इस राज्य का शासक है। इस घटना से गांधी जी ने यह निष्कर्ष निकाला कि जब एक छोटेसे राज्यके राजा के सम्बन्ध में उस प्रान्त की जनता अनभिज्ञ है, तो ईश्वर जो सर्वत्र व्याप्त है तथा राजाओं का भी राजा है, उसको तथा उसके द्वारा रचित विधान को हमारे जैसे ससीम व्यक्ति कैसे जान सकते हैं? परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ईश्वर का अस्तित्व ही नहीं है।"[४५] वास्तव में सत्ता और ज्ञान के दो क्षेत्र हैं। संपूर्ण सत्ता के ज्ञान के अभाव में भी उसके अस्तित्व का निषेध नहीं किया जा सकता।

वस्तुतः ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए जितने तर्क प्रस्तुत किए गए हैं उनसे ईश्वर की स्थापना नहीं होती। प्रायः सभी धार्मिक व्यक्ति इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि ईश्वर प्रमाणों का विषय नहीं है बल्कि उसका आधार है। प्रमाण केवल संभावना प्रकट कर सकते हैं, सत्ता स्थापित नहीं कर सकते। गांधी जी ने भी ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये हैं, फिर भी वे इस तथ्य को भली-भाँति जानते थे कि ईश्वर का अस्तित्व तर्क एवं बुद्धि द्वारा प्रमाणित नहीं किया जा सकता। वे काण्ट के इस विचार से पूर्णतया सहमत हैं कि ईश्वर को मानने के लिए बौद्धिक युक्तियों की नहीं अपितु श्रद्धा एवं आस्था की आवश्यकता है। गीता में कृष्ण भी कहते हैं कि वही व्यक्ति ईश्वर का साक्षात्कार कर सकता है जिन्हें आस्था एवं श्रद्धा प्राप्त है। गांधी भी ईश्वर को तर्क एवं बुद्धि से परे मानते हैं। उनका कहना है कि "बुद्धि ईश्वर को जानने में असमर्थ है। वह बुद्धि की पहुँच के बाहर है।.........श्रद्धा उस प्रसङ्ग में आवश्यक है। मेरा तर्क अगणित प्रमेय बना और बिगाड़ सकता है, कोई अनीश्वरवादी मुझे वाद-विवाद में परास्त कर सकता है। किन्तु मेरी श्रद्धा बुद्धि की अपेक्षा तीव्रतर है और इस कारण मैं सबल संसार को ललकार कर कह सकता हूँ कि ईश्वर है, ईश्वर था और ईश्वर सदा रहेगा।"[४६] वास्तव में ईश्वर के प्रति गांधी की यह अटूट श्रद्धा एवं दृढ़तर आस्था ही उनके लिए ईश्वर के अस्तित्व का अकाट्य प्रमाण एवं दृढ़तर आधार है।

ईश्वर सम्बन्धी धार्मिक धारणायें केवल उन्हीं व्यक्तियों के लिए सार्थक है जिन्हें ईश्वर में विश्वास है। आस्था द्वारा ही तथ्यों के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होता है। आस्था द्वारा ही दृश्य में अदृश्य और सीमित में असीम का बोध होता है। संस्कार, पूजा एवं प्रार्थना आदि के माध्यम से इसे जीवित एवं जागृत रखने की कोशिश की जाती है। आस्था एवं श्रद्धा ही समस्त प्रमाणों का मूल है।

ईश्वर की सत्ता के विषय में गांधी जी द्वारा व्यक्त विचार एक भक्त के भावपूर्ण उद्गार ही माना जा सकता है। उनकी दृष्टि को दार्शनिक विचार नहीं माना जा सकता। ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए परम्परागत युक्तियाँ देते हैं, उसे मानवीय तर्क बुद्धि से परे केवल आस्था एवं श्रद्धा का विषय भी मानते हैं। दार्शनिक दृष्टि से इन दोनों मान्यताओं में पारस्परिक संगति प्रतीत नहीं होती।

संदर्भ

१. दी सुप्रीम पावर, पृ० २१ २. वही पृ० २० ३. वही पृ० २०
४. गांधी, दी डायरी ऑफ महादेव देसाई, पृ० २१८ ५. यरवदा जेल २२-६-१९३०
६. दी सुप्रीम पावर पृ० ५९ ७. वही
८. यंग इण्डिया २१-१-१९२६, पृ० ३०-३१
९. दत्ता, डी० एम०, दी फिलॉसफी ऑफ महात्मा गांधी, पृ० ४३
१०. प्रिंसपुल्स ऑफ नेचुरल थियोलाजी, लन्दन, १९३४
११. रसेल १२. हिन्दू धर्म १३. हिन्दू धर्म पृ० ४३
१४. जॉन हास्पर्श, एन इन्ट्रोडक्शन टू फिलॉसफिकल थियोलाजी पृ० ४५
१५. स्मार्ट, जे० जे० सी०, दी एग्जीस्टेन्स ऑफ गार्ड इन न्यू एसेज इन फिलासफिकल थियोलाजी, पृ० ४५
१६. हेस्टिंग्स रेशडेल, दी थियरि ऑफ गुड एण्ड एविल, तृतीय पुस्तक, खण्ड २, अध्याय १, भाग ४ आक्सफोर्ड १९०३
१७. दी फिलॉसफी ऑफ महात्मा गांधी, पृ० ४३
१८. नरायन श्रीमन्न, दी सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी, भाग ४, पृ० ९
१९. वही पृ० २२ २०. वही पृ० १९ २१. वही पृ० १७ २२. वही पृ० २१
२३. वही पृ० ८ २४. गांधी, एम० के, हिन्दू धर्म, २४८ २५. वही पृ० २४८
२६. वही पृ०२४३ २७. बिनोबा–चिन्तन, अंक ७ पृ० २२
२८. महात्मा गांधी, प्रार्थना-प्रवचन, भाग १, पृ० २४
२९. जे० वाख्, दी कम्पेरेटिव स्टडी ऑफ रिलीजन्स, कोलोम्बिया, पेपर वैक एडिशन, १९६१, पृ० ३०
३०. राधाकृष्णन् 'ऐन आइडियालिस्ट व्यू ऑफ लाइफ, पृ० ९२
३१. प्रार्थना-प्रवचन भाग १ पृ० २४ ३२. दी फिलॉसफी ऑफ महात्मा गांधी पृ० ४४
३३. यंग इण्डिया ११-१०-१९२८
३४. यंग इण्डिया २१-१-१९२६, पृ० २१
३५. खेर, वी० वी०, इन सर्च ऑफ दी सुप्रीम पृ० २४
३६. तेन्डुलकर, डी० जी०, महात्मा, भाग ३, बाम्बे १९५१, पृ० ३५९
३७. राय, बी० जी०, गांधियन इथिक्स, पृ० ५
३८. यंग इण्डिया १३-११-१९२४
३९. दी सुप्रीम पावर, पृ० ५
४०. जेम्स, विलियम, प्रैगमैटिज्म, पृ० १०६
४१. जेम्स, विलियम, वैरिटिज ऑफ रिलिजियस एक्सपेरियन्स, लेक्चर १८, पृ० ४३५
४२. जेम्स, विलियम, प्रयोजनवाद, अनुवादक रमेशचन्द्र, जयपुर १९६२, पृ० १७१
४३. बोस०, डब्लू० के, सेलेक्शन फ्राम गांधी पृ० ८
४४. महात्मा, भाग ४, पृ० ३८०
४५. दी सुप्रीम पावर पृ० ५
४६. हिन्दू धर्म पृ० ६३

★

जफराबाद (मनहेच) एक पुरातात्त्विक स्थल

डॉ० राजदेव दूबे*

स्थिति—

जफराबाद जौनपुर शहर से लगभग ५ किलोमीटर दूर दक्षिण और पूर्वी कोने पर स्थित है। आधुनिक जफराबाद बाजार जफराबाद रेलवे स्टेशन से लगभग तीन किलोमीटर पूर्व की ओर है। जफराबाद बाजार एवं ग्राम से लगभग २५ फर्लाङ्ग दक्षिण वह टीला है, जो आज से बीसों शताब्दी पूर्व सम्भवतः एक किले के रूप में आबाद रहा होगा। इस टीले के बगल से होती हुई जफराबाद से केराकत जाने वाली एक पक्की सड़क है। इस स्थान पर पहुँचने के लिए जफराबाद स्टेशन अथवा जौनपुर सिटी से रिक्शा, इक्का, टैम्पो, टैक्सी, कार, जीप आदि साधन उपलब्ध हैं।

इस टीले की ऊँचाई लगभग ५९ फीट है। इसका अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि यह प्राचीन काल में सम्भवतः कोई किला रहा होगा। यह टीला लगभग ५ एकड़ भूमि में फैला हुआ है। आजकल इन सभी क्षेत्रों पर कृषि होती है।

मसजिद—वर्तमान समय में जफराबाद बाजार में मुसलमानों की एक मसजिद सुरक्षित है। स्थानीय हिन्दुओं के अनुसार यह पहले जयचन्द्र नामक राजा का बैठका था जहाँ राजा का दरबार लगता था। जबकि आज वह पूर्णरूप से मुसलमानों की मसजिद के रूप में स्थित है और हिन्दू इमारत का कोई भी प्रतीक इसमें अविशिष्ट नहीं है, अतिरिक्त इसके कि उसकी बनावट एक हाल के आकार की है। इसमें अस्सी स्तम्भ हैं। इसकी मुख्य विशेषता यह है कि बीच में एक ऊँचा चबूतरा है। जो हाल के हर स्थान तथा हर कोने से द्रष्टव्य है और यदि इस ऊँचे चबूतरे पर से कोई देखे तो सभी उपस्थित मनुष्य दृष्टिगोचर होते हैं। दूसरे अन्दर की ओर से कुछ मेहराबदार दरवाजों को बन्द कर इसे मसजिद का रूप दिया गया है। वृद्ध लोगों के अनुसार उसमें जो पत्थर लगे हैं, उनमें कहीं-कहीं खुदाई करके डिजाइनें एवं चित्र बनाये गए हैं। किन्तु इस समय इसकी खिड़कियाँ एवं रोशनदान बन्द कर दिये गये हैं, जिससे प्रकाश की कमी के कारण वे सभी अदृश्य हैं। स्थानीय हिन्दुओं के अनुसार संभवतः यहाँ पर कुछ बुद्ध कालीन इमारतें भी हैं। किन्तु इसमें कोई भी ऐसा प्रमाण नहीं मिलता है, जिससे उपर्युक्त मन्तव्य की पुष्टि की जा सके।

जनश्रुतियों के अनुसार जफराबाद का प्राचीन नाम 'मनहेच' था। मुसलमान कालीन ग्रन्थों में इसे कई नामों से अभिहित किया गया गया है—जैसे 'मंज,' 'मवज', 'मिन्ह,' 'मिन्न,' 'मिज' आदि। किले का अवशेष वर्तमान है, हिन्दू परम्परा के अनुसार उसे 'असनी' कहा जाता था। जबकि मुसलिम ग्रन्थों में इसे 'रातगढ़' कहा गया है।

* इतिहास एवं पुरातत्त्व विभाग, काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

मुसलिम इतिहासकार के अनुसार, 'सन् १०१९ ई० में महमूद गजनी ने पंजाब के राजा जयपाल को यमुना के पार हटने के लिए मजबूर करने के बाद कन्नौज तक पीछा किया। इसके परिणामस्वरूप जयपाल ने गंगा नदी पार की और 'मनहेंच' अर्थात् रातगढ़ के किले में शरण ली। इस समय यह किला महाराजा बनारस के अधिकार में था जो कि महाराजा जैपाल के आश्रित सामन्त राजा था। महमूद वहाँ भी आया और रातगढ़ पर अधिकार कर लिया। अन्ततोगत्वा महमूद ने बनारस के तत्कालीन राजा चन्द्रपाल को भी मारकर अपना अधिकार जमा लिया।'[1]

महमूद से सम्बन्ध रखने वाले ग्रन्थों में 'अस्सी' का नाम कई स्थलों पर आया है। श्री त्रिपुरारी भाष्कर का कथन है कि उसने अस्सी के राजा को हराया था। यह 'अस्सी' सभवतः वाराणसी रहीं हो या असनी। इस प्रकार सारा साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। इसी बीच गंगा घाटी के छोटे-छोटे राजाओं में अपनी-अपनी सत्ता स्थापित करने के उद्देश्य से आपस में युद्ध होते रहे, और 'मनहेच' का शासन कई राजवंशों के अधिकार में हो गया। अन्ततोगत्वा इसका शासन गहड़वाल राजा चन्द्रदेव के हाथ में आया। इसी वंश के चतुर्थ पीढ़ी के राजा जयचन्द्र के हाथों में इसका शासन था।

इसी तरह का उल्लेख अलतेकर ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑव वाराणसी' में किया है। अलतेकर के अनुसार गाहड़वाल वंश के राजा चन्द्रदेव ने चेदिवंश का अन्त कर गंगाघाटी के मैदान में अपनी शक्ति स्थापित की। प्रारम्भ में बनारस ही उसके साम्राज्य की राजधानी थी, किन्तु कन्नौज विजय के उपरान्त उसने कन्नौज को अपनी राजधानी बनाया। परन्तु बनारस गाहड़वाल राजाओं की द्वितीय राजधानी के रूप में चलता रहा, किन्तु जयचन्द्र के कन्नौज का राजा होने पर बनारस की समृद्धि एवं सम्पन्नता का अन्त हो गया। इसके समय में सन् ११९३ ई० में गोर देश के राजा मोहम्मद गोरी का आक्रमण हुआ उसके सेनानायक कुतुबुद्दीन ऐबक ने ११८४ ई० में बनारस पर अधिकार कर लिया। उसने बनारस के मन्दिरों को विनष्ट कर डाला और उनके स्थान पर मसजिदें बनवाईं। सम्भवतः इन्हीं मन्दिरों में से विश्वनाथ का प्रसिद्ध मन्दिर था, जिसके लूट के समान ले जाने में १४०० ऊँटों को आवश्यकता पड़ी थी।[2]

अलतेकर के अनुसार १२वीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में इस क्षेत्र में गाहड़वालों का राज्य था, और इस शताब्दी के अन्त में मुसलमानों ने इन स्थानों पर आक्रमण कर राजनीतिक कार्यों में बाधा डाली होगी।

जौनपुर जिले में स्थित मछलीशहर तहसील से हरिश्चन्द्र का ११९८ ई० का एक अभिलेख प्राप्त हुआ है जिस पर उपाधियाँ अंकित हैं। ये उपाधियाँ उसकी स्वतन्त्र सत्ता की परिचायक हैं। इसका समर्थन ११९७ ई० के राणक श्री विजय कर्णक मिर्जापुर जिले के बेलखरा स्तम्भ से भी होता है। इससे ज्ञात होता है कि मिर्जापुर, वाराणसी तथा जौनपुर जफराबाद आदि क्षेत्रों पर सम्भवतः ११९७-९८ ई० में हरिश्चन्द्र का अधिकार रहा होगा। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जौनपुर पर गाहड़वालों का अधिकार था।[3]

श्री ए० सी० वाकर का मत है कि शहावुद्दीन गोरी ने जफरावाद पर अधिकार के पश्चात् जौनपुर में मन्दिरों को नष्ट-भ्रष्ट किया। इसकी सत्यता स्वीकार की जा सकती है, यदि किसी ग्रन्थ में जफराबाद के पश्चात् उसके जौनपुर में आगमन का उल्लेख मिले। किन्तु विशेष छान-बीन के बाद भी यह ज्ञात नहीं होता कि यहाँ पर मन्दिर, थे या नहीं। संभव है जफ़राबाद में जयचन्द्र आदि राजाओं के मन्दिर, भवन और कोटें थीं, जिनके तोड़-फोड़ के सम्बन्ध में गोरी के प्रति आरोप लगाया जाता है।

उपर्युक्त विवरण से यह ज्ञात होता है कि जफराबाद में वर्तमान मसजिद सम्भवतः जयचन्द्र का बैठका या सभा भवन या मन्दिर रहा हो, जिसे गोरी ने अपने आक्रमण के बाद मसजिद के रूप में परिवर्तित करा दिया। इतिहासकार सैय्यद इकबाल अहमद का कथन है कि 'मनहेच' का संस्थापक कन्नौज का राजा विजयचन्द्र राठौर था। उसने अपने पुत्र जयचन्द्र को 'मनहेच' जागीर के रूप में दिया था। उस समय इसकी गणना एक छावनी के समान थी संभव है कि उपर्युक्त वर्णित मसजिद जयचन्द्र का बैठका या सभा भवन आदि रहा होगा।

इन साक्ष्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि राजा चन्द्र जो लोगों के अनुसार 'मनहेच के किले का निर्माता रहा, सम्भवतः राजा चन्द्रपाल रहा होगा। क्योंकि मुसलमानों के आक्रमण के समय बनारस क्षेत्र का वही राजा अनेक स्थलों पर वर्णित है। किन्तु जब तक अन्तरंग एवं बहिरंग साक्ष्यों से इस कथन की पुष्टि नहीं हो जाती तब तक निश्चित रूप से कुछ कहना सम्भव नहीं।

प्राप्त-सामग्रियां

चहारदीवारी :

नष्टप्राय अवशेषों को देखने से यह ज्ञात होता है कि अपने पूर्व रूप में सम्भवतः यह एक किला था। जो चहारदीवारी से घिरा हुआ था। प्राचीन काल में किले प्रायः चहारदिवारियों से घिरे रहते थे। यह परम्परा सिन्धु संस्कृति के काल से देखने को मिलती है। इसकी लम्बाई एवं चौड़ाई क्रमशः ५०० और २०० फीट के लगभग है। किन्तु ऊँचाई लगभग ५९ फीट है। उसमें प्रयुक्त ईंटें दो नाप की मिलती हैं, बड़ी और छोटी। बड़ी आकार की ईंटों को नाप १४-७" ८-७५" तथा मोटाई २-५" है। इस प्रकार ईंटे 'मौर्य और शुंग-कालीन मानी जाती हैं। दूसरी प्रकार की ईंटें आकार में छोटी हैं। इनकी माप ८ इंच ४-५ इंच तथा मोटाई दो या १॥ इंच है। इसको तिथि अपेक्षाकृत बाद की है। इसका उद्भव मुसलमान काल से माना जाता है। इन दोनों मापों की ईंटों के बीच में मिट्टी की एक मोटी तह है। इससे यह ज्ञात होता है कि मुसलमानों के आक्रमण के कारण इस चहारदीवारी का अधिकांश भाग विनष्ट हो गया था। परन्तु मुसलमानों का अधिकार हो जाने पर उन लोगों ने सम्भवतः उसका जीर्णोद्धार कराया। इसमें यत्र-तत्र लखौरी ईंटों का प्रयोग मिलता है। इस रक्षा भित्ति से तीन काल की सूचना मिलती है। प्राचीनतम काल की सूचना मौर्य एवं शुंग-काल की ईंटें करती हैं। इसके नष्ट प्राय हो जाने के पश्चात् किले का पुनर्निर्माण केवल मिट्टी से किया गया जो सम्भवतः गुप्त एवं राजपूत-काल का प्रतिनिधित्व करती है।

मुसलमानों के आक्रमण से विनष्ट हो जाने के पश्चात् इसका जीर्णोद्धार लखौरी ईंटों से किया गया।

मिट्टी के पात्र :

टीले के ऊपरी भाग से प्राप्त सामग्रियों में मिट्टी के कुछ ठीकरें उल्लेखनीय है। वर्तमान समय में सम्पूर्ण टीला कृषि कार्य के अन्तर्गत आ गया है। अतः अन्य सामग्रियाँ नहीं प्राप्त होतीं। जफराबाद से श्री रामनारायण बैंकर ने चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के छत्र प्रकार एवं सिंह निहन्ता प्रकार के सिक्कों को प्राप्त किया था। समुद्रगुप्त के ध्वजधारी प्रकार के सिक्के भी मिले हैं। इसके अतिरिक्त जौनपुर से समुद्रगुप्त एवं कांच के भी सिक्के मिले हैं।[४] यहाँ से प्राप्त मिट्टी के पात्रों को दो भागों में बाँटा जा सकता है। प्रथम श्रेणी में वे पात्र आते हैं जिनके आधार पर तिथि-क्रम निश्चित किया जा सकता है। दूसरे प्रकार में वे आते हैं जो तिथिक्रम निर्धारण में सहायक नहीं होते।

उत्तरी काली चमक वाले मृद्भाण्ड :

(N. B. P. Ware) काली मिट्टी के मृद्भाण्ड यहाँ के प्राचीनतम पात्र हैं। इस प्रकार के पात्र गङ्गा घाटी के प्राचीन स्थल कौशाम्बी, राजघाट, हस्तिनापुर आदि से मिले हैं। चूंकि प्रस्तुत स्थान राजघाट और कौशाम्बी के बीच में स्थित हैं। अतः सम्भव है कि इन्हीं स्थलों से ये मृद्भाण्ड ले जाये गये हों। इनको दो भागों में बाँटा जा सकता है। प्रथम श्रेणी में वे मृद्भाण्ड आते हैं जिन पर काली पालिस का अभाव है। इन बर्तनों का रंग भूरा होता है। इस विषय में दो मत प्रतिपादित किये जाते हैं। प्रथम तो यह कहा जाता है कि ये मृद्भाण्ड ग्रेवेयर की परम्परा में बनाये गये हैं। अन्तर, मात्र इतना है कि इन पर किसी प्रकार का लेप नहीं है। दूसरी ओर यह कहा जाता है कि ये वास्तव में उत्तरी काली चमक वाले पात्र ही हैं, केवल उन पात्रों के समान इन मृद्भाण्डों में काला पालिस नहीं किया गया है।

दूसरे प्रकार के वे बर्तन हैं जिन पर काली पालिस अच्छी तरह से की गई है। आकार-प्रकार में दोनों प्रकार के मृद्भाण्ड समान हैं। इस प्रकार के पात्रों में कटोरा एवं थाली प्रमुख हैं।

मिट्टी के लाल बर्तन—काली मिट्टी के मृद्भाण्डों के साथ-साथ लाल रंग के मृद्भाण्डों को प्राप्ति होती है। इनको तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। प्रथम श्रेणी में वे बर्तन आते हैं जो हस्तिनापुर तथा राजघाट की खुदाई के अनुसार उत्तरी काली चमक वाले पात्रों के साथ प्राप्त होते हैं। इनका आकार-प्रकार एवं बनावट सभी उत्तरी काली चमक वाले बर्तनों के समान ही है।

द्वितीय श्रेणी—इसका मुख्य प्रकार कटोरा है। इस श्रेणी में बड़े-बड़े घड़े एवं हाड़ी आते हैं। इस तरह के मृद्भाण्ड काली चमक वाले पात्रों के ऊपरी सतह से प्राप्त होते हैं। इन पात्रों पर प्रायः लाल रंग का प्रयोग किया गया है। लेप किया गया एक भी पात्र नहीं मिला है।

मुस्लिम कालीन चमकीले मृद्भाण्ड :

इस काल में ऐसे मृद्भाण्ड बनते थे, जो विभिन्न प्रकार के फूल-पत्तियों एवं ज्यामितीय डिजाइनों से चित्रित रहते थे। इनको अत्यधिक चमकीला बनाने के उद्देश्य से मिट्टी में शीशा अथवा अभ्रक आदि मिलाकर इन्हें निर्मित किया जाता था। इस तरह की चमक मुस्लिम काल की ईटों अथवा दीवालों में भी देखने को मिलती हैं। इस प्रकार के मृद्भाण्डों में मुख्य रूप से कटोरे एवं प्याले आते हैं। इस काल में धातु के पात्र भी बनने लगे थे। इसलिए सम्भवतः इनका प्रयोग घर आदि की सजावट के लिए होता रहा होगा। विलासी किस्म के मुसलमान शासकों ने इनका उपयोग शराब पीने के लिए किया होगा। इस स्थान से पात्रों के कुछ अवशेष मिलते हैं। जो रेखाओं से चित्रित एवं चाँदी जैसे चमकदार हैं।

काल-निर्धारण—प्रस्तुत स्थान से प्राप्त सभी सामग्री समान स्तर से मिली है, किन्तु इनके आकार-प्रकार एवं स्वभाव तथा अन्य पुरातात्त्विक स्थलों के वैज्ञानिक उत्खनन द्वारा निर्धारित-क्रम के आधार पर इस स्थान का काल-क्रम तीन भागों में बाँटा जा सकता है।

प्रथम-काल—इस काल का प्रतिनिधित्व उत्तरी काली चमक वाले मृद्भाण्ड तथा शुंगकालीन ईंटें करती हैं। यह काल इसका प्राचीनतम काल रहा होगा। इसमें उत्तरी काली चमक वाले पात्रों की तिथि साधारणतया ६०० ई० पू० से २०० ई० पू० तक मानी जाती है। उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर प्रस्तुत स्थान की प्राचीनता ६०० ई० पूर्व माना जा सकती है।

द्वितीय-काल—इस काल में लाल रंग के मृद्भाण्ड आते हैं, जिनके साथ काली चमक वाले पात्र नहीं प्राप्त होते हैं। प्रायः जिन पुरातात्त्विक स्थलों का वैज्ञानिक उत्खनन हुआ है वहाँ पर लाल रंग के मिट्टी के मृद्भाण्ड काली चमक वाले पात्रों के बाद के तथा मुस्लिम चमकदार पात्रों के काल का प्रतिनिधित्व करते हैं। अस्तु इनका काल पहली शताब्दी ई० से १२वीं, १३वीं शताब्दी ई० तक कुछ भी हो सकता है।

तृतीय-काल—इस काल का निर्धारण मुस्लिम काल के चमकदार मृद्भाण्ड करते हैं। इस प्रकार के मृद्भाण्ड हस्तिनापुर के उत्खनन में पाँचवें काल के ऊपरी स्तर से प्राप्त हुए हैं। जिनका काल बी० बी० लाल के अनुसार चौदहवीं शताब्दी का प्रथम चतुर्थांश है। अस्तु इस स्थान से प्राप्त इस प्रकार के मृद्भाण्डों का काल भी चौदहवीं शताब्दी का प्रारम्भिक काल हुआ। यह काल मुस्लिम काल था।

उपर्युक्त तथ्यों से ज्ञात होता है कि बस्ती निश्चय ही ६०० ई० पू० की रही होगी। ठोस प्रमाण के अभाव में इसके विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है।

जिस तरह हमारा प्राचीन साहित्य हमारी प्राचीन संस्कृति का द्योतक है, उसी प्रकार प्राचीन कालीन मनहेच का ध्वंसावशेष हमारी प्राचीन संस्कृति-कला एवं विज्ञान की समृद्धता का परिचायक है। उस स्थान के कण-कण में इतिहास की विभूति संन्निहित है। वहाँ के प्राचीन अवशेष मूक वाणी में अपनी अतीत की कहानी कहने के लिए पुरातत्त्व वेत्ताओं की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

मुसलमानों के पूर्व जौनपुर के इतिहास के विषय में कोई जानकारी नहीं प्राप्त होती। सम्भव है कि जफराबाद (मनहेच) पुरातात्त्विक स्थल का उत्खनन किया जाय तो, यहाँ से प्राप्त पुरातात्त्विक सामग्री जौनपुर ही नहीं वरन् प्राचीन भारत के इतिहास के निर्धारण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायेगी। यहाँ के अधिकांश भाग पर कृषि होती है। अतः ऐतिहासिक सामग्रियां विनष्ट होती चली जा रही हैं। इन्हें विनष्ट होने से बचाने के लिए इस स्थल की खुदाई अवश्य होनी चाहिये। इससे जौनपुर का अन्धकाराछन्न इतिहास प्रकाशित हो जायेगा।

अतः पुरातात्त्विक वेत्ताओं से हमारा अनुरोध है कि प्रस्तुत स्थान का सर्वेक्षण कर इस स्थान का व्यापक उत्खनन करें।

सन्दर्भ

१. जौनपुर का इतिहास (जौनपुर सन् १९५५ ई०), पृ० ११।
२. अनन्त सदाशिव अलतेकर, हिस्ट्री ऑव बनारस, पृ० २२-२४।
३. ऐन्शियन्ट इण्डिया, सं १०, पृ० ९५
४. अलतेकर, गुप्तकालीन मुद्राएँ, अध्याय ३ और ४ द्रष्टव्य।

दान-प्रथा

देवी प्रसाद दूबे*

दान-प्रथा अति प्राचीन है। समाज में एक स्पष्ट कार्य के रूप में 'दान' के सबसे पहले उल्लेख ऋग्वेद की दान-स्तुतियों में मिलते हैं। 'दान' शब्द की व्युत्पत्ति 'दा' धातु से हुई है, जिसका अर्थ देना होता है। अतः 'दान' का सम्बन्ध देने, प्रदान अथवा अर्पित करने, एवं समर्पण के कृत्य से है। स्मृतिकार देवल ने 'दान' की परिभाषायें की है—"शास्त्र द्वारा उचित ठहराये गये व्यक्ति को शास्त्रानुमोदित विधि से प्रदत्त धन को दान कहा जाता है।" भिक्षा शास्त्र विहित 'दान' नहीं है और न स्नेह से मित्र या नौकर को दिया गया पदार्थ ही।

'दान' शब्द 'दक्षिणा' से भिन्न है। ये दोनों शब्द किसी भी प्रकार से पर्यायवाची नहीं है। 'दक्षिणा' का अर्थ दक्षिण पक्ष, पवित्र एवं सम्मान का पक्ष होता है। सामान्यतः इसका अर्थ है—धार्मिक कृत्यों जैसे यज्ञादि के अन्त में उनके सम्पादन कराने वाले पुरोहितों को निवेदित की गई भेंट। वस्तुतः "दक्षिणा" विशेष कर्मकाण्ड अथवा संस्कार से जुड़ी हुई है।

ऐसी मान्यता है कि 'दान-प्रथा' की उत्पत्ति, ब्राह्मणों की जीविका के साधन के रूप में हुई। पर मूलतः यह एक सामाजिक-आर्थिक आवश्यकता की उपज है। यह बात 'दान' देने का उद्देश्य एवं उसकी अवधारणा से स्पष्ट हो जाती है। आरम्भिक समाजों में 'दान' देने का उद्देश्य तीन प्रकार का है। बाह्य रूप से यह जादू-टोने का कार्य करता है, जहाँ 'दान' मानवोपरि शक्ति से समागम का प्रतीक है। वास्तव में इसके दो अन्य उद्देश्य हैं, जो किंचित अस्पष्ट हैं—एक तो यह है कि दाता एवं प्रतिग्रहीता एक दूसरे को स्तर प्रदान करते हैं। दूसरा यह कि दान देना आर्थिक सम्पत्ति के पुनर्वितरण एवं विनिमय के माध्यम के रूप में कार्य करता है। इस प्रकार यह अवधारणा कि "दान-प्रथा की उत्पत्ति ब्राह्मणों की जीविका के साधन के रूप में हुई, तर्क संगत नहीं प्रतीत होती। किन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि उनकी जीविका का प्रमुख श्रोत अवश्य रही।

पूर्व वैदिक युग में 'दान' सफलता के प्रतीक के रूप में तथा भावी अवसरों और अधिक सफलता के लिए पूंजी-निवेश के रूप में प्रायः दिया जाता था। उत्तर वैदिक काल में धीरे-धीरे 'दान' की अवधारणा में परिवर्तन आ गया। अब वह उदार संरक्षक द्वारा अपनी सफलता के समारोह पर होने वाली मनमानी उदारता न रह गयी थी। अब वह सम्पत्ति के पुनर्वितरण का माध्यम कम और निश्चित रूप से आयोजित विनिमय का माध्यम अधिक थी। यह बदलता हुआ स्वरूप 'दक्षिणा' शब्द के अधिक सक्रिय प्रयोग की अभिव्यक्ति में मिलता

* प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

हैं। सम्भवतः विनियम के विचार का दृढ़ीकरण इस वक्तव्य में सर्वोत्तम रूप में समाहित है: "देहि मे ददामि ते नि मे देहि नि ते दधे।" 'दक्षिणा' के माध्यम से 'दान' देने को यज्ञीय कर्मकाण्ड से घनिष्ठ रूप से जोड़ दिया गया। सूत्र-स्मृति-महाकाव्य एवं पुराणों के समय में 'दान' के आशय की भावना में अनेक परिवर्तन हुए। अब यह केवल किसी घटना की खुशी अथवा वीरतापूर्ण व्यक्तित्व अथवा किसी समारोह के सम्बन्ध में ही नहीं दिया जाता था। अब यह एक ऐसे नवीन विचार से सम्बंधित था, जो कुछ अंश तक 'दक्षिणा' से लिया गया था, यथा भेंट देने जैसे कृत्य के समापन का नैतिक पक्ष। विनिमय आशय अब भी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रहा, किन्तु मूर्त धन के बदले में दाता को पुण्य प्राप्त होता था। यह अवधारणा सम्भवतः बदलते हुए सामाजिक स्वरूप के फलस्वरूप स्वतन्त्र रूप से विकसित हुई। पुण्य के बदले 'दान' की अवधारणा केवल ब्राह्मणीय मतों तक सीमित न थी, अपितु अन्य विधर्मी मत भी इसमें सम्मिलित थे। सभी धार्मिक संगठन सामान्य अनुयायियों द्वारा दी गयी भिक्षा एवं दान पर ही अवलम्बित थे। इस दान के बदले में वे दाता को 'पुण्य' ही दे सकते थे क्योंकि यह विनिमय आर्थिक दृष्टि से समाज के दो असमान वर्गों के बीच था। अतः दान देने के लिए अनेकानेक प्रलोभन दिये गये। प्रलोभन देने में पौराणिक ग्रन्थ बिल्कुल स्पष्ट हैं, उदाहरणार्थ, हम देखते हैं कि 'दान' द्वारा प्राप्त 'पुण्य' व्यक्ति को पुनर्जन्म के बन्धनों से मुक्त कर देता है। अब 'दान' देने का उद्देश्य पुत्र, पौत्र, गृहैश्वर्य, पत्नी, धर्मार्थ, कीर्ति, विद्या, सौभाग्य, आरोग्य, सर्वापापोपशान्ति, स्वर्गार्थ, भुक्ति-मुक्ति प्राप्ति हो गया। अन्ततः 'दान' देने की प्रथा पंक्तिबद्ध हो चली। दान की अवधारणा में निहित तत्वों एवं पक्षों से सम्बन्धित कतिपय स्मृति ग्रन्थों में की गयी विवेचना से यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है। इनमें निश्चित रूप से ६ तत्वों का उल्लेख है—दाता, प्रतिग्रहीता, श्रद्धा, देय का औचित्य, तथा दान का स्थान एवं समय।

दान धर्म की बड़ी महिमा गायी गयी है। कलियुग में दान देना धार्मिक जीवन का प्रमुख अंग माना गया है। दान देना गृहस्थ का अनिवार्य कर्तव्य कहा गया है। अपरार्क ने एक पद्य उद्धृत किया है जिसका अर्थ है—"दो प्रकार के व्यक्तियों के गले में शिला बाँधकर डूबो देना चाहिए, अदानी धनवान् एवं अतपस्वी दरिद्र।" सभी लोग यहाँ तक कि स्त्रियाँ एवं शूद्र भी दान दे सकते हैं। राजा द्वारा दान देना बहुत प्राचीन परम्परा रही है। नहपान के दामाद उषवदात के प्रथम शताब्दी के शिलालेख से पता चलता है कि वह प्रतिवर्ष तीन लाख गायें एवं १६ ग्राम ब्राह्मणों को दान देता था। महाराज हर्षवर्द्धन द्वारा प्रति पाँचवें वर्ष बाद प्रयाग में सर्वस्व दान कर देने का विवरण चीनी यात्री युवान च्यांग के यात्रा-वृत्तान्त में मिलता है। दानवीर कर्ण द्वारा छद्मवेशधारी इन्द्र को कवच-कुण्डल तथा सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र द्वारा स्वप्न में विश्वामित्र को राज्य दान कर देने की कथा सर्वविदित है।

श्रीमद्भगवद्गीता में 'दान' को सात्त्विक, राजस एवं तामस नामक श्रेणियों में बाँधा गया है, और कहा गया है कि जब देश, काल एवं पात्र के अनुसार अपना कर्तव्य समझ कर दान दिया जाता है और लेने वाला इन्कार नहीं करता तो ऐसे दान को सात्त्विक दान कहा जाता है, जो किसी इच्छा की पूर्ति के लिए या अनुत्साह से दिया जाय, उसे राजस दान, तथा जो अनुचित काल, स्थान एवं पात्र को बिना श्रद्धा तथा घृणा के साथ दिया जाय उसे तामस दान कहते हैं। पुराणों ने 'दान' को चतुर्विध बताया है। उनके अनुसार जो प्रतिदिन दिया

जाय उसे नित्य, जो विशिष्ट अवसर पर दिया जाय उसे नैमित्तिक, तथा जो सन्तानोत्पत्ति, विजय, स्वर्ग-प्राप्ति, पत्नी के लिए दिया जाय उसे काम्य कहते हैं। जो दान ब्रह्मज्ञानी को श्रद्धासहित भगवत्प्राप्ति के लिए दिया जाता है, वह विमल कहा जाता है।

दान में दी जानेवाली वस्तुएँ धन का प्रतीक ही नहीं, अपितु वास्तव में उपयोगी वस्तुएँ होनी चाहिए। दान में दी जाने वाली वस्तुओं में गाय, घोड़े, रथ, अन्न, स्वर्ण, भूमि आदि प्रमुख हैं। अन्न-दान की प्रशस्ति उत्तरकालीन पुराण साहित्य में विशेष रूप से मिलती है, जहाँ अन्नदान को कभी-कभी 'दान' का सर्वोच्च रूप माना गया है। स्वर्ण पर आधारित कुछ पदार्थों के दान को महादान कहा गया है। पुराणों में सामान्यत. महादानों की संख्या १६ बताई गयी है, जो इस प्रकार है—तुला पुरुष, हिरण्यगर्भ, ब्रह्माण्ड, कल्पवृक्ष, गोसहस्त्र, कामधेनु, हिरण्याश्व, हिरण्याश्वरथ, हेमहस्तिरथ, पंचलांगल, धरादान, विश्वचक्र, कल्पलता, सप्तसागर, रत्नधेनु और महाभूतघट। दान में दी जाने वाली वस्तुओं में भूमि की अनुपस्थिति ऋग्वेद में विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती है। इस सन्दर्भ में राजा विश्वकर्मन् यौवन की कथा बड़ी दिलचस्प है। इस कथा में उसे इस बात के लिए पृथ्वी द्वारा प्रताड़ित किया जाता है कि उसने अपने अश्वमेध द्वारा विजित भूमि को कश्यप को दान देने की चेष्टा की थी किन्तु परवर्ती काल में भूमि-दान की प्रथा के आरम्भ होने से स्वर्ण को छोड़कर अन्य वस्तुओं के दान का महत्त्व कम हो गया। विस्तृत पैमाने पर दिये जाने वाले भूमिदान ने दान के स्वरूप को ही परिवर्तित कर दिया। भूमिदानों में वे बीजनिहित थे जिन्होंने परवर्ती काल में एक नवीन सामाजिक-आर्थिक प्रणाली का विकास किया, जिसकी परिणति पूर्व मध्य काल में सामन्तवाद के रूप में हुई। गोदान धीरे-धीरे दान देने की प्रक्रिया का प्रतीक मात्र बन गया। अन्य दानों में विद्यादान, वीर्यदान, ध्रुवदान और कन्यादान की चर्चा कर सकते हैं। विष्णुधर्म सूत्र में अभयदान को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। कुछ पदार्थों को दान रूप में स्वीकार करना वर्जित भी है। यथा श्रुति वे दो दन्तपंक्तियों वाले पशुओं को दान रूप में ग्रहण करना वर्जित माना है। हेमाद्रि ने लिखा है कि जो मरे हुए की शय्या, आभूषण एवं परिधान ग्रहण करता है वह नरक में जाता है।

अपने प्रयत्न से अर्जित धन का ही दान करना चाहिए। देवल के मत से वह वस्तु देय है जिसे दाता ने बिना किसी को सताये, चिन्ता एवं दुःख दिये स्वयं प्राप्त किया हो, चाहे वह सस्ती हो या मूल्यवान्। देय की न्यूनता या अधिकता पर पुण्य नहीं निर्भर रहता, वह तो मनोभाव, दाता की समर्थता तथा उसके धनार्जन के ढंग पर निर्भर रहता है। श्रद्धा से जो कुछ दिया जाय वह सफल देय है, किन्तु अश्रद्धा या कुपात्र को दिया गया दान निष्फल होता है। पात्रता की दृष्टि से आचार्य, ब्रह्मचारी, यज्ञ के पुरोहित और श्रोत्रिय के साथ-साथ दीन-हीन ब्राह्मण ही योग्य प्रतिग्रहोताओं के वर्ग में आते हैं। किन्तु दान सम्बन्धी कतिपय संस्कृत निबन्ध ग्रन्थों में कहा गया है कि पिता, गुरु, मित्र, चरित्रवान् व्यक्ति, दीन, असहाय, विशिष्ट गुण वाले व्यक्ति को दान देने से पुण्य प्राप्त होता है, जबकि धूर्तों, बन्दियों, मल्लों, कुवैद्यों, जुआरियों, वंचकों, चोरों, चारणों, एवं चाटों को दिया गया दान निष्फल होता है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में लिखा है कि भोजन एवं वस्त्र के दान में मनुष्य की आवश्यकता देखनी चाहिये, न कि उसकी जाति।

दिया हुआ दान वापस नहीं लेना चाहिये। शास्त्रों में कहा गया है कि जो दान लौटा लेता है वह नरक में वास करता है। किन्तु इसके बावजूद, कुछ राजाओं ने दान में दी गई सम्पत्ति लौटा भी ली है, जैसे इन्द्रराज तृतीय के आठवीं शताब्दी के अभिलेख से पता चलता है कि उसने चार सौ ग्राम दान पत्रों को लौटाया जिन्हें कि उसके पूर्ववर्ती राजाओं ने जब्त कर लिया था। इस सन्दर्भ में परिव्राजक महाराज संक्षोभ के खोह पत्रों में वर्णित एक विचित्र उक्ति का उल्लेख करना दिलचस्प है, जो इस प्रकार है : "जो व्यक्ति मेरे इस दान को तोड़ेगा उसे मैं दूसरे जन्म में रहकर भी भयंकर शामाग्नि में जला दूँगा।" गौतम ने लिखा है कि भावावेश में आकर, भयवश, रूग्णावस्था में, लोभ के कारण, अल्पावस्था के कारण, अत्यधिक बुढ़ापे में, मूर्खतावश, मत्तावस्था में या पागलपन के कारण प्रतिश्रुत किया गया दान नहीं भी दिया जा सकता है।

वस्तुतः धन के संचय को रोकने के लिए हमारे शास्त्रों ने 'दान' की व्यवस्था की है। इससे धन का जरूरत मन्द लोगों में और जन कल्याण के कार्यों में बँटवारा हो जाता है। अतः 'दान' अवश्य देना चाहिये। किन्तु दयालुता अपने घर के विषय में भी होनी चाहिये। मनु ने ऐसे दान की निन्दा की है जो अपने कुटुम्ब के भरण-पोषण की परवाह व करके दान दिया जाता है। 'दान' का महत्त्व आज भी उतना ही है जितना कि प्राचीन काल में था। इस सन्दर्भ में काशी हिन्दूविश्वविद्यालय और अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय का उदाहरण दिया जा सकता जिनकी स्थापना दान में प्राप्त धन के कारण ही सम्भव हो सकी। आचार्य-विनोबा भावे के भूदान-यज्ञ का सामाजिक-आर्थिक दर्शन भी दान पर ही आधारित था। ✻

छायावाद-एक विवाद

श्रीमती विद्यागुप्त*

खड़ी बोली के साहित्याकाश में ब्रजभाषा की मधु-सिंचित मेघावलियों का रसमय स्थान द्विवेदी युग की शुष्क उपदेशात्मक पदावली ने ले लिया था। अब न तो भक्त कवियों की अश्रु-विगलित विनय गद्गद वाणी के मधुर गान थे और न रीतिकालीन नायक नायिकाओं के उन्मुक्त विहार युक्त वन-वीथियों के वर्णन। मार्ग पर बिखरे मणि-मुक्ताओं के चित्रों के आधार पर अभिसारिकाओं के नैश-विचरण की कथा कवियों के मन-मानस में रस तरंगिणी के स्रोत प्रवाहित न कर विरक्ति और कुण्ठा का कारण बन गई थी। नैतिकता ने भावात्मकता का स्थान ग्रहण कर लिया था। ऐसे नीति साहित्य के सजग प्रहरियों के काव्य-पथ का परित्याग कर सहसा ही काव्योपवन में जो नयी काव्य धारा उमड़ी वह अपने अदम्य आवेग से वर्षा कालीन वेगवती नदी के तुल्य कूल के बन्धनों से टकराकर रुकने वाली न थी। उसके अपार प्रवाह में विधि निषेध के सभी बन्धन छिन्न-भिन्न हो गए और सर्वत्र नए स्वर, नये गान काव्योद्यान की शाखा-प्रशाखाओं से गूंजने लगे।

यह नयी काव्य-धारा प्राणों के जिस आवेग से परिपूर्ण थी, उसके स्वर अहंवादी प्राचीन परिपाटी के पुजारी पंडितों को असह्य हुए। परम्परागत किसी भी काव्य धारा से इसका मेल न था; फिर इस प्रबल काव्य-वन्या का मूल कहाँ था ? कहाँ था इसका उद्गम स्थल ? किस धारा के अन्तर्गत इसका नामकरण हो। विस्मय, आक्रोश, उपेक्षा, भर्त्संना के मानसिक असन्तुलन की अवस्था में इसे दिग्गज साहित्यिकों से जिस उपहास, अवमानना का प्रसाद मिला उनमें पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी, पंडित पद्म सिंह शर्मा, लाला भगवानदीन के नाम अग्रगण्य हैं।

द्विवेदी जी ने साहित्य के क्षेत्र में भाषा और भावों के परिष्कार हेतु जो आचार संहिता प्रस्तुत की थीं उस पर उनके प्रशंसक एवं अनुयायी बिना तर्क-वितर्क के पूर्ण अनुगत भाव से अग्रसर थे ऐसे साहित्यिक वातावरण में अज्ञात कुलशील बालक के समान 'छायावाद' सर्वथा अग्राह्य था। आचार्य द्विवेदी ने इसे लक्ष्य कर कहा—

''व्यास कालिदास के होते हुए तथा सूर, तुलसी के अमर काव्यों के रहते हुए भी ये कवि यशो लिप्सु, कवित्वहंता छायावाद के छोकड़े कमल-यमल, अरविन्द-मलिन्द आदि अनोखे अनोखे उपनामों की लाङ्/गूल लगा, कामा-फुलिस्टापों से जर्जरित, प्रश्न-आश्चर्य-चिन्हों के तीरों से मर्माहत कभी गज-गज की लम्बी कभी दो ही दो अंगुल की टेढ़ी-मेढ़ी, ऊँची-नीची यतिहीन, छन्दहीन, शब्द-अर्थ तुक शून्य काली सतरों की चीटियों की टोलियां तथा अस्पृश्य काव्य के गुह्याति गुह्य कच्चें घरोंदे बना ताड़पत्र, भोजपत्र को छोड़ बहुमूल्य कागज पर मनोहर टाइप में अनोखे-अनोखे चित्रों की सजधज तथा उत्सव के साथ छपवाकर जो 'विन्ध्यस्तरेत

* हिन्दी विभाग, महिला महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

सागरम्' की चेष्टा कर रहे हैं, यह सरासर हिमाकत, धृष्टता, अहम्मन्यता तथा हम चुनैदोगरो 'नेस्ती' के सिवा और क्या हो सकता है ? 'घटानां निर्मातुस्त्रिभुवनविधातुश्च कलहः' ।[1]

खड़ी बोली के कर्मठ कवि, काव्य मर्मज्ञ लाला भगवानदीन उपर्युक्त विचारधारा से सहमत थे, छायावाद को कोरी नकल कहते हुए उन्होंने छायावादी कवियों को निरंकुश छोकरे मात्र ठहराया और कहा—

"योरोपियन भाषाओं में बेतुकी कविता होती है तो हिन्दी में भी होनी चाहिए। इस विचार ने अनेक बेतुके कवि हिन्दी में भी पैदा कर दिये। यूरोप में मिस्टीसिज्म है तो हिन्दी में भी 'छायावाद' होना चाहिए। इस विचार ने हमारे युवकों के दिमाग पर ऐसा प्रभाव डाला है कि अब वे 'छायावाद' की सड़क पर बेतहाशा दौड़े जा रहे हैं। रोकने से भी नहीं रुकते, जो रोकता है उसे दस पाँच उल्टी सीधी सुनाने को तैयार हो जाते हैं। अभी थोड़े ही दिन हुए 'कवि किंकरे' जी की बुरी दशा हुई थी।" दीन जी पुनः कहते हैं :

१. हम तो 'छायावाद' वा 'रहस्यवाद' शब्द ही नापसन्द करते हैं। यदि शैली का नामकरण ही करना है तो कोई और शब्द खोजना चाहिए। हम तो 'रावणवाद' तजबीज करेगें।

२. जिस प्रकार को अधिकतर कविताएँ देखी जाती हैं उसके लिहाज से हम उसे 'पाखंडवाद' कहेंगे।

३. जिस प्रकार और जिस योग्यता के लोग ये कविताएँ लिख रहे हैं उस लिहाज से इसका नाम 'उच्छृङ्खलवाद' होना चाहिए।

४. जिस उम्र के लोग इस मार्ग में उछल कूद मचाए हुए हैं उस लिहाज से इसे 'छोकरावाद' कहना चाहिए।

'छायावाद' शब्द ही बतला रहा है कि आप अनुकरण कर रहे हैं।[2]

पंडित पद्म सिंह शर्मा उर्दू काव्य की गति विधि का उल्लेख करते हुए हिन्दी के कवियों से उनकी नीति का अनुसरण करने को कहते हैं—"उर्दू के कवियों ने होली के रंग को अपनाया है पर चमकाने के लिए गाड़ी की गति बदल गई है, रफ्तार में फर्क आ गया है पर धुरा और पहिये बदस्तूर वही हैं।" वे छायावादी कवियों की आलोचना करते हुए कहते हैं—

"हमारे हिन्दी के कवियों की मति गति बिल्कुल निराली है, वह कविता की गाड़ी के धुरे और पहिये भी बदल रहे हैं। अपने अद्भुत छकड़े में पीछे की ओर मरियल टट्टू जोतकर गंतव्य स्थान पर पहुँचना चाहते हैं। प्राचीनों का कृतज्ञ होना तो दूर रहा, उन्हें कोसने में ही अपना गौरव समझा जाता है, प्राचीन शैली का अनुसरण तो एक ओर रहा, जान बूझ कर अनुचित रीति से उसका व्यर्थ विरोध किया जाता है। भाषा, भाव और रीति में एक दम अराजकता की घोषणा की जा रही है।"[3]

डा० हेमचन्द्र जोशी ने प्रो० बदरीनाथ भट्ट के 'उचित वक्ता' शीर्षक निबन्ध की चर्चा करते हुए लिखा है—

"असल बात यह है कि इस धींगा धींगी तथा 'तुम हो कवि कुल चूड़ामणि पर मैं हूँ कवि कुल केसरि कंत' (इसका ठीक अर्थ पाठक समझें क्योंकि मैं आजकल के छाया-काया-माया

तथा किरायावाद के कवियों की प्रणाली पर अच्छी कविता तो करता हूँ, पर स्वयं उसे नहीं समझता)।"

वे कहते हैं—"साहित्य का एकमात्र सिद्धान्त है—'आत्मानं विद्धि, साहित्यं सृज, तत्वमसि', बंगला में रवि बाबू ने अपने आपकी खोज करने की चेष्टा की है किन्तु वह इसमें पूर्णता तक नहीं पहुँच पाये हैं। वह वहाँ तो निस्सन्देह पहुँचे हैं जहाँ 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भूयात्' पर हिन्दी के कवि मेरी क्षुद्र सम्मति में उस रामखुदैया तक पहुँचे हैं, जहाँ न राम हैं और न रहीम। वहाँ भूल-भूलैया है, मृग तृष्णा है और है तामसिक आत्म विभ्रम।"४

छायावाद के विरोधी स्वर मासिक पत्रिकाओं के पृष्ठों पर लेखों से, सभापति पद से दिये गये अभिभाषणों द्वारा बराबर गूंजते रहे। माधुरी के सम्पादकीय—'हिन्दी साहित्य की वर्तमान अवस्था' में आत्मरक्षा के निमित्त छायावादी कवियों द्वारा दिये गये वक्तव्यों पर सम्पादक प्रवर दुलारे लाल भार्गव एवं पंडित रूपनारायण पाण्डेय का कथन है—

"झूठे नाम के भूखे, साहित्य रसानभिज्ञ, साहित्यिक तथ्यापहरण पटु इन स्वयंसिद्ध लेखकों की कृति को यदि हम उन्नति का चिह्न कह सकते हैं, तो अवश्य ही हमारे साहित्य के सुदिन आ गए हैं।"

इसी प्रसंग में आगे संपादक द्वय कहते हैं—"छायावादियों के मारे 'अनन्त' की तो जान ही आफत में फँस गयी है जरा-जरा सी बात के लिए कविगण बिलकुल बेमुरौवती के साथ बेचारे अनन्त को घसीटने लगे हैं। छायावाद की कविताओं में गांभीर्य का लेश भी नहीं पाया जाता—इसमें पाया जाता है केवल वाहियात Sentimentalism (भावुकता) सावन के बुदबुदों की क्षणिक तड़क-भड़क।"५

श्री बदरीनाथ भट्ट ने इन्हें बंगला कवियों से भावापहरण का दोषी ठहराते हुए लिखा—

"कुछ कवियों ने इस बात पर कमर कस ली है कि अपनी कल्पना शक्ति को न चेता कर, एक बंगाली कवि के भावों की छाया चुराकर उसे अपने वितंडावाद की पोषाक पहना दी जाय और हिन्दी पाठकों की आँखों में धूल झोंककर कवि शिरोमणि बन बैठा जाय।.........इस पर तुर्रा यह कि नए छंदों और नए भावों के पक्षपाती पुराने लेखकों को ये इसलिए अपना शत्रु समझ रहे हैं कि वे इनके 'भानमती के कुनबे' जैसी कृतियों की प्रशंसा के पुल नहीं बांधते। निर्लज्जता और धृष्टता के इस छायावादी सम्मिश्रण को देखकर अवश्य ही वंगीय लेखक इन लोगों की प्रशंसा करते होंगे जिनका माल उड़ाकर ये बड़े आदमी बनना चाहते हैं"।६

उत्कट विरोध, उपहास और भावापहरण के दोषों से लांछित किये जाने पर भी छायावाद साहित्य के क्षेत्र में अडिग रहा। उसके समर्थक, प्रशंसक एवं अनुयायी भी बढ़ रहे थे। 'छायावाद' जो साहित्यिक गाली बन रहा था अब विरोधियों को गंभीरता से सोचने के लिए विवश कर रहा था। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सुकवि किंकर' उपनाम से छायावाद शब्द की खोज करते हुए लिखा—

"अंगरेजी में एक शब्द है—(Mystic या Mystical) पंडित मथुरा प्रसाद मिश्र ने अपने त्रैमासिक कोश में उसका अर्थ लिखा है—गूढार्थ गुह्य, गुप्त, गोप्य और रहस्य। रवीन्द्र-

नाथ की यह नए ढंग की कविता इसी मिस्टिक शब्द के अर्थ की द्योतक है। इसे कोई रहस्यमय कहता है कोई गूढ़ार्थ बोधक कहता है और कोई छायावाद की अनुगामिनी कहता है। छायावाद से लोगों का क्या मतलब है समझ में नहीं आता। शायद उनका मतलब हैं कि किसी कविता के भावों की छाया यदि कहीं अन्यत्र जाकर पड़े तो उसे छायावादी कविता कहना चाहिए।"

पुनः 'जो काम रवीन्द्र नाथ ने चालीस पचास वर्ष के सतत अभ्यास और निदिध्यास की कृपा से कर दिखाया है उसे वे स्कूल छोड़ते ही कमर कसकर दिखाने के लिए उतावले हो रहे हैं। कुछ तो स्कूलों और कालेजों में रहते ही छायावादी कवि बनने लग गए हैं।'[७]

कवि सम्राट पंडित अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' जी ने अपने एक अभिभाषण में कहा—"आजकल खड़ी बोली कविता संसार में एक प्रवृत्ति विशेष रूप से जाग्रत हुई है। हमारे युवक मंडल का ध्यान इन दिनों रहस्यवाद अथवा छायावाद की ओर अधिक आकृष्ट हुआ है।........खड़ी बोली के कविता लेखकों पर यह आक्षेप किया जाता है कि उनमें अधिकांश ऐसे हैं कि न तो उनमें प्रतिभा है, न छन्दोज्ञान, न मार्मिकता, न सहृदयता, न सुन्दर शब्द विन्यास की शक्ति और न भाव प्रकाशन की यथोचित क्षमता। न उनकी कविता में सरसता होती है. न मधुरता, न प्रसाद गुण और न वाच्यार्थ की स्पष्टता।.... यह कथन अधिकांश युक्ति संगत न हो, किन्तु सर्वथा निर्मूल भी नहीं है।"[८]

'हरिऔध जी ने अन्यत्र कहा है'—"दिन प्रतिदिन छायावाद का प्रचार बढ़ रहा है—यह देखकर यह स्वीकार करना पड़ता है कि उसमें कोई बात अवश्य ऐसी है जिससे उसकी उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है और अधिक लोगों के हृदय पर इसका अधिकार होता जा रहा है।"

'छायावाद' शब्द पर विचार करते हुए वे कहते हैं—

'छायावाद' कहां से कैसे आया, इस बात की अब तक मीमांसा न हो सकी। छायावाद के नाम से जो कविताएँ होती हैं उनको कोई हृदयवाद कहता है कोई प्रतिबिम्बवाद। अधिकतर लोगों ने छायावाद के स्थान पर रहस्यवाद कहने की सम्मति की है। यह विषय अभी तक विवादास्पद है। सभी कविताएँ रहस्यवादी नहीं और हृदयवाद में अति व्याप्ति का दोष हो जाता है।"[९]

उपर्युक्त विवेचन के साथ ही पंडित जी अत्यन्त उदारतापूर्वक अपना मत देते हैं–"छायावाद नाम ही नूतन प्रणाली की कविता का स्वीकार कर लिया जाय तो अनेक तर्कों का निराकरण हो जाता है। यह नाम बहुत प्रचलित है और व्यापक भी बन गया है"।[१०] साथ ही छायावाद-रहस्यवाद के तर्क-वितर्कों को लक्ष्य कर वे कहते हैं–"छायावाद कहने से आजकल जिस प्रकार की कविता का बोध होता है वह बोध ही छायावाद का अर्थ क्यों न मान लिया जावे? मेरा विचार यह है कि ऐसा मान लेने में कोई आपत्ति नहीं। अनेक रूढ़ि शब्दों की उत्पत्ति इसी प्रकार हुई है।"[११]

हिन्दी साहित्य के इतिहास को श्री शिवसिंह सेंगर के बाद व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करने वाले मिश्रबन्धुओं का नाम हिन्दी प्रेमियों में, साहित्य के इतिहास में अमर हैं। वे 'मिश्र-

बन्धु विनोद' में इस वितंडावाद पर विचार करते हुए छायावाद को अन्योक्ति पद्धति पर रचित काव्य परम्परा के अन्तर्गत मानते हैं—

"छायावाद का कथन पहले अलंकार द्वारा होता था। इसे अन्योक्ति कहते हैं। कवियों ने अन्योक्ति पर कविता की है। व्यंग्य का विषय भी इसी से मिलता है। प्रताप साहि ने व्यंग्यार्थ कौमुदी नामक ग्रन्थ ही बनाया था और बाबा दीनदयाल गिरि ने अन्योक्ति कल्पद्रुम रचा। कबीरदास ने उल्टबाँसी आदि में बहुत कुछ अन्योक्ति गर्भित रचना की। जायसी, कुतबन, शेख आदि अनेकानेक सूफी कवियों ने अपने कथा प्रासंगिक ग्रन्थों का कथा विभाग छायावाद गर्भित रखा। ब्लेक, उमर खैयाम आदि भी ऐसे ही कवि थे। वड्सवर्थ, शैली आदि ने भी कुछ इसी प्रकार के कथन किये। कीट्स ने प्रकृति और सौन्दर्य का अच्छा अवलोकन किया। महाकवि रवीन्द्र भी कुछ ऐसी ही रचना करते हैं। उत्तर नूतन परिपाटी काल में ही वर्तमान छायावाद का प्रचार हिन्दी में हुआ। जयशंकर प्रसाद, मोहन लाल तथा सुमित्रानन्दन पन्त इस काल के मुख्य छायावादी कवि हैं। निराला जी भी ऐसी ही रचना करते हैं।……… रहस्यवादी कवियों में कुछ-कुछ आध्यात्मिकता, साम्प्रदायिकता आदि प्रायः रहती है, यद्यपि अन्योक्ति के लिए किसी विशिष्ट विषय की आवश्यकता नहीं है। सबसे प्राचीन छायावादी साहित्य स्वयं वेद भगवान में है।"[१२]

मिश्र बन्धुओं ने काव्य की इस नई धारा का स्वागत किया और पन्त जी के 'पल्लव' तथा उसके 'प्रवेश' पर अपना मत देते हुए कहा कि पन्त जी के सूर, तुलसी, और कबीर को ही महाकवि मानने का कारण मनोवैज्ञानिक है। वे कहते हैं—

"पंत जी ने जो तीन उपरोक्त महाकवियों को छोड़कर सभी की निन्दा की है इसका कारण परम स्वाभाविक है। वे बाल वय में ही अभी से एक परमोत्कृष्ट कवि समझे जाने योग्य हैं। इसी से उनको स्वभावतः समझ पड़ता होगा कि जो प्राचीन कवि मेरे बराबर भी रचना नहीं कर सकते भला कैसे सुकवि माने जा सकते हैं? उनको समझना चाहिए कि उनमें अलौकिक कवित्व शक्ति है, और उनकी प्रतिभा के सामने मेरे विचार से बहुत से प्राचीन कवि नही ठहरते हैं। मैं तुलसीदास तथा सूरदास के पीछे अब तक केवल १० या १५ कवियों को ही महाकवि मानता आया हूँ, किन्तु अब मुक्त कंठ से कहता हूँ कि पंत जी भी इन्हीं की टक्कर के कवि हैं।"[१३] दिनकर जी 'मिट्टी की ओर' में मिश्र जी का मत देते हैं—

'पल्लव' को मंगला प्रसाद पारितोषिक के उपयुक्त मानते हुए उन्होंने कहा—'मैं हिन्दी में केवल नवरत्नों को ही महाकवि मानता आया हूँ किन्तु पल्लव को पढ़कर मुझे ऐसा लगा कि यह बालक भी महाकवि है"।[१४]

यद्यपि छायावाद की ओर अग्रगण्य आलोचकों एवं साहित्यकों के दृष्टिकोण में परिवर्तन स्पष्ट दृष्टिगोचर था फिर भी व्यंग्य एवं कटूक्तियों की बौछारें गद्य एवं पद्य के माध्यम से तत्कालीन उत्कृष्ट पत्रिकाओं के पन्नों पर प्रकाशित होती ही रहीं। ऐसे कुछ पद्यांश विषय की उत्कृष्टता की स्पष्टता के लिए द्रष्टव्य हैं। श्री पदुमलाल पन्नालाल बख्शी ने जो एक अच्छे साहित्यिक थे' बोरा छन्द लिखा। छन्द का नामकरण ही व्यंग्यात्मक है, आलोचना और भी प्रखर। उदाहरणार्थ इस लम्बी कविता की कुछ पक्तियाँ ही अलम् होगी—

"हृदय की तन्त्रियाँ बजा बजा पाठकों को
अपनी तन्त्री के तार तोड़े डालता है वह।
पैदा कर रहा है साहित्य कुछ जनानियाँ सा,
ओज नहीं, बल नहीं, लुंजमुंज शब्द पुंज।
भाव की दशा न पूछो—अधर में लटकता कभी,
कभी जा लोटता है प्रभु के कमल-पद में
कभी जा उलझता है सुन्दरी की लट में॥"[१५]

छायावाद के उद्भव से साहित्य सागर में जो विषम विक्षोभ प्रकट हुआ उससे प्रतीत होता था कि वह प्रलय का ज्वार है जिसकी लहरें सद्यजात इस साहित्यिक शिशु को अपने में निमग्न कर ही शान्त होगी। किन्तु यह व्यर्थ ही रहा।

एक हास्य प्रिय व्यंग्य रचनाकार ने मायावादी उपनाम से इस साहित्यिक परिस्थिति का परिचय निम्न पंक्तियों में इस प्रकार दिया है—

'छायावाद' चलाया किसने है किसकी यह माया,
हिन्दी भाषा में यह न्यारा शब्द कहाँ से आया'।
कविता जो न समझ में आये? कह कर छायावादी।
बुद्धू मियाँ व्यंग्य करने के हुए हाय अब आदी'।
'मिस्टीसिज्म' का नाश मार कर हो उसके प्रतिपक्षी,
'छायावाद' उसे बतलाते हैं साहित्यिक पक्षी'।
कोई पूछ नहीं रहा है क्या 'छायावाद'
सांख्यिक मायावाद है, या कोरा अपवाद॥
'बाबा किस Patent Mint से हुआ Word यह coin,
इसका पता न चलता है कुछ छाने वेद रसायन।"[१६]

'मायावादी' परिस्थितियों के इस वात्याचक्र से प्रबल परिहास के आवेग में विनोद पूर्वक व्यंग्य के छींटें उड़ाते हैं—

'कौन रसिक वर मजा कर गया चुपके से आकर
हिन्दी वालों को पागल कर छिपा कहाँ वह जाकर।
बड़ा मसखरा निकला यारो। बड़ा शरारत वाला,
हिन्दी भाषा रत्न कोष का गया निकाल दिवाला।"[१७]

"'छायावाद' कहाँ से आया? यह प्रश्न जितना ही उलझन उत्पन्न करने वाला था वैसा ही अद्भुत था निराला जी का स्वच्छन्द छन्द। इसका भी आचार्यों की दृष्टि में कोई मूल्य न था। परिहास में उसे केंचुआ छन्द, रबड़ छन्द आदि कहकर तिरस्कृत किया गया; किन्तु छायावाद में इसका प्रतिष्ठा के साथ अनुकरण भी खूब हुआ।

डा० रामविलास शर्मा छायावाद को; उसके कल्पना-विलास को सामन्तीय देन मानकर उपेक्षा भाव से देखते थे। उनके विचार में छायावादी कविता का कोई मूल्य नहीं। वे कहते हैं—

"आजकल के मासिक पत्रों में नब्बे सैंकड़ा रोनी कविताएं भरी रहती हैं, उनसे सुकवि की समस्या पूर्तियाँ मेरी समझ में लाख दर्जे अच्छी हैं।"[१८]

इस विवाद में प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध अनेक लेखकों ने भाग लिया। नयी काव्य प्रणाली की नवीनतम अप्रस्तुत योजना और लाक्षणिक प्रणाली ने साहित्याचार्यों के मन-मस्तिष्क पर जो विरोध की आँधी उठायी थी उसने साहित्याकाश के स्वच्छ गगन को कटूक्तियों, असहिष्णुता एवं अनुदारता की धूलि से धूमिल कर दिया। यह दशा कुछ ऐसी ही थी जैसी खड़ी बोली के काव्यारम्भ के समय व्रजभाषा काव्य के समर्थकों ने खड़ी बोली में काव्य रचना को अयुक्त, नीरस आदि कहकर उपेक्षा दिखलाई थी और विरोध किया था। द्वितीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति पंडित बालकृष्ण भट्ट ने खड़ी बोली में काव्य रचना पर अपने भाषण में इन शब्दों में विचार प्रकट किये—

"मेरे विचार में खड़ी बोली में एक इस प्रकार का कर्कशपन है कि कविता के काम में ला उसमें सरसता संपादन करना प्रतिभावान के लिए भी कठिन है, तब तुकबन्दी वालों की कौन कहे। मैं खड़ी बोली की कविता का सर्वथा विरोध नहीं करता परन्तु मेरा यह प्रयोजन है कि कविता की भाषा बोलचाल की भाषा से निराली हो सकती है। न मैं शुद्ध व्रजभाषा का ही पक्षपाती हूँ। मुझे तो तुलसी, बिहारी, रसखान आदि कवियों का ढंग भाता है। आजकल छन्दों के चुनाव में भी लोगों की अजीब रुचि हो रही है। इन्द्रवज्रा, मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी आदि संस्कृत छन्दों का हिन्दी में अनुकरण हममें तो कुढ़न पैदा करता है। इस समय कुछ पद्य रचना रसिक हिन्दी में अतुकान्त काव्य की भी चेष्टा कर रहे हैं। दो एक इस क्रम की कविताएँ जो अब तक पत्रों में प्रकाशित हुई हैं भद्देपन का नमूना है।"[१९]

'प्रत्यक्ष है कि यह विचार द्विवेदी जी युगीन खड़ी बोली के शुष्क रूप से प्रेरित हैं। अतुकान्त रचना भी उन्होंने स्वयं लिखी थी। 'हे कविते' संस्कृत गर्भित हिन्दी की अतुकान्त रचना है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति पद से दिये गये एक अन्य भाषण में इसी प्रकार के विचार अभिव्यक्त हुए हैं। 'पद्म पराग' में संकलित इस भाषण की कुछ पंक्तियां निम्नलिखित हैं—

"कविता चाहे सामाजिक हो या राजनीतिक', कविता होनी चाहिए। कोरी तुकबन्दी का नाम कविता नहीं है। पद्य रचना को कविता का पर्याय समझ लिया गया है जो उठता है वही टूटी फूटी तुकबन्दी लिख कवि होने का दम भरने लगता है। न छन्द शास्त्र का ज्ञान है, न भाषा पर अधिकार है, न व्याकरण का बोध है, न रस और रीति से कुछ परिचय है.....।' यही नहीं हिन्दी में वर्णवृत्तों का प्रयोग भी लेखक को रुचिकर नहीं। अनुष्टुप छन्द के प्रयोग को लक्ष्य कर कहा है—'अनुष्टुप छन्दों के अकबरी गज से हिन्दी कविता नापी जा रही है।" (पद्म पराग)।

जिस प्रकार व्रज भाषा काव्य के रसिकों के विरोध का सामना खड़ी बोली में काव्यारम्भ करने वालों को करना पड़ा था, उससे भी उत्कट विरोध का स्थूल भावों के स्थूल चित्रों के चित्रकारों द्वारा सूक्ष्म भाव-चित्रण के कोमलकान्त कवियों को छायावाद के उद्‌भव के समय सामना करना पड़ा। परम्परावादी सदैव ही परिवर्तन के प्रति सशंक रहे हैं। भारतेन्दु जैसा

उदार दृष्टिकोण एवं हृदय जो निज भाषा उन्नति के लिए प्रत्येक नवीन प्रयोग का स्वागत करने को तत्पर हो, इनके पास न था। किन्तु इस साहित्यिक विरोध का छायावाद के तरुण कवियों ने जिस अपराजेय अडिग भाव से सामना किया वह भी साहित्य जगत में अप्रतिम उदाहरण है। इस सम्पूर्ण वादविवाद से जो शुभ फल निकला वह था नवीन विचारधारा के निष्पक्ष आलोचकों का दल जिन्होंने छायावाद का स्वागत करते हुए उसे समय की माँग बतलाया और एक अनिवार्य परिवर्तन कहा। 'इन्दु पत्रिका के पृष्ठों पर जो भिन्न-भिन्न आलोचकों के मत-मतान्तर छपते रहे वे इस दिशा के अध्ययन के लिए प्रकाश स्तम्भ का काम करते हैं। श्री अंबिका प्रसाद गुप्त का 'सामयिक साहित्य की प्रगति' पर निम्नलिखित वक्तव्य विचारणीय है–

"साहित्य का युग बीत गया। गत महायुद्ध की समाप्ति के बाद दूसरा युग आरम्भ हो गया है। हिन्दी साहित्य के युग प्रवर्तन 'रिनैंसा' (Renaissance) का प्रारम्भ काल है। अपने वर्तमान को हमने विस्मृत कर दिया है और अब 'तुलसी सूर' के साथ कालिदास, हाफ़िज, माइकेल, दान्ते और शेक्पीयर की संचित ज्ञान राशि को भी हमने अपना लिया है।

गद्य के साथ आधुनिक हिन्दी कविता ने भी करवट ली है। अभी उसका लड़कपन दूर नहीं हुआ है पर नींद की इस करवट ने उसे मधुर अवश्य बना दिया है। पहले वह सेवा की चीज थी, अब प्रेम की वस्तु हो गई है। पुराने अभिभावकों को शिकायत है कि अस्पष्टता और उच्छृङ्खलता बढ़ रही है पर वह यह भूल जाते हैं कि ये दोनों बातें जीवन के बसन्त और यौवन काल के संधिकाल के दो बहुत ही आवश्यक उपकरण हैं। हिन्दी के नये मधुकर, बड़े बूढों को इस शिकायत का शायद यह जबाब दें कि प्रौढ़ता मुबारक हो उनको जिनकी यात्रा का यही मंज़ल है। हम भी यह कहें वो अनुचित न होगा कि सौन्दर्य सदैव एक रहस्य है अतएव जहाँ जितनी ही सुन्दरता होगी वहाँ उतनी ही अस्पष्टता भी रहेगी। सौन्दर्य की भाषा में जो अस्पष्टता, संकोच और सिर झुका कर कभी-कभी ऊपर देख लेने वाली, लज्जा की सहेली है वही साहित्य के प्रगति विज्ञान में प्रतियोगिता का चिह्न है। परिवर्तन की इस अवस्था पर रोने वाले रोयें पर वह रोने की नहीं मुस्कराने की चीज है, हँसने की चाहे भले ही न हो।[२०]

साहित्य में छायावाद अब प्रतिष्ठित हो चुका था और विद्वान आलोचक इसके उचित मूल्यांकन में प्रवृत्त थे। श्री विनयमोहन शर्मा ने कहा—

"इस युग ने कविता को मस्तिष्क से उतार कर हृदय पर आसीन कर दिया है। आधुनिक काल में इस प्रवृत्ति को देखकर ही इन पङ्क्तियों के लेखक ने उसे हृदयवाद के नाम से पुकारना आरम्भ किया था। हिन्दी साहित्य में इस 'हृदयवाद' पर बहुत विवाद चल रहा है। मैंने 'कर्मवीर' में समय-समय पर इस भ्रान्ति के निवारण का प्रयत्न भी किया था। कुछ सज्जनों ने इस 'हृदयवाद' को 'छायावाद' का पर्यायवाची ही समझ लिया है। हमने सन् १९२७ के अन्त में पहले पहल श्रीयुत प्रसादजी की 'आँसू' रचना के साथ इस 'हृदय-वाद' का प्रयोग किया था। उस समय हमने यह लिख दिया था कि हम हृदयवाद की प्रयुक्ति कर हिन्दी कविता में 'वादों' की संख्या नहीं बढ़ाना चाहते। जब तक इस तरह की भावात्मक कविताओं का हिन्दी के विद्वान कोई विशिष्ट नामकरण नहीं करते तब तक हम इन्हें 'हृदयवाद' की रचना ही पुकारेंगे, क्योंकि प्रचलित 'छायावाद' शब्द हमें निरर्थक प्रतीत होता है।"[२१]

इस विवाद के प्रसंग में आलोचक प्रवर डाक्टर नन्द दुलारे वाजपेयी की सम्मति महत्वपूर्ण है। वे छायावाद के प्रशंसक एवं मर्मज्ञ विवेचक थे। उन्होंने छायावाद की आत्मा को पहचाना था। उनका कथन है—

"एक नई कल्पना शीलता, नूतन जागरूक चेतना, मानस वृत्तियों की सूक्ष्मतर और प्रौढ़तर पकड़, एक विलक्षण अवसाद, विस्मय, संशय और कौतूहल जो नयी चिन्तना का सूक्ष्म प्रभाव है, प्रकट हो रहा है। ये ही काव्य में छायावाद के उपकरण बन कर आये।"[२२]

श्री 'सुमन' ने इस प्रसंग पर विचार करते हुए कहा—

"अधिकांश कवितायें प्रेम विह्वल हृदय की सीधी-सादी उपज हैं, उनमें न कहीं छायावाद है न रहस्यवाद। जो लोग जबर्दस्ती उनकी सीधी, चुभनेवाली लाइनों का एक विशिष्ट अर्थ निकालने की कोशिश करते हैं, या जो छायावाद को कविता कहकर उनकी हँसी उड़ाने में आनन्द अनुभव करते हैं वे भूलते हैं। ....दो एक उपनिषदों के अध्ययन ने भी प्रभाव डाला है, पर उनकी अधिकांश, ९९% रचनाओं से रहस्यवाद या 'छायावाद' का कोई सम्बन्ध नहीं।"[२३]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जिन्होंने छायावाद के प्रारम्भ काल में—भाषा है, न भाव है, न भूति भांपने को आँख' कहकर तीव्र स्वरों में छायावाद को 'वंग-भंग चकत्ती युक्त' कह कर उपहास किया था, अब गभीरता पूर्वक विवेचन में प्रवृत्त हुए। उन्होंने नई धारा पर विचार करते हुए छायावाद को प्रतीक पद्धति अथवा चित्रभाषा शैली ठहराया। उन्होंने कहा—

"चित्र भाषा शैली या प्रतीक पद्धति के अन्तर्गत जिस प्रकार वाचक पदों के स्थान पर लक्षक पदों का व्यवहार आता है उसी प्रकार प्रस्तुत प्रसंग के स्थान पर उसकी व्यञ्जना करने वाले अप्रस्तुत चित्रों का विधान भी। अतः अन्योक्ति पद्धति का अवलम्बन भी छायावाद का एक विशेष लक्षण हुआ।"[२४] शुक्लजी ने छायावाद को द्विवेदी युग की रूखी इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया माना।

पण्डित रूप नारायण पाण्डेय का दृष्टिकोण भी बदला। छायावाद के उद्भव काल में माधुरी के माध्यम से वे भी अपना विरोध प्रदर्शित कर चुके थे किन्तु आगे चलकर प्रसादजी के घनिष्ठ मित्रों में थे। श्री पदुमलाल पन्नालाल बख्शी 'बोरा' छन्द में छायावाद को तिरस्कृत कर चुके थे, किन्तु अब उनकी धारणा बदल चुकी थी। उन्होंने कहा—"........छायावाद के नाम से हिन्दी में जितनी कविताएँ प्रकाशित हो रही हैं उनमें यदि एक भी अच्छी कविता है तो उसी एक कविता से हमें छायावाद की परीक्षा करनी चाहिये। यदि उसमें कुछ विशेषता है तो दृढ़ता पूर्वक कहा जा सकता है कि छायावाद में कुछ विशेषता है।"[२५]

इस विवाद के अन्तर्गत बाबू गुलाब राय जी के विचार भी महत्वपूर्ण हैं। उनके अनुसार—"यद्यपि प्राचीन संस्कृत और हिन्दी धार्मिक साहित्य में छायावाद सम्बन्धी कविता की कमी न थी, तथापि छायावाद शब्द का अभाव था। थोड़े ही दिनों से यह शब्द अंग्रेजी शब्द मिस्टीसिज्म (Mysticism) के अर्थ में व्यवहृत होने लगा है।........छायावाद या रहस्यवाद की परिभाषा करना कठिन है। यह एक प्रकार की दृष्टि है, जिसके द्वारा आध्यात्मिक

रहस्य अपने भीतरी अनुभव में, जो कि प्रायः भाव प्रधान होता है, प्रकाशित होते हैं।"२६

श्री गुलाबराय जी ने कहा है—"छायावाद में द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया हुई। राष्ट्रीयता हृदय की कोमल भावनाओं को दबा न सकी और शृङ्गारिक भावनाएँ एक उन्नत रूप में प्रकाश में आईं। शृङ्गार का मानसिक पक्ष प्रबल हुआ और उसकी सारभूता कोमलता ने साहित्यिक वातावरण को व्याप्त कर दिया।"२७

प्रोफेसर नगेन्द्र के अनुसार भी छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विरोध था। वे कहते हैं—"छायावाद निश्चित ही शुद्ध कविता है। इसके पीछे अनुभूति की अन्तर्प्रेरणा असन्दिग्ध है। उसकी अभिव्यक्ति की विशेषता भाव पद्धति की विशेषता के कारण है।"२८

छायावाद काव्य की एक प्रतिष्ठित धारा बन चुका था। आलोचना में गम्भीरता थी एवं विषय की गूढ़ता थी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की सहानुभूति प्राप्त हो ही चुकी थी। डा० नन्ददुलारे वाजपेयी की प्रशंसा प्राप्त हुई थी एवं अन्य विरोधी स्वर या तो शान्त हो चुके थे या विस्मयपूर्ण जिज्ञासा एवं प्रशंसा-भाव युक्त थे।

इस परिवर्तित दृष्टिकोण का एक कारण स्वयं कवियों की वे अभिव्यक्तियाँ एवं छायावाद के स्पष्टीकरण की चेष्टाएँ थीं जो उन्होंने समय-समय पर अपनी काव्य प्रणाली के संबन्ध में स्वतन्त्र लेखों द्वारा एवं अपने काव्य की भूमिकाओं के रूप में प्रस्तुत की। इन कवियों में श्री जयशंकर प्रसाद एवं महादेवी जी के विचार गंभीर विवेचन युक्त थे। श्री सुमित्रानंदन पंत के 'पल्लव' के 'प्रवेश' में विवेचन की गूढ़ता किशोरावस्था के चांचल्य एवं आचार्य पुंगवों के अनुदार दृष्टिकोण के प्रति व्यंग्यात्मक उपेक्षा से परिपूर्ण थी। उनकी कटूक्तियों से परिपूर्ण उपहास भाव में अपना पक्ष समर्थन करने की इच्छा ही अधिक मुखर थी। निरालाजी के उद्दात्त व्यक्तित्व में सहिष्णुता का अभाव था अतः उन्होंने आक्रामक ढंग से आत्मरक्षा का मार्ग अपनाया। उन्होंने आलोचकों के तर्कों का उत्तर उन्हीं के तूणीर से निकले तीरों द्वारा दिया। गम्भीर अध्ययन से उनके तर्क परिपुष्ट थे। शुक्ल जी के विचारों में नये कवियों की कविता 'कलाहीन कोरी शब्द की उड़ान' व 'ढोंग' मात्र थी। निराला जी ने शुक्ल जी के कवित्त छन्दों से उदाहरण देते हुए कहा कि शुक्ल जी की 'प्रतिभा के पानी तक कविता की आँच पहुँचती ही नहीं। कवित्त छन्द में वह चूक ही जाते हैं, यही इनकी विशेषता है। केवल १६-१५ की गिनती से कवित्त छन्द पूरा कर देते हैं। (माधुरी, श्रावण ३०६) उदाहरण स्वरूप वे एक कवित्त उद्धृत करते हैं जिसका कुछ अंश है—

'हाँक पर एक साथ पंखों ने सर्राटे भरे
हम मेड़ पार हुए एक ही उछाल में।'

मटर के खेत रूपी थाल में पक्षी बैठे हैं, एक ही हांक पर उड़ जाते हैं, और कवि साथियों सहित एक ही उछाल में मेड़ पार कर जाता है। यह चित्र निराला जी को अस्वाभाविक एवं हास्यास्पद लगा क्योंकि पक्षी थाल में नहीं बैठते। 'एक ही उछाल में मेड़ पार कर जाते हैं। मेड़ जैसे कोई खाई हो।' इसी प्रकार व्याकरण दोष भी उन्होंने ढूढ़ें।

पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी के निबन्ध 'साहित्यिक सन्निपात' और जोशी बन्धुओं के 'कला में विरह' शीर्षक निबन्ध की उन्होंने कटु एवं व्यंग्यपूर्ण आलोचना करते हुए अपने पक्ष

की पुष्टि की। उनकी उग्र भाषा शैली ने उनके प्रति आलोचकों में एक विद्वेष की भावना का ही जन्म दिया। शुक्ल जी जैसा विवेक युक्त सद्भाव विरल ही होता है जिन्होंने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में निराला जी की साहित्यिक प्रतिभा का उचित मूल्यांकन किया।

इस वैचारिक संघर्ष में प्रसाद जी की वाणी संयमित, मर्यादित एवं सुविवेचित विचारों से परिपुष्ट थी। उन्होंने कहा—"छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक विधान तथा उपचार वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताएँ हैं। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आन्तरस्पर्श करके भाव समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति की छाया कान्तिमयी होती है।"[२९]

प्रसाद जी का इसी सन्दर्भ में कथन है—"ऐसा छायावाद किसी भाषा के लिए शाप नहीं हो सकता। भाषा अपने सांस्कृतिक सुधारों के साथ इस पद की ओर अग्रसर होती है. उच्चतम साहित्य का स्वागत करने के लिए। हिन्दी ने आरम्भ के छायावाद में अपनी भारतीय साहित्यिकता का ही अनुसरण किया है।"[३०]

कुछ विचारकों के मत में श्री मुकुटधर पाण्डेय छायावाद के प्रवर्तक हैं, किन्तु अन्य विचारकों के अनुसार छायावादी प्रवृत्तियों का प्रथम उन्मेष प्रसाद जी के काव्य में प्राप्त है। यद्यपि हमारा विवेच्य विषय छायावाद का अग्रणी कौन हैं, नहीं है, फिर भी यह कहना कि इस मत की समीचीनता को समझने के लिए डा० किशोरीलाल गुप्त की 'जयशंकर प्रसाद' पुस्तक पठनीय है—कहना समीचीन होगा। वे प्रसाद जी को छायावाद का प्रवर्तक मानते हुए कहते हैं कि आचार्य शुक्ल ने बदरी नाथ भट्ट एवं मुकुटधर जी को प्रवर्त्तक इसलिए माना है कि उन्होंने 'इन्दु' की फाइलें नहीं देखी हैं।[३१] इस विवाद को छोड़कर हमें श्री मुकुटधर पाण्डेय के छायावाद सम्बन्धी विचारों का अवलोकन करना है। पाण्डेय जी का कथन है—"मिस्टीसिज्म के पर्याय की बात ही लीजिए। कुछ लोग इसके लिए 'छायावाद' शब्द का प्रयोग करने लगे हैं। किसी ने यह शब्द लिख दिया। बस फिर तो बिना यह सोचे विचारे कि वह मिस्टीसिज्म का ठीक पर्याय है या नहीं, इसका प्रयोग होने लगा है।"

आश्चर्य है कि पंडित मुकुटधर पाण्डेय अन्यत्र कहते हैं कि जबलपुर से निकलने वाली 'श्री शारदा' पत्रिका में (१९२०) उन्होंने 'छायावाद' पर एक लेख माला लिखी थी। उनका कथन है—"लेख लिखने के पूर्व मैंने हिन्दी के पुराने आचार्यों से उस समय की नई कविता के नामकरण पर सम्मति माँगी थी। किसी ने भक्तिवाद और किसी ने अध्यात्मवाद सुझाया। बंगला में 'छायावाद' शब्द का चलन नहीं हुआ था। अतः यह शब्द बंगला से नहीं आया। यह नाम सर्वथा मेरा गढ़ा हुआ है।" (डा० कुमारी शान्ति श्रीवास्तव के 'छायावादी काव्य और निराला' के माध्यम से उद्धृत, पृ० २७–२८)।

यह घोर आश्चर्य है कि १९२० में 'छायावाद' शब्द गढ़ने वाले मुकुटधर पाण्डेय जी १९२६ के अपने वक्तव्य में 'छायावाद' शब्द के उद्भव से अपने को अपरिचित बताते हैं और 'मायावादी' के सन्देह बाबा किस Patent Mint से हुआ Word यह coin का भ्रम निवारण न कर उस पर अपने अज्ञान की छाप लगाकर इस विवाद का बढ़ना निरपेक्ष भाव से देखते

सुनते रहते हैं । अतः 'छायावाद' नाम गढ़ने वाला और भी रहस्यमय हो जाता है ।

छायावाद की साहित्य में प्रतिष्ठा का बहुत कुछ श्रेय कोमलकान्त पदावली के प्रयोक्ता श्री सुमित्रानन्दन पन्त को है । 'पल्लव' का प्रकाशन साहित्य के क्षेत्र में एक विस्मय की वस्तु था । सौन्दर्य और लालित्य के अद्भुत सामंजस्य से श्रोताओं एवं पाठकों का भाव गद्गद करने वाले इस अल्प वय के किशोर कवि का गद्य भी उतना ही परिमार्जित, विचार प्रौढ़ एवं प्रभावोत्पादक थे जितना पद्य । छायावाद पर उनके विचार पूर्ववर्ती सभी विद्वानों से भिन्न हैं। इसका परिचय उनके परवर्ती लेखों से मिलता है । उन्होंने 'पल्लव' के 'प्रवेश' में काव्य भाषा पर विस्तार से लिखा है । अपने काव्य विषयों की चर्चा करते हुए एवं रीतिकाल के काव्य क्षेत्र की संकुचित सीमाओं का उल्लेख करते हुए द्विवेदी युग की काव्य सरणियों पर व्यंग्यात्मक छींटे छिड़के हैं किन्तु छायावाद की किसी परिभाषा को प्रस्तुत करने की चेष्टा नहीं की । वे इस नवोन्मेष युक्त प्राणों के आवेग से परिपूर्ण पवित्र तोया काव्य-मन्दाकिनी को काव्य की एक स्वाभाविक परिणति मानकर चले जो पूर्ववर्ती काव्यधारा के विलास कर्दम को अपने प्रवाह के वेग में वहाकर ले चली थी । उन्हें रहस्यवाद, अध्यात्म, फेन्टेस्टा आदि बोझीले शब्द एवं एक सहज, स्वाभाविक काव्यधारा को केवल अनुकरण मान कर चलना हास्यास्पद लगा। छायावाद को वे विश्व चेतना मानते थे । छायावादी कवियों का व्यापक संघर्ष विश्वात्मा तथा नयी मानव आत्मा की अभिव्यक्ति का संघर्ष था ।[३३] 'इस सर्वथा स्वस्थ विचारधारा को शुक्ल जी ने 'विलायती चीजों का मुरब्बा' कहा था । इसमें आंशिक सत्य हो सकता है, किन्तु यह पूर्ण सत्य नहीं है ।

छायावाद की भावभूमि पर विचार करते हुए श्रीमती महादेवी वर्मा कहती हैं—"छायावाद ने मनुष्य के हृदय और प्रकृति के उस सम्बन्ध में प्राण डाल दिये जो प्राचीन काल से बिम्ब-प्रतिबिम्ब के रूप में चला आ रहा था और जिसके कारण मनुष्य को प्रकृति अपने दुःख में उदास और सुख में पुलकित जान पड़ती थी । छायावाद की प्रकृति घट, कूप आदि में भरे जल की एकरूपता के समान अनेक रूपों में प्रकट एक महाप्राण बन गई, अतः अब मनुष्य के अश्रु, मेघ के जल कण और पृथ्वी के ओस बिन्दुओं का एक ही कारण है, एक ही मूल्य है ।.... जब प्रकृति की अनेकरूपता में, प्रकृति की परिवर्तनशील विभिन्नता में, कवि ने ऐसे तारतम्य को खोजने का प्रयास किया जिसका एक छोर असीम चेतन और दूसरा ससीम हृदय में समाया हुआ था तब प्रकृति का एक अंश एक अलौकिक व्यक्तित्व को लेकर जाग उठा ।"[३४]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि विगत वर्षों में छायावाद पर इतना अधिक पक्ष एवं विपक्ष में लिखा गया कि वह एक 'शिष्ट गाली' बन गया । फिर भी इस धारा के कवि हतोत्साह नहीं हुए । नये-नये कवियों का उद्भव होने लगा और अतीन्द्रिय प्रेम, अमांसल सौन्दर्य के चित्रण की प्रवृत्ति बढ़ती रही । डा० रामकुमार वर्मा का कथन है— "छायावाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शांत और निश्छल संवन्ध जोड़ना चाहती है । ऐसी स्थिति में परमात्मा के बिना जीवात्मा की शक्तियों का विकास नहीं होता ।" आगे वे अंडरहिल की छायावाद संबन्धी विचारधारा का उल्लेख करते हैं—"छायावादी कविता एक ओर तो सत्य के स्वरूप की ओर निर्देश करती है और दूसरी ओर एक भविष्य वाणी का रूप ग्रहण करती है ।"[३५]

श्री भगवती चरण वर्मा इस धारा का विवेचन करते हुए कहते हैं—"भारतवर्ष में अभी तक बाह्य सौन्दर्य से सम्बद्ध काव्य प्रचलित रहा है, वीरता में, 'मारकाट' भक्ति में 'विश्वास' तथा शृंगार में 'नख शिख और नायिका भेद' अभी तक लोग देखते आए हैं और सदियों तक वस्तु जगत को प्रधानता दी जाने के कारण जन समुदाय का दृष्टिकोण बहुत अधिक संकुचित हो गया है। जिस समय नयी कविता में बलिदान, प्रेरणा तथा गम्भीर प्रेम का रूप दिखलायी देता है—लोगों के मुख पर आश्चर्य तथा अविश्वास के भाव अंकित हो जाते हैं, उनका विकृत तथा गुलाम मस्तिष्क मानसिक तत्वों के सूक्ष्म रूप को देखने में समर्थ नहीं होता और परिणाम होता है कि वे लोग अस्पष्ट कह कर इन कविताओं को फेंक देते हैं।"[३६]

'छायावाद' का सुकुमार क्षुप विरोधी वातावरण के वात्याचक्रों को झेलकर पनपता रहा और आत्मविश्वास के सहज स्वरों में भाव लोक के विशुद्ध भाव-भीने गीतों से पाठकों के हृदय को रस सिक्त करता रहा। इस प्रसंग में श्री सुमित्रानन्द पन्त की 'विहग के प्रति' कविता उल्लेखनीय है जिसमें विहग कवि का प्रतीक है, उसे 'शिल्पी' कहकर कवि ने उसकी निर्माण शक्ति का अभिनन्दन किया है। इस चतुर शिल्पी को काव्य सृजन के लिए बहुमूल्य उपकरण नहीं चाहिए। वह तो अपनी रचना के सौन्दर्य से आत्म विभोर है, तृप्त है, सन्तुष्ट है।

'सहज चुन चुन लघु तृण, खर, पात,
नीड़ रच रच निशि दिन सायास,
छा दिए तूने शिल्पि सुजात।
जगत की डाल-डाल में वास।'[३७]

स्वान्तः सुखाय रचना तब और भी आनन्दोल्लास युक्त हो अपने ही स्वरों से चकित सी 'विश्व पर विस्मित चितवन डाल' सुनती है—'भर दिये कलरव से दिशि-वास, गृहों में कुसुमित, मुदित अमन्द। अतः कवि ने उन्मुक्त स्वरों में अपने तृप्त प्राणों की परितृप्ति अभिव्यक्त की है—

'अखिल उर उर में तेरे गान,
मधुर इन गीतों से, सुकुमार।
अमर मेरे जीवन औ प्राण।'[३८]

यह तृप्ति-बोध 'छायावाद' के सुकोमल प्राणों में अतीन्द्रिय अज्ञात भाव लोक के आनन्द-अम्बुधि की तरंगें थीं, किन्तु तरंगे अमर नहीं हो सकतीं। यथार्थ की कठोर धरा पर जीवन की स्थूल-मांसल लालसायें इन स्वप्न जड़ित नेत्रों के अर्धोन्मीलित पलकों के अन्तराल से झांक कर अपनी सत्ता का कवियों को आभास दे ही जाती थीं। प्रसाद जी की अतिशय गम्भीर प्रकृति, आत्म-गोपन की अद्भुत क्षमता सदैव अवगुंठित ही रही—

'मुख कमल समीप सजे थे
दो किसलय से पुरइन के
जल बिन्दु सदृश ठहरे कब
उन कानों में दुख किनके थे।'[३९]

'निराला' में यह आत्म-गोपन की प्रवृत्ति नहीं है। माँसलता की पुकार निरवगुंठित एवं अकुंठित पौरुष की अभिव्यक्ति लिए है। 'जूही की कली' में पवन का अल्हड़ प्रसुप्त नायिका को नींद से जगाने का चित्र प्रचुर माँसलता युक्त है—

'निर्दय उस नायक ने
निपट निठुराई की
कि झोकों की झड़ियों से
सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली,
मसल दिए गोरे कपोल गोल।[४०]'

इस चित्र में कवि की स्थूल आकांक्षाएँ अत्यन्त स्पष्ट हैं। प्रकृति के झीने आवरण से आवृत होने पर भी यह प्रकृति जीवन की कथा न कहकर मानव मन की पुकार ही सुनाती है।

पंत जी भी प्रकृति के सौन्दर्य-चित्रों में, उसके हास-विलास में, मुकुल मधुपों की प्रेम चेष्टाओं में प्रकृति में सर्वत्र परिव्याप्त प्रेम-कथा व्यापार को घटते देख मांसल इच्छाओं से सर्वथा अलिप्त नहीं रह पाते हैं। 'ग्रन्थि' का निराश प्रणयी अतीत को विस्मृत कर 'भावी पत्नी के प्रति' जिन दैहिक इच्छाओं को अभिव्यक्त करता है, वह स्थूल जगत के जन-मन में उठती प्रणय केलि के लिए आतुर अभिलाषाओं के चित्रों से परिपूर्ण है। किसी मृगेक्षिणी के सरल आँखों के आकाश में खोये खग सदृश प्राणों का वर्णन कर कवि अन्त में कामनाओं के कनक वर्णी मधुर स्वप्न जाल से आविष्ट हो जाता है। प्राणों की पुकार संयम के बन्धन तोड़ मुक्त स्वर में गूंजती है—

आज रहने दो यह गृह काज,
प्राण रहने दो यह गृह काज।
आज जाने कैसी वातास
छोड़ती सौरभ श्लथ उच्छ्वास,
प्रिये लालस सालस बातास,
जगा रोओं में सौ अभिलाष।'[४१]

अन्तर्जगत का यह भावोन्माद यथार्थ की पुकार है। श्रीमती महादेवी वर्मा भी प्रकृति के माध्यम से अपने चिर पिपासित प्राणों को बहलाती रहीं। आकुल-व्याकुल हो—"अनोखा एक नया संसार' बसाने की कामना करने लगीं। यह वास्तविकता की पुकार थी जो प्रकृति के सुहावने बहुरंगी परिधान के झीने अवगुण्ठन से झांक कर अपने अस्तित्व को प्रकट करती रहती थी। इससे स्पष्ट है कि जीवन में दैहिकता की पुकार कवियों ने सुनी तो किन्तु उसकी पूर्ति का रूढ़िग्रस्त सामाजिक वातावातरण में सुयोग न था। प्रसाद जी के 'आँसू' काव्य की अनेक पंक्तियां जीवन की स्थूल माँगों के प्रति आसक्ति की प्रबल एवं स्पष्ट अभिव्यक्ति करती हैं। 'लहर' में संकलित कविता—'आत्मकथा' उनकी दमित आकांक्षाओं का स्पष्ट चित्र खींचती है—

मिला कहाँ वह सुख जिसका मैं स्वप्न देख कर जाग गया,
आलिङ्गन में आते आते मुसकाकर जो भाग गया।'[४२]

जो कुछ छायावाद के भावुक कवि को मान्य है वह समाज को अमान्य है, अतः कवि भाव-लोक में ही अपने कल्पना चित्रों से मन बहलाने लगा। छायावादी कविता में प्रचुर परिमाण में 'क्षितिज के पार' 'नीरव हा-हाकार,' 'अज्ञात प्रियतम,' 'अनन्त की ओर' आदि शब्दावली के प्रयोग आलोचकों को विरक्त कर रहे थे। उन्होंने इसे जीवन संघर्ष से पलायन वृत्ति कहा। स्वप्नलोक में भ्रमण करने की आकांक्षा को कर्म-भीरुता कहा। उनकी दृष्टि में ऐसा काव्य असामाजिक है, लोक विमुख है और समाज का प्रेरणा स्रोत न होकर अकर्मण्यता को प्रेरित करता है।

छायावाद ने यद्यपि काव्य क्षेत्र में अपना स्थान बना लिया था, कुछ विद्वानों की सहानुभूति और प्रशंसा भी प्राप्त कर ली थी, फिर भी वह विवाद का कारण बना ही रहा। इसके कुछ कारण थे। इनमें अस्पष्टता का आरोप सर्व प्रमुख था। सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला की मुक्त वृत्त में रचित 'जूही की कली' सरस्वती में इसलिए नहीं छपी कि वह अस्पष्ट थी। अस्पष्टता का कारण था वह विरोधी दृष्टिकोण जिसमें प्राचीनता का मोह नवीनता को सर्वथा अग्राह्य मानता था। उसमें नई भावाभिव्यंजना को समझने का प्रयास ही नहीं था। नवीनतम उपमानों के प्रयोग, अमूर्त्त भावों के अमूर्त्त लाक्षणिक उपमानों का प्राचुर्य कभी कभी स्वेच्छाचारिता का उदाहरण बन गया। उनकी सार्थकता सन्दिग्ध ही रही। उदाहरणतः कविवर पंत की रचना में 'स्याही की बूंद' से आकाश से चू पड़ने वाले नक्षत्र की समता की गई है। इसका आधार न रूप साम्य है, न गुण साम्य। नक्षत्र को 'शुचि उलूक' कहना भी नूतनता का आग्रह-मात्र है, इसमें न भावों की प्रासादकता है, न अनुरंजकता।

नवीनता के नाम पर असामान्य की खोज ने काव्य को दुरूह बना दिया। लोक जीवन से टूटा हुआ, व्यष्टिपरक यह काव्य अपनी नवीन भाषा शैली और प्रतीक योजना के कारण पढ़े लिखे लोगों को भी अबूझ लगा। 'अभिलाषाओं की करवट' जैसे प्रयोग प्रहेलिका वत् जटिल थे।

अस्पष्टता का दूसरा कारण था—मूर्त्त बिम्बों का परित्याग एवं अमूर्त अमांसल चित्रों का प्राधान्य। अमूर्त भावनाओं के अमूर्त उपमान पाठकों को दुरूह प्रतीत हुए।

छायावाद के सौन्दर्य द्रष्टा कवियों की अतिशय कल्पनाशीलता ने जब व्यष्टि को ही प्रधानता दी तब उनकी मनोदशाओं के अतिरंजित चित्रों की अस्पष्टता एवं कलात्मक चारुता ही उसके ह्रास का कारण बन गई। छायावाद की सुकुमारता, मधुसिंचित पदावली एवं अतीन्द्रिय भाव लोक में क्षय के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे।

अब छायावाद के आलोचकों का एक नया दल सम्मुख आया। इनमें सर्वश्री देवराज, राम विलास शर्मा, अज्ञेय, दिनकर आदि के नाम अग्रगण्य हैं। स्वयं कवि श्रेष्ठ श्री सुमित्रानन्दन पंत ने छायावाद में लगे इस घुन को पहचान लिया था और 'युगान्त' के साथ 'युगवाणी' की पुकार सुन 'ग्राम्या' के जन जीवन से अपने को जुड़ा पाया। छायावाद के अवसान पर अपने विचार 'आधुनिक कवि पंत' में उन्होंने इस प्रकार दिये हैं—

"छायावाद इसलिए अधिक नहीं रहा कि उसके पास भविष्य के लिए उपयोगी, नवीन आदर्शों का प्रकाश, नवीन भावना का सौन्दर्य बोध, और नवीन विचारों का रस नहीं था।

वह काव्य न रहकर केवल अलंकृत संगीत रह गया था।"४२

प्रयोगशील कविता पर विचार करते हुए एक रेडियो परिसंवाद में उन्होंने कहा—

"क्लासिकल अथवा प्राचीन काव्य में हमें शाश्वत तथा उदात्त के प्रति एक गम्भीर आकर्षण, चिरन्तन मान्यताओं के प्रति अटल विश्वास तथा सार्वलौकिकता के प्रति एक असन्दिग्ध आग्रह मिलता है। उसमें एक ओर चरित्र की महत्ता और दूसरी ओर वस्तुजगत का स्थायित्व दृष्टिगोचर होता है। छायावाद में शाश्वत तथा उदात्त का स्थान रहस्य ने ले लिया, वस्तु जगत का स्थान भाव जगत और सार्वलौकिकता का स्थान वैयक्तिकता ने ग्रहण कर लिया। उसने वास्तविकता की उपेक्षा कर स्वप्न तथा आशा की सृष्टि की और कल्पना का सौन्दर्य पट बुना।.........प्रयोगवादी काव्य जहाँ अपनी शैली तथा रूप विधान में अतिवैयक्तिक हो जाता है वहाँ अपनी भावना में जनवादी, वह छायावादी स्वप्नों के कोहरे को हटा कर एक नवीन वास्तविकता के मुख को पहचानना चाहता है।"

'रसवन्ती के कवि श्री 'दिनकर' ने 'हुंकार' के सृजन के साथ ही रसमयी कल्पनाओं की कुहेलिका से हट कर छायावाद पर अपने विचार प्रकट करते हुए कहा—

"छायावाद 'अज्ञात कुल शील' बालक के समान साहित्य में आया। किसी ने कहा यह रवीन्द्र का अनुकरण है, किसी ने कहा यह अंग्रेजी कविता के रोमेंटिक कवियों का प्रभाव है, किसी के कहने का यह भी अभिप्राय था कि यह साहित्य रहस्यवादी साधु बनकर जनता को ठगना चाहता है।"४४

प्रगतिवाद अब तक साहित्यिक क्षेत्र में यथार्थवादी दृष्टिकोण की स्थापना करने में सफल हो चुका था। अतः छायावाद की सौन्दर्यानुभूति का सम्मोहन भंग होकर वास्तविकता की पुकार पर जो नया आलोचक दल सम्मुख आया उससे श्री शिवदान सिंह चौहान, अज्ञेय, प्रो० देवराज एवं डाक्टर रामविलास शर्मा के नाम अग्रगण्य हैं। श्री शिवदान सिंह चौहान का कथन है—

"हिन्दी में छायावाद की कविता पूंजीवाद की कविता है। उसमें जिस भावना की अभिव्यंजना होती है वह पूंजीपति वर्ग या मध्यम वर्ग की वर्ग भावना है। लेकिन चूंकि संकट ग्रस्त, नाशोन्मुख पूंजीवाद संस्कृति और कला का विरोधी है, अपने कलाकारों और कवियों को अनादृत कर उन्हें जीविका उपार्जन के लिए दर-दर भटकाता है इसलिए स्वाभिमानी छायावादी कवि आधुनिक पूंजीवादी समाज से असन्तुष्ट है, पूंजीजीवी होकर भी 'चिर विद्रोही' और 'चिर अघोर' है। उसकी कविता असन्तोष और प्रतिवाद के भावों से ओत प्रोत है।"४५

छायावाद के इतिहास में एक समय ऐसा भी आया जब 'छायावाद शब्द एक शिष्ट गाली समझा जाने लगा और यह अवहेलना का भाव तीव्रतर होता चला गया। छायावाद के स्थान पर नवीन प्रयोग साहित्य में आये। काव्य में वैयक्तिकता का परित्याग एवं जीवन के प्रति आकर्षण बढ़ा।

प्रो० देवराज ने छायावाद के ह्रास के कारणों का विवेचन करते हुए कहा था—
"छायावाद की कमजोरी उसका कल्पनाधिक्य है। मैं आज भी इस पर दृढ़ हूँ। यह कल्पना-

धिक्य एक ओर जहाँ पाठक और वास्तविकता के बीच में आकर्षक व्यवधान उपस्थित कर देता है वहाँ इस बात का द्योतक भी है कि छायावादियों की यथार्थ की पकड़ अधूरी और नितान्त सीमित है। वे न तो बाह्य वास्तविकता का ही पूर्ण चित्र दे पाते हैं, न उपभुक्त मनोदशा को ही संक्रान्त कर पाते हैं, यह अन्तिम स्थिति, मनोदशाओं की धुंधली अनुभूति अथवा उपभुक्त मनोदशाओं का धुँधला, छायामय प्रकाशन, छायावादी गोत काव्य को निम्न श्रेणी की चीज बना देता है। यह समझना भूल है कि इस प्रकार की अभिव्यक्ति का कारण छायावादो अनुभूति की रहस्यात्मकता है—अन्य मनोदशा की भाँति रहस्य भावना का प्रकाशन भी निर्बल या सशक्त हो सकता है।''[४६]

प्रो० प्रकाशचन्द्र छायावाद एवं छायावादो कवियों के प्रशंसक थे। किन्तु आगे चल कर छायावादी कवियों के परिवर्तित दृष्टिकोण को समय की माँग स्वीकार करते हुए उनका यह कथन सर्वथा समीचीन है—

''छायावाद हिन्दी कविता को एक मंजिल तक पहुँचाकर अपना ऐतिहासिक रोल पूरा कर चुका। बीमार समाज को जिस उपचार की आवश्यकता है, वह छायावाद के वश का नहीं। अतः एक-एक करके छायावाद के मांझी अपनी पुरानी तरी छोड़ रहे हैं क्योंकि उनकी जागरूक चेतना सामने गहरे नद और नदी देख रही है। पंत जी 'युगवाणी' लिख कर, निराला 'कुकुरमुत्ता' और महादेवी जी 'बगाल का अकाल' और 'गुरुदेव को मृत्यु' जैसे विषयोंपर लेखनी उठाकर अपनी प्रेरणा का यथार्थ से संबंध जोड़ रहे हैं। कवि के मर्म पर आज को परिस्थिति आघात कर रही है। हवाई मीनारों में बन्द रहना अब उसके लिए असंभव हो उठा है।''[४७]

छायावाद के जन्म, उत्थान एवं पतन का यह लघु इतिहास अपने में अत्यन्त रोचक है। 'पल्लव' को रचना कर श्री सुमित्रानन्दन पंत ने काव्य-मर्मज्ञ पण्डित शुकदेव बिहारी मिश्र से महाकवियों में परिगणित होने का यश अपनी किशोर वय में ही प्राप्त कर लिया था। श्री जयशंकर प्रसाद साहित्यिक वाद-विवादों से निरपेक्ष अपनी साहित्यिक शिव साधना के मार्ग पर अडिग पाँवों से बढ़ते रहे और अपनी काव्य कला साधना का सुफल कामायनी' साहित्य संसार को भेंट कर शिवत्व में लीन हो गये। महादेवो जी छायावाद के उच्चतम सोपान पर 'दीपशिखा' प्रज्ज्वलित कर संतुष्ट हो गई। एक तरह से कहा जा सकता है कि यह छायावाद की समाधि पर प्रज्ज्वलित दीप था। उनकी अन्तर्मुखी काव्य साधना के दीप का स्नेह समाप्त प्राय था। उससे धूम रेखा प्रसारित होने के पूर्व ही उन्होंने पथ की अवरुद्धता देख मार्ग परिवर्तित कर दिया एवं वेदों की आर्षवाणी के भाषानुवाद की ओर प्रेरित हुई।

निराला जी का उद्दाम व्यक्तित्व, पौरुष की प्रचंडता गिरि प्रपात सी वेगवती थी। छन्द बन्धों की कारा को विदीर्ण कर मुक्त छन्द के प्रसार करने वाले, सौन्दर्य और माँसल आकांक्षाओं के सजीव चित्र खींचने वाले, 'जूही की कली' के नायक को दैविक और सामाजिक आघातों ने मानसिक असन्तुलन की दशा में डाल दिया था। 'राम की शक्ति पूजा' का तेजस्वी स्वर कभी 'कुकुरमुत्ता' की रचना कर तो कभी 'वह तोड़ती पत्थर' के सामन्तीय पूंजीवादी द्रोह के रूप में मुखरित होने लगा। सामाजिक विषमता से स्तब्ध कवि की इस मानसिक स्थिति पर श्री सुमित्रा नंदन पंत का कथन है—

"निराला का आविर्भाव नयी काव्य चेतना के आकाश में एक तेजोमय धूमकेतु के समान हुआ, एक प्रखर धूमकेतु जिसका सिर अद्वैत दृष्टि की मणि के आलोक से देदीप्यमान रहा—और जिसके पीछे अपनी ही व्याप्ति में खोयी ज्योति वाष्पों की वे सभी महत्वाकांक्षाएँ, विकृतियाँ, विषमताएँ, अहम्मन्यता, स्पर्धा, प्रचंडता तथा निर्मम जीवन परिस्थितियों के कृच्छ्र कष्टपूर्ण संघर्षों की परछाइयाँ एक अस्पष्ट अचिन्त्य, समझ में न आने वाले, रहस्यमय इन्द्रजाल में सी बंटी, प्रतिच्छवित रही।"४८

निराला छायावाद युग के प्रचंड पौरुष-प्रकाश-स्तम्भ थे। वे अपने व्यक्तित्व एवं कृतित्व में अद्वितीय थे।

छायावाद का उद्भव जिस प्रकार विषम परिस्थितियों के उपहास एवं व्यंग्य के वातावरण में हुआ था अवसान भी उसी तरह के विरोध में हुआ। श्री अज्ञेय ने इन परिस्थितियों पर लक्ष्य कर 'त्रिशंकु' में अपने वक्तव्य में कहा—"पिछले दो एक वर्षों में छायावाद की अवहेलना सहसा घनी होकर विरोध के रूप में प्रकट होने लगी है और आये दिन छायावादियों की भर्त्सना होती रहती है।"

छायावाद के सर्वाधिक जनप्रिय कवि श्री सुमित्रानन्दन पंत ही जब गुञ्जन की गुनगुनाहट छोड़ स्वप्न लोक से यथार्थ की ओर मुड़ गए तो यह स्पष्ट हो गया कि काल ने करवट बदली है। अपनी चरम उन्नति के उपरान्त भी वह जिस निन्दा एवं उपहास का कारण बना वह डा० राम विलास शर्मा की सम्मति में सामान्तीय मनोवृत्तियाँ थीं जो एक बार पुनः रीतिकालीन विलास को नये परिधान में अमांसल एवं अमूर्त्त छायाचित्रों के रूप में पाठकों के सम्मुख चित्रित कर रही थीं। निराला जी के कठोर यथार्थ से उत्प्रेरित काव्य ने पाठकों की ऐन्द्रिय विलास जन्य स्वप्न जड़ता को दूर किया और काव्य धारा वास्तविकता के कठोर धरातल पर पुनः प्रवाहित हुई। डा० रामविलास शर्मा उनकी शक्ति और सामर्थ्य के प्रमुख प्रशंसक थे।

हिन्दी साहित्य के इतिहास की कोई भी धारा इतनी अल्पकालीन नहीं हुई जितनी छायावाद की। वर्षा कालीन नदी के सदृश प्रबल वन्या सी परम्पराओं के कूलों के बंधन तोड़ यह साहित्य संसार में उमड़ी और वर्षा के उपरान्त सूख कर सिकता समूह में विलीन हो गई। किन्तु ऐसा क्यों हुआ ?

छायावाद का सौन्दर्य-द्रष्टा कवि ग्रीक कथा के नारकीशस के सदृश आत्मलीन अपने ही चित्रपटों के सौन्दर्य पर मुग्ध था। अतः नारकीशस के समान ही छायावादी आत्महीनता का ह्रास हुआ।

छायावाद के प्रशंसक एवं निंदक इतने अधिक हुए कि उनके नामोल्लेख एवं मत उद्धृत कर निबन्ध की आकार वृद्धि मुझे अभिप्रेत नहीं क्योंकि विरोध में शब्दान्तर अवश्य मिलेंगे किन्तु विचार वही हैं। छायावाद के कवियों का स्वयं ही सूक्ष्म सौन्दर्य की आकर्षक लक्ष्मण रेखा को लांघ कर बाहर आना और व्यक्ति परक दृष्टिकोण का परित्याग कर समष्टि गत विचारों की ओर झुकाव छायावाद को समय और परिस्थितियों के प्रतिकूल सिद्ध कर चुका था। अतः छायावाद का ह्रास स्वाभाविक था।

'छायावाद' शब्द का आविष्कार एवं प्रथम प्रयोग किसने किया था यह आज भी रहस्य ही बना है। छायावाद पर अनेक अनुसंधान हुए हैं किन्तु 'मायावादी' के शब्द—'हिन्दी भाषा में यह न्यारा शब्द कहाँ से आया' आज भी उतने ही सार गर्भित हैं जितने प्रारंभ में थे।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में छायावाद शब्द का उद्गम बंगला साहित्य में मानकर एक भयंकर भ्रान्ति को जन्म दिया। बंगला साहित्य में छायावाद शब्द का प्रयोग कहीं नहीं मिलता। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रचनाएँ छायावादी नहीं कहलातीं, न उन्हें कोई छायावादी कवि कहता है। बंगला में मिस्टीसिज्म (Mysticism) ही प्रचलित था। आज 'छायावाद' शब्द के प्रथम प्रयोग का प्रश्न गौण है। फिर भी अनुसंधान करने वाले इसे बंगला की देन मान लेते हैं। मैं छायावाद पर अपने एक लघु निबंध में जो काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की पत्रिका प्रज्ञा १९६० में प्रकाशित हुआ था इस पर विचार कर चुकी हूँ। फलत. छायावाद शब्द को बंगला की देन मानने का भ्रम अवश्य टूटा किन्तु शब्द के जन्म का इतिहास लुप्त ही रहा। इस प्रसंग में कवि श्री नरेन्द्र शर्मा से अपनी वार्ता के मध्य मैंने प्रश्न किया था और उनका निर्भ्रान्त मत था कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति पद से दिये गये पंडित लोचन प्रसाद पाण्डेय के अभिभाषण में 'छायावाद' शब्द का प्रयोग प्रथम बार हुआ था। यह अभिभाषण मुझे उपलब्ध न हो सकने के कारण मैंने पढ़ा नहीं है। किन्तु छायावाद युग के कवि श्री नरेन्द्र शर्मा के मत को मैं विश्वसनीय समझती हूँ।

आज साहित्योपवन में छायावाद के मधुर संगीत स्वर नहीं गूंजते। वह इतिहास बन गया है और इसके अन्वेषण में लगे शोध-छात्र-छात्राएँ संभवतः इस शब्द के मसखरे आविष्कारक को खोज सकें। कवि दिनकर ने इसे 'अज्ञात कुल-शील' बालक कहा था और यही मत आज भी सत्य है।

संदर्भ

१. रामरतन भटनागर—कवि 'प्रसाद' एक अध्ययन
(भारतेन्दु—भाग १, १९२८) पृष्ठ २५१।

२. वीणा—पौष सं० १९८४, हिन्दी साहित्य में पाखंडवाद।

३. माधुरी—श्रावण ३०५ तु० सं० अगस्त-सितम्बर १९२८, पद्मसिंह शर्मा 'कविता में परिवर्तन'।

४. माधुरी—श्रावण तुलसी सं० ३१८, डॉ० हेमचन्द्र जोशी "अप्रिय सत्य साहित्य पारखो"

५. सुधा-फरवरी, १९२९।

६. सुधा जुलाई, १९२८

६. सुधा-जुलाई, १९२८।

७. सरस्वती-मई १९२७।

८. कानपुर के प्रथम भारतीय सम्मेलन में खड़ी बोली विभाग के सभापति-हरिऔध।'
माधुरी फाल्गुन ३०२ (फरवरी १९२६)

९. हरिऔध-हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, पृ० ५९०।

१०. वही „ „ पृ० ५९२।

११. वही „ „ पृ० ५९३-४।

१२. मिश्रबन्धु-मिश्रबन्धु विनोद, उत्तर-नूतनकाल, संवत १९९१, पृ० ३३१ ।
१३. शुकदेव विहारी मिश्र-साहित्य समालोचक, बैशाख, १९२९ ।
१४. दिनकर-मिट्टी की ओर, इतिहास के दृष्टिकोण, पृ० ६ ।
१५. सुधा-सितम्बर, १९२७ ।
१६. सुधा-दिसम्बर, १९२६ ।
१७. वही- ,, ,,
१८. सम्पादक-नगेन्द्र, वात्स्यायन, "आधुनिक साहित्य-आधुनिक हिन्दी कविता खंड ।
१९. मर्यादा-सितम्बर, १९११
२०. इन्दु-कला ८, जनवरी १९२७ : आत्म निवेदन, सम्पादक—अम्बिका प्रसाद गुप्त ।
२१. माधुरी, मार्च १९३०, हिन्दी की आधुनिक कविता ।
२२ डा० नन्ददुलारे वाजपेयी, जयशंकर प्रसाद, पृ० १७, प्रथम संस्करण ।
२३. माधुरी-श्रावण, सितम्बर, १९२८ ।
२४. पं० रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ७४८, संस्करण १९९९ ।
२५. श्री पं० प० बख्शी—हिन्दी साहित्य विमर्श, पृ० १०७-८, चतुर्थ संस्करण ।
२६. गुलाबराय—विशाल भारत, १९२८ ।
२७. गुलाबराय—काव्य के रूप, चतुर्थ संस्करण १९४८, पृ० १३० ।
२८. नगेन्द्र—विचार और अनुभूति, पृ० ५८ ।
२९. जयशंकर प्रसाद—काव्य एवं कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० १४८ ।
३०. वही, ,, ,, ,,
३१. किशोरीलाल गुप्त-प्रसाद का विवेचनात्मक अध्ययन, प्रथम संस्ककरण, पृ० ३५ ।
३२. माधुरी—चैत्र ३०२, ऐप्रिल, १९२६ मिस्टोसिज्म का पर्याय ।
३३. श्री सुमित्रानन्दन पन्त—छायावाद-पुनर्मूल्यांकन, प्रथम संस्करण, १९६५, पृ० १६ ।
३४. महादेवी वर्मा-यामा, तृतीय संस्करण, संवत् २००८, पृ० ८,
३५. डा० रा० कु० वर्मा-साहित्य समालोचना, पृ० १४, १७ ।
३६. भगवती चरण वर्मा-मधुकण, पृ० १७-१८ ।
३७. सु० नं० पंत-गुंजन, चतुर्थ संस्करण, पृ० ८२ ।
३८. सु० नं० पंत-गुंजन, चतुर्थ संस्करण, पृ० ८३ ।
३९. जयशंकर प्रसाद-आँसू, द्वितीय संस्करण, पृ० २३
४०. सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'-परिमल, सप्तम आवृत्ति, पृ० १९२ ।
४१. श्री सुमित्रानन्दन पंत-गुंजन, चतुर्थ संस्करण, पृ० १७-१८ ।
४२. ज० शं० प्रसाद—लहर, द्वितीय संस्करण, पृ० ५ ।
४३. आधुनिक कवि पंत, प्रथम संस्करण, पृ० १० ।
४४. मिट्टी की ओर, 'इतिहास के दृष्टिकोण से' पृ० ९ ।
४५. सं० अज्ञेय, आधुनिक साहित्य, लेखक शिवदान सिंह चौहान, प्रकाशन १९४० पृ० १३८
४६. छायावाद का पतन, निवेदन से ।
४७. संपादक-नगेन्द्र, वात्स्यायन, आधुनिक हिन्दी साहित्य, छायावाद की प्रेरणा, पृ० ८६ ।
४८. छायावाद—पुनर्मूल्यांकन, प्रथम संस्करण, पृ० ६० ।

राष्ट्रीयता और समाजवाद और आचार्य नरेन्द्रदेव का योगदान

प्रो० कृष्णनाथ*

आचार्य नरेन्द्रदेव का स्मरण उनके और युग और नेतृत्व के ऐश्वर्य के कारण ही किया जाय तो वह भी कम नहीं। किन्तु यहाँ उनका शील-दर्शन सम्पन्न व्यक्तित्व विचार का विषय नहीं। विचारणीय है राष्ट्रीयता और समाजवाद को आचार्य जी की देन।

आचार्य नरेन्द्रदेव और उनके सहयोगियों ने भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में १९३० के आस-पास जो वैचारिक रिक्तता आ रही थी उसे भरा। असहयोग आन्दोलन, स्वदेशी और नमक सत्याग्रह, सविनय अवज्ञा आदि चल कर जैसे चुक गये थे। राष्ट्रीय जीवन और आन्दोलन में एक अवसाद आ गया था। एक ओर आतंकवादी उपायों से कुछ युवकों ने इस रिक्तता को भरने की कोशिश की। दूसरी ओर भारत में समाजवादी आन्दोलन ने इसको भरा। नये जीवन-दर्शन और प्रयत्न के बिना राष्ट्रीय स्वाधीनता का आन्दोलन कदाचित् आगे न बढ़ पाता। यह काम-अवरुद्ध राष्ट्रीय धारा को अनिरुद्ध करने का और उसे एक नये जीवन-दर्शन से अनुप्राणित करने का—समाजवादी आन्दोलन का है। इसका दिशा-निर्देश आचार्य जी ने किया। प्रतिभा से प्रतिभा का दीप जलता है। आचार्य जी और उनके युवा सहकर्मियों, सर्वश्री जयप्रकाश नारायण, राममनोहर लोहिया, अच्युत पटवर्धन, युसुफ मेहरअली, मीनू मसानी, अरुणा आसफअली आदि की प्रतिभा से आकृष्ट होकर अनेक युवक-युवतियों ने राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लिया। शायद मात्र गाँधीवादी प्रेरणा से यह सम्भव न हो पाता।

राष्ट्रीयता का प्रश्न जिसे वैज्ञानिक समाजवाद कहा जाता है उसके लिए एक दुखती रग जैसा है। यद्यपि मार्क्स-एंगेल्स में राष्ट्रीय अहंकार प्रच्छन्न रूप से है। उनका वैज्ञानिक समाजवाद सत्य है और जर्मन भी। फिर भी समाजवाद का जो विज्ञान का दावा है उस पर से ही यह राष्ट्रीय नहीं हो सकता। जैसे कोई भौतिक शास्त्र 'जर्मन' या 'इण्डियन' नहीं, वैसे ही वैज्ञानिक समाजवाद भी सार्वभौम सत्य है, और वह राष्ट्रीय सीमाओं में बंधा नहीं। कम्युनिस्ट घोषणा पत्र का घोष है : 'दुनिया के मजदूरों एक हो, तुम्हें खोने के लिए जंजीरों के सिवा कुछ नहीं और जीतने के लिए सारा संसार पड़ा है।' इस घोष की गूंज-अनुगूंज विश्व के प्रायः हर कोने से हुई। इस तरह समाजवाद का परम्परागत सिद्धान्त और व्यवहार अन्तर्राष्ट्रीयता पर आधारित रहा है। इससे भिन्न, आचार्य नरेन्द्रदेव का मत है कि एशिया के पराधीन देशों के लिए राष्ट्रीय स्वाधीनता ज्वलंत प्रश्न है। समाजवाद इसके बिना नहीं। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और जनतन्त्र के साथ समाजवाद युग-धर्म है, इनके बिना नहीं। इसलिए १९३४ में स्थापित कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी, इण्डियन नेशनल कांग्रेस के अन्दर काम करती रही। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद कांग्रेस ने प्रस्ताव कर दिया कि कोई पार्टी इसके अन्दर नहीं रह सकती तो कांग्रेस

---

* अर्थशास्त्र विभाग, काशी विद्यापीठ

से निकल कर १९४८ में सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना हुई। आचार्य जी ने 'मेरे संस्मरण' में कहा कि 'मुझे यह कहने में प्रसन्नता है कि जब पार्टी का विधान बना तो केवल डाक्टर लोहिया और हम (आचार्य जी) इस पक्ष में थे कि उद्देश्य के अन्तर्गत पूर्ण स्वाधीनता भी होनी चाहिए। अन्त में हम लोगों की विजय हुई।'

इस प्रकार पहले अपनी पार्टी में, फिर समाजवादी सिद्धान्त और व्यवहार में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की मान्यता सम्भवतः आचार्य जी को देन है। अभी भी कठमुल्ले शास्त्रवादी समाजवादी इसको स्वीकार करने को तत्पर नहीं। किन्तु सोवियत रूस, कम्युनिस्ट चीन और युगोस्लाविया सहित पूर्वी यूरोपीय देशों के कम्युनिस्ट आन्दोलनों और पश्चिमी 'यूरो-कम्युनिज्म' और हाल-हाल में कम्युनिस्ट चीन द्वारा वियतनाम पर हमले ने इन राष्ट्रीय भिन्नताओं के तथ्य को उभाड़ दिया। आचार्ग जी की दूरदृष्टि है कि जब यह सब प्रश्न उठे भी नहीं थे, सोवियत रूस विश्व की एकमात्र समाजवादी-साम्यवादी शक्ति के रूप में उभर रहा था तो भी आचार्य जी ने राष्ट्रीय विशिष्टताओं और परिस्थितियों और आकांक्षाओं को समाजवाद के साथ जोड़ कर देखने पर बल दिया था।

आचार्य जी की राष्ट्रीयता मात्र राज्य की सीमा तक सीमित न थी। एक व्यापक, सांस्कृतिक राष्ट्रीयता उसका आधार थी और अन्तर्राष्ट्रीयता इन राष्ट्रीय भिन्नताओं पर आधारित थी, इनके बिना नहीं। आचार्य जी इस बारे में श्री अरविन्द घोष के विचारों से प्रभावित थे। उन्होंने श्री अरविन्द की एक पुस्तिका का बंगला से हिन्दी भाषा में अनुवाद 'जातीयता' शीर्षक से प्रकाशित किया था। जातीयता बंगला में राष्ट्रीयता के अर्थ में है। वैसे तो मनुष्य मात्र सब दूर एक हैं किन्तु उसकी अभिव्यक्ति विभिन्न देश-काल में भिन्न-भिन्न प्रकार से होती है। यह राष्ट्रीय भिन्नता, भिन्न-भिन्न भाषा, संस्कृति, आचार-विचार, विश्वास आदि मनुष्य की विरासत हैं। जैसे इस राष्ट्रीय मिजाज के मुताबिक व्यक्ति जीवन और जगत के प्रति अपनी दृष्टि बनाता है। किन्तु आचार्य जी की राष्ट्रीयता वर्जनशील नहीं। वह जहाँ राष्ट्रीय जन-जागृति पर बल देते हैं वहाँ 'मानव अखण्डता' का बार-बार आग्रह करते हैं। जैसे उनमें राष्ट्रीय स्वाधीनता और मानव अखण्डता का अद्वय है।

राष्ट्रीयता का एक और स्रोत विचारणीय है। उन्नीसवीं सदी में जर्मनी में फ्रैडरिक लिस्ट ने ब्रिटेन के क्लासिकी अर्थशास्त्र की आलोचना की। उनकी प्रणाली की विशिष्टता है: राष्ट्रीयता। लिस्ट का मत है कि आर्थिक नीतियाँ ही नहीं, आर्थिक सिद्धान्त भी राष्ट्रीय विकास के स्तर के अनुरूप होते हैं। इंग्लैण्ड का क्लासिकी अर्थशास्त्र सार्वभौम नहीं। इंग्लैण्ड की परिस्थितियों की उपज है। मुक्त व्यापार की नीति इंग्लैण्ड के हित में है क्योंकि उसे बेचने के लिए तैयार माल है और बाजार के विस्तार की अपेक्षा है। किन्तु फ्रेडरिक लिस्ट के अनुसार जर्मनी और संयुक्त राज्य अमरीका के लिए तो संरक्षण की नीति ही उपयुक्त है क्योंकि उनके उद्योग अभी शैशव अवस्था में हैं। इस नीति-निरूपण से बढ़कर आर्थिक सिद्धान्त के लिए भी लिस्ट का मत है कि वह भी राष्ट्रीय विकास से निरपेक्ष नहीं उनके अनुरूप होते हैं। लिस्ट की इस विचारधारा का भारत के राष्ट्रीय आर्थिक चिन्तन पर प्रभाव है। जस्टिस रानाडे ने

क्लासिकी अर्थशास्त्र की जो आलोचना 'एसेज आन इंडियन इकानामिक्स' में की है उस पर लिस्ट का प्रभाव है। पता नहीं, आचार्य जी पर लिस्ट का कोई प्रत्यक्ष प्रभाव है या नहीं। अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव हो सकता है। सो विचारणीय है। किन्तु श्री अरबिन्द घोष की 'जातीयता' का सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का प्रभाव तो प्रत्यक्ष है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

इसका अभिप्राय यह नहीं कि नरेन्द्रदेव जी की राष्ट्रीयता बाह्य प्रभावों का परिपाक मात्र है। मूलरूप से तो उनके बचपन के संस्कार हैं। उनके पिताजी धार्मिक प्रवृत्ति के थे। उनके घर अकसर साधु सन्यासी और उपदेशक आया करते थे। स्वामी रामतीर्थ उनके घर अतिथि रह चुके थे। महामना मालवीय जी के भाषण का भी उन पर प्रभाव पड़ा था। कांग्रेस के गरम दल, जिसके नेता लोकमान्य तिलक, श्री विपिनचन्द्र पाल आदि थे, की राजनीति से वे धीरे-धीरे प्रभावित हुए। कांग्रेस में जाने लगे। फिर तो महात्मा गांधी के आवाहन पर उन्होंने वकालत छोड़ी, राष्ट्रीय आन्दोलन में कूदे। जेल गये। काशी विद्यापीठ के अध्यापक, आचार्य, कुलपति के रूप में विद्या-आचरण सम्पन्न कार्यकर्ता राष्ट्रीय आन्दोलन को दिये। ज्ञान-पूर्ण कष्ट सहन का प्रभाव किसी भी बाह्य प्रभाव से ज्यादा ही होता है।

आचार्य जी ने भारत की जातीयता के विकास में श्रमण ब्राह्मण दोनों ही धाराओं का उल्लेख किया है। प्रायः राष्ट्रीय संस्कृति की ब्राह्मण धारा का, वैदिक पौराणिक धारा का ही ध्यान रहता है। आचार्य जी का मत है कि भारतीय संस्कृति का विकास मूलरूप से ब्राह्मण और श्रमण संस्कृतियों के संघर्ष से हुआ है। समन्वय पर जो बहुत जोर दिया जाता है वह जरूरी है, मगर काफी नहीं। संस्कृतियों का विकास द्वन्द्व से, संघर्ष से भी होता है। पहले श्रमण-ब्राह्मण का आन्तरिक द्वन्द्व, फिर बाह्य जातियों की चुनौती भारतीय समाज और संस्कृति के लिए रही है। इस आन्तरिक-बाह्य संघर्ष में दोनों पक्षों ने एक दूसरे को प्रभावित किया और विकसित किया। प्रारम्भ में तो ब्राह्मण धारा जो व्यवस्था की धारा है—वेद, प्रामाण्य, ईश्वरवाद, वर्ण-व्यवस्था, पुरोहितवाद, यज्ञ-याग, कर्मकाण्ड, सन्तति और सम्पत्ति की जो सत्ता व्यवस्था है उससे काट कर, तपस कर ज्ञानपूर्ण कष्ट सहन कर जो विद्रोह और असहमति और अस्वीकार की श्रमण धारा चली इनका आपस में जबर्दस्त विरोध रहा है। पतंजलि के महाभाष्य में उल्लेख है कि श्रमण ब्राह्मण वैसे परस्पर विरुद्ध हैं 'जैसे अहि-नकुलम्' सांप और नेवला इत्यादि। कालक्रम में श्रमण-ब्राह्मण दोनों ने एक दूसरे से लिया-दिया। फ़िर भी वह द्वन्द्व अन्दर-अन्दर है। उसकी स्मृति, संस्कार और राग-द्वेष है। जो हो, आचार्य जी के लिए राष्ट्रीय संस्कृति कोई जड़, स्थिर, नित्य नहीं। परिवर्तनशील है। और जातियों, संस्कृतियों के संघर्ष से, सवाल-जबाव से इनका विकास होता है, अन्यथा नहीं।

खेद है कि इस दृष्टि का कुछ संकेत ही, सूत्ररूप में, आचार्य जी के लेखों और भाषणों में मिलता है। उन्होंने कभी इसकी विस्तार से व्याख्या नहीं की। सम्भवतः उन्हें कुछ काम करना था, झगड़ा नहीं। जो हो इन सूत्रों को लेकर भारतीय समाज संस्कृति की नयी व्याख्या की जा सकती है। इसमें मौलिकता का श्रेय आचार्य जी का है, किसी अन्य का नहीं।

× × × ×

अब समाजवाद को देन के बारे में। इस सम्बन्ध में आचार्य जी की देन को सामान्य और विशेष दो प्रकार से देख सकते हैं। विशेष देन की चर्चा का यहाँ समय नहीं है। जैसे किसानों का सवाल, समाजवाद और जनतन्त्र का अन्योन्य सम्बन्ध, समाजवाद सिर्फ रोजी-रोटी की लड़ाई नहीं, एक सांस्कृतिक आन्दोलन है, समाजवादी आचार के प्रश्न आदि पर आचार्य जी की देन पर बहुत कुछ कहा जा सकता है। मेरी उतनी सामर्थ्य नहीं। शायद उसका पूरा अवसर भी नहीं। सामान्य रूप से, आचार्य जी की भारत में समाजवाद को देन यह लगती है कि उन्होंने समाजवाद के सिद्धान्त और अमल का भारतीय संस्कृति के साथ सामंजस्य स्थापित किया। आचार्य जी के सहयोगी सर्वश्री जयप्रकाश नारायण, राममनोहर लोहिया, अच्युत पटवर्धन, युसुफ मेहरअली आदि ने पश्चिमी समाजवादी आलोचना का गहन-गम्भीर अध्ययन-अनुशीलन किया था। वे राष्ट्रीय आन्दोलन में भी शरीक थे। भारत की जातीय संस्कृति के प्रति अन्य समाजवादियों में आकर्षण भी था। किन्तु यह आकर्षण भावात्मक और मौलिक था। वे भारतीय संस्कृति के पद से परिचित थे, पदार्थ से नहीं, या कम ही। भारतीय संस्कृति की पदार्थ-मीमांसा तो उनके लिए आचार्य जी ही कर सकते थे। क्योंकि आचार्य जी का भारतीय इतिहास और संस्कृति का परिचय मात्र मौखिक नहीं था। उन्होंने इसका विधिवत् अध्ययन किया था। बनारस के संस्कृत कालेज से संस्कृत, पालि प्राकृत में सन् १९१३ में एम० ए० किया था। उनका इरादा प्राचीन भारतीय इतिहास में गवेषणा का था। दूसरी ओर नरेन्द्रदेवजी तत्कालीन यूरोपीय विचारधाराओं के उद्भव और विकास से भी परिचित थे। जयप्रकाशजी अमेरिका से समाजशास्त्र पढ़कर लौटे थे। उन्होंने अमेरिका में रहते हुए मार्क्सवाद का गहन अध्ययन किया था। उसका उन पर जबर्दस्त प्रभाव था। हिन्दुस्तान लौटने पर उनकी इच्छा कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना की हुई। इस सिलसिले में वे काशी विद्यापीठ में आचार्यजी से मिले। उन्हें यह देखकर बड़ा सुखद आश्चर्य हुआ कि बनारस जैसी परम्परागत जगह में आचार्यजी जैसा विद्वान न सिर्फ मार्क्सवाद के सिद्धान्तों से, बल्कि उसकी रणनीति आदि के सूक्ष्म अद्यतन विवादों से भी परिचित है। प्राचीन भारतीय संस्कृति और आधुनिक पाश्चात्य समाजवाद इन दोनों ही शिखरों में से एक को भी ढहाये बिना, उनमें सामजस्य स्थापित करने की अद्भुत क्षमता आचार्य जी में ही थी। सम्भवतः इस कारण भी जयप्रकाश जी ने आचार्य जी से कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के स्थापना सम्मेलन का सभापतित्व करने का आग्रह किया। पहले तो आचार्य जी ने इनकार किया। किन्तु बाद में स्नेहवश स्वीकार किया। आचार्यजी के इर्द-गिर्द समाजवादी कार्यकर्त्ताओं का एक कुटुम्ब बन गया। आचार्यजी के जीवन के अन्तिम दिनों में जब यह कुटुम्ब बिखरने लगा तो इसका उन्हें बड़ा सन्ताप था। यह विघटन जो १९५५-५६ में प्रारम्भ हुआ तो रुका नहीं। पिछले पच्चीस वर्षों में यह कुटुम्ब छिन्न-भिन्न हो गया है। किन्तु आचार्यजी में वह केन्द्र था जिस पर व्यक्तिगत राग-द्वेष के बावजूद समाजवादी आन्दोलन की एकता टिकी थी। जब वह केन्द्र टूट गया तो आन्दोलन भी।

आचार्य जी समाजवाद की मार्क्सवादी शाखा में मानने वाले थे। वे मृत्यु-पर्यन्त अपने को मार्क्सवादी कहते थे। किन्तु इसकी स्वतंत्र व्याख्या का अपना अधिकार मानते थे। बहुत करके मनुष्य विकल्पों में से चुनाव करता है। व्यवस्था मात्र सदोष है। सर्वथा निर्दोष तो निर्विकल्प है। परमार्थ है। लोक गतानुगतिक होता है। परमार्थ पूजक नहीं। शायद आचार्य

जी के लिए मार्क्सवाद सभी उपलब्ध विकल्पों में ज्यादा उपयुक्त दीखता है। प्रारम्भ से ही श्री अच्युत पटवर्धन और डाक्टर राम मनोहर लोहिया को यह अनुपयुक्त दीखता था। दृष्टि तो अपनी-अपनी पसंद-नापसंद है। अच्युत जी, लोहिया जी को मार्क्सवाद पसंद नहीं, आचार्य जी को है। तो है।

आचार्य जी में इतिहास की जबर्दस्त समझ है। ऐतिहासिक दृष्टि से, यूरोप में फ्रांस की राज्य क्रांति ने स्वतन्त्रता, बन्धुत्व और समता के युग का सूत्रपात किया। किन्तु पूंजीवादी व्यवस्था में सिर्फ भूखों मरने की स्वतन्त्रता भर है। पूंजीवाद के गति के नियमों का विश्लेषण कर मार्क्स ने यह निष्कर्ष निकाला कि उसका पतन अपरिहार्य है, समाजवाद का अभ्युदय भी। मार्क्स की मृत्यु के १०० वर्ष बाद जो समाजवाद-साम्यवाद के व्यवहार का अनुभव यूरोप का है और शेष विश्व का है उसकी भी परीक्षा कर कोई विचारक इसके गत्यवरोध को दूर करे। क्रांति लाए। यह कम से कम आचार्य जी की कल्पना में मार्क्सवाद का ही प्रयोग होगा, निषेध नहीं। मार्क्सवाद कोई आखिरी चीज नहीं। यह तो सत्य के अन्वेषण की उन्नीसवीं सदी के यूरोप की एक बड़ी देन है। किन्तु काल चक्र उन्नीसवीं सदी के पूंजीवाद-समाजवाद में ही थम तो नहीं गया है। काल अश्व चलता जाता है। और अगर वह मार्क्स की भविष्यवाणी को रौंदता जाता है तो उसको भी देखने का खुलापन होना चाहिए। जो मार्क्स में तो शायद हो सकता है, मार्क्सवादी में नहीं। मार्क्सवादी तो मार्क्स की कोटियों का कैदी होता है। उसके लेखे मार्क्स कहीं भी असत्य नहीं हो सकता, इतिहास हो सकता है। या अभी संक्रमण काल है। अन्ततः मार्क्सवाद ही सत्य सिद्ध होना। यह 'वाद' की सीमा है। मार्क्सवाद भी इसका अपवाद नहीं।

जो कुछ हो, यहाँ मार्क्सवाद की आलोचना विषय नहीं। यह एक स्वतन्त्र विषय है।
यहाँ तो आचार्य जी की मार्क्सवादी आलोचना की जो देन है सो ही विचारणीय है। इस
बावत आचार्य जी की अपनी बनावट भी महत्व की है। उन्हीं के शब्दों में : मेरी बनावट
कुछ ऐसी हुई है कि मैं न नेता हो सकता हूँ और न अन्धभक्त अनुयायी। यह स्थिति मार्क्सवाद
की उनकी व्याख्या के बारे में है। उनमें यह महत्वाकांक्षा नहीं है कि वे किसी वाद के
प्रवर्तक माने जाएँ। किन्तु वे मार्क्सवाद या किसी अन्य वाद के अन्धभक्त भी नही। जैसा
भारतीय संस्कृति की चाल है कि प्रायः हर बड़ा आचार्य प्रस्थान त्रयी-उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र
और गीता का अपना भाष्य करता है। भाष्य प्रस्तुत करते हुए ही यह अपना प्रस्थान प्रस्तुत
कर देता है, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, इत्यादि। पाश्चात्य प्रकार इससे भिन्न है। यह
परम्परा को तोड़कर नये प्रकार का उद्भावन करने का दावा करता है। जैसा जॉन मैनार्ड
कैंस ने अपनी पूर्ववर्ती परम्परा, जिसमें उनके गुरु अल्फ्रेड मार्शल भी शामिल हैं, के साथ किया
और एक नया अर्थशास्त्र प्रस्तुत करने का प्रयास किया। अब वह कितना नया है कितना
नहीं यह परख का काम है। भारतीय तरीका ऐसा है जिसमें परम्परा का मान भी बना रहता
है और नयी-नयी उपलब्धियों के आलोक में नयी व्याख्या भी हो जाती है, हालाँ कि इसकी
अपनी सीमा और कैद भी है। किन्तु जैसे यह हमारी शिष्टई है। जो हो, आचार्य जी कभी-
कभी तो एक अध्यापक की तरह मार्क्सवाद को जस का तस धर देते हैं। जैसे, समाजवाद
लक्ष्य तथा साधन में। वह भी प्रारम्भिक शिक्षा के लिए आवश्यक है। जीवन सिर्फ तर्क से

नहीं चलता। उसके लिए कहीं न कहीं विश्वास की जरूरत है। प्राचीन धर्म सम्प्रदाय नयी आवश्यकताओं को नहीं पूरा सकते। मार्क्सवाद में नये जीवन-दर्शन बनने की सामर्थ्य आचार्य जी ने देखी। आस्था का व्यावहारिक आधार उसमें है, ऐसा उनका मानना है। इसलिए उसका ज्ञान जरूरी है। किन्तु जब वे मार्क्सवाद पर दिये गये आक्षेपों का उत्तर देते हैं तो मार्क्स के सूत्रों से संगत भाष्य करते हैं और इस प्रकार भाष्य करते हुए जैसे वह अपना नया प्रस्थान प्रस्तुत कर देते हैं।

जेसे, 'मार्क्स और नियतिवाद' (राष्ट्रीयता और समाजवाद, पुनर्मुद्रित, संवत् २०३०, पृष्ठ ३०५-९) शीर्षक निबन्ध में। मार्क्सवाद पर जो आर्थिक नियतिवाद का आरोप लगाया जाता है उसका आचार्य जी खण्डन करते हैं। उनके अनुसार मार्क्स की व्याख्या मात्र आर्थिक नहीं। नियतिवाद के प्रश्न को वह मूलरूप से जीवस्वातन्त्र्य के प्रश्न के साथ जोड़ कर देखते हैं। प्रश्न है, क्या मनुष्य स्वतन्त्रकर्ता है अथवा वह अवश होकर कार्य करता है ?

आचार्य जी पूर्व पक्ष का विवेचन कर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सत्ता-व्यवस्था या मानव की इच्छा इन दो में से किसी एक श्रृंग को ध्वस्त करके असामंजस्य से भागना अनुचित होगा। वास्तविक जीवन में मनुष्य और उसकी परिस्थिति के बीच क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है। परिस्थिति को सर्वशक्तिमत्व मानने का अर्थ मनुष्य का निषेध करना है। मानवीय इच्छा की निर्विकल्प स्वतंत्रता स्वीकार करना परिस्थिति का प्रायः निषेध करने जैसा है। युक्तियुक्त बात यह है कि दोनों में अन्योन्य सम्बन्ध है। दृष्टांत है : वृक्ष अपनी वृद्धि में स्वतंत्र है किन्तु इस शर्त के साथ कि उसकी परिस्थितियां वृद्धि के अनुकूल हैं। फिर यह उसी तरह और उतना ही बढ़ सकता है जितना उसकी प्रकृति के लिए संभव है। पेड़ में पंख नहीं लग सकते। इसकी स्वतन्त्रता उसको नहीं है।

इस प्रकार निष्कर्ष यह है कि मार्क्सवाद नियतिवाद नहीं है। किन्तु मार्क्सवाद नियतिवाद के महत्वपूर्ण और यथार्थ अंश का ग्रहण भी करता है। संक्षेप में, इतिहास का जो वाद मार्क्स एंगेल्स का है वह एक आकार में नियतिवादी है, किन्तु केवल इस शर्त पर कि वह साथ ही साथ अनियतिवादी भी है········।'

स्पष्ट ही यह एक नयी भूमि है और पुरानी भी। जो संभवतः मूलरूप में मार्क्स को भी प्राप्त नहीं है। यह गंभीर धरातल आचार्य जी को ५,००० वर्ष की संस्कृति से प्राप्त है। उनके बाल्यकाल पर गीता, रामायण, वेदान्त, साधु-संतों के समागम का गहरा संस्कार है। उन्होंने प्राचीन क्लासिकल भाषाओं, संस्कृत, पालि, प्राकृत का विधिवत अध्ययन किया। बौद्ध धर्मदर्शन का प्रणयन किया। इन धाराओं के उनके अध्ययन से समाजवादी को और कुछ समझ में आये, न आये इतना तो पता चलता है कि सत्य सतही और हाल-हाल का नहीं है। इसकी गंभीरता का और गुह्यता का बोध होता है। प्रथम दृष्टया तो बौद्ध धर्मदर्शन इसलिए भी द्रष्टव्य है। किसी आचार्य का ग्रन्थ सिर्फ इसलिए नहीं पढ़ा जाता कि वह कितना समझ में आता है। बल्कि इसलिए भी कि वह कितना समझ में नहीं आता। अपने अज्ञान का पता लगता है। जो और ज्ञान के लिए उकसाता है।

फिर, इससे यह भी पता चलता है कि जब प्राचीन परम्परा नवीन रूप, रूपाकार ग्रहण करती है तो वह कुछ और बात होती है। सिर्फ जीन्स पहनकर और दाढ़ी-बाल बढ़ाकर नये-नये पोज़ मारने से या फिकरेबाजी से कोई आधुनिक नहीं बनता।

आचार्य जी ने बौद्ध धर्म दर्शन की गहन गंभीर समीक्षा की है। यह उनके जीवन का अंतिम बड़ा काम है। इसे पूरा कर ही इरोड में उनका शरीर शांत हुआ। शायद इस प्रकार और अन्य प्रकारों से भी आचार्य जी ने श्रमण धारा को, विशेषकर बौद्ध धारा को, उपेक्षा से बचाया। बौद्ध विद्या, प्रतीक, तीर्थ वगैरह के पुनरुद्धार में उनका जो योगदान है उनके प्रति वह भी शायद सजग न हों। आचार्य जी की बौद्ध धर्म दर्शन की समालोचना से उनके समकालीन राजनीतिज्ञ, विशेषकर पं० जवाहर लाल नेहरू प्रभावित हुए। वे स्वाधीन भारत के प्रथम प्रधान मंत्री बने। उनके काल में, राजचिह्न. राष्ट्रीय ध्वज आदि पर धर्मचक्र, सिंह आया। बुद्धाब्द २५०० में लुंबिनी, बोध गया, सारनाथ, कुशीनगर के बौद्ध तीर्थों का भी जीर्णोद्वार हुआ। आम तौर पर, बौद्ध विद्या का यत्किञ्चित पुनरुद्धार भी इस काल में शुरू हुआ। भारत के श्रेष्ठ जनों में गोष्ठियों में, बुद्धिजीवियों में इस पर चर्चा हुई। इसमें अनागरिक धम्मपाल और उनकी महाबोधि सोसाइटी की बड़ी देन है। साहित्य के क्षेत्र में इस काम को महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन ने और दलित समाज में डाक्टर भीमराव अम्बेडकर ने बढ़ाया। इतिहास के दुर्विपाक से तिब्बत के चीन द्वारा हड़प लिये जाने के बाद परमपावन दलाई लामा और उनके प्रायः ६० हजार अनुयायी तिब्बतियों के भारत में प्रवास के बाद बौद्ध दर्शन और विशेषकर तन्त्र के प्रति सारी दुनिया का ध्यान आकृष्ट हुआ। इसको प्रारम्भ में उत्स प्रदान करने में और अध्ययन से परिपूरित करने में और राजकारण में मान्यता दिलाने में आचार्य नरेन्द्रदेव का जो योगदान है वह कुछ कम नहीं। इस प्रकार राष्ट्रीय संस्कृति की इस श्रमण धारा को, और आम तौर पर भारतीय संस्कृति की मशाल को, जिसे ऋषियों मुनियों ने जलाया, बुद्ध, महावीर ने पाखण्ड की राख हटाकर जिसे फिर प्रदीप्त किया, सिद्धों, नाथों, सन्तों भक्तों ने जिसे अपना नेह दिया, महात्मा गांधी ने जिसे आधुनिक विश्व में ऊँचा उठाया, उसका मान आचार्य जी ने अपने अध्ययन-अनुसंधान और जीवन से हमें कराया। इस पर हमें उचित गर्व और गौरव है।

फिर भी आचार्य जी को अतीत का मोह नहीं ग्रसता। उनका निश्चित मत है कि 'वर्तमान जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति प्राचीन धर्म-सम्प्रदायों से नहीं हो सकती।' इसके लिए तो हमें नये जोवन दर्शन और नये प्रयत्न को आवश्यकता है। अपने अध्ययन-मनन और जीवन से आचार्य जी ने इस नये जीवन-दर्शन और प्रयत्न को निरूपित करने का और उसे परिपूरित करने का जो उदाहरण रखा उसका स्मरण हो। वंदन हो। और असल में तो प्रज्ञा-उपाय हो। इसमें ही आचार्य नरेन्द्रदेव की स्मृति की सार्थकता है, अन्यथा नहीं।

✲

समाजवादी अध्ययन केन्द्र और आचार्य नरेन्द्रदेव जयन्ती समिति के संयुक्त तत्वावधान में मालवीय भवन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, में ३ नवम्बर, १९८२ को आयोजित परिचर्चा में दिये गये वक्तव्य के आधार पर।

फ़िराक़ के काव्य को भारतीय आत्मा

डॉ० रमाकान्त अस्थाना*

साहित्य को समाज का प्रतिबिम्ब कहा गया है जिसमें समाज के रीति-रिवाज, परम्पराओं और मानव मूल्यों का सही रूप देखा जा सकता है। साहित्यकार का अवचेतन मन समाज की निरन्तर चली आ रही उन अनुभूतियों से जुड़ा रहता है जो उसकी संस्कृति का आधार बनाते हैं। जो साहित्य इस संस्कृति के जितना ही निकट होता है वह जन-मन को उतना ही अधिक आह्लादित करता है। एक सामाजिक प्राणी होने के नाते कवि अपने काव्य में उन चित्रों को उतारने, उभारने का प्रयास करता है जो अपनी परम्परागत मान्यता के कारण समाज की धरोहर बन जाते हैं।

फिराक साहब जहाँ एक ओर अपनी वाक-विदग्धता, अनूठी और अछूती उपमा तथा रचना की नयी शिल्पविधाओं के लिए स्मरणीय रहेंगे, वही काव्य को आत्मा के रूप में अपने जीवन-दर्शन के पूर्णतः भारतीय पक्ष द्वारा जनमानस को बहुत निकट से स्पर्श करते रहेंगे।

अपनी कविता में उन्होंने उर्दू साहित्य में प्रायः समान रूप से प्रयुक्त होती आ रही उपमाओं और प्रतीकों (शमा, परवाना, गुल, बुलबुल, साकी, जाम) की परिधि से बाहर जा कर उन उपमाओं और बिम्बों को खोजा जो उनके जीवन दर्शन को सही ढंग से साकार करने में समर्थ थे।

रूप पर कही हुई रुबाइयों में, जिसकी कला बहुत जटिल होती है, उन्होंने यह सिद्ध कर दिया है कि अपनी कल्पना और विचार प्रक्रिया में पूर्ण स्वतन्त्र होते हुए भी कवि जाने अनजाने अपने देश की संस्कृति से जुड़ा रहता है। उनकी कविता के विवेचन से यह स्पष्ट है कि उनकी कल्पना की ऊँची से ऊँची उड़ान की प्रेरक शक्ति वे सत्य या स्वप्न हैं जिसमें हम सबका समान रूप से भाग है।

रूप के निखार और उसके संगीत का वर्णन करने के लिए उन्हें सरस्वती का रूप उपयुक्त जान पड़ता है जो अपनी वीणा के तारों से हृदय को झंकृत करती है :

> है रूप में वो खटक, वो रस, वो झंकार
> कलियों के चटकते वक्त जैसे गुलजार
> या नूर की उँगलियों से देवी कोई
> जैसे शबे-माह में बजाती हो सितार

अपने देश को समृद्ध संगीत परम्परा के अन्तर्गत समय के विभिन्न भागों में गायी जाने वाली रागिनियों और उनके प्रभाव से वे पूर्ण परिचित हैं और नवप्रस्फुटित सौन्दर्य का चित्र वे इस प्रकार खींचते हैं :

* अंग्रेजी विभाग, प्रौद्योगिक संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

महताव में सुर्ख अनार जैसे छूटे
या कौसे-क़ुजह लचक के जैसे टूटे
वो कद है कि भैरवी सुनाए जब सुब्ह
गुलजारे-शफ़क़ से नर्म कोंपल फूटे

समुद्र मंथन से निकले हुए 'अमृत' के आकर्षण के प्रति वे सतत जागरूक हैं और अपनी रुबाइयों में प्रायः उसका उल्लेख करते हैं। नायिका की आवाज की मिठास ऐसी है कि अमृत भी उसे प्राप्त करने को लालायित है :

वो रस आवाज में कि अमृत ललचाय

यदि बिहारी की नायिका लोगों को तिथि का पता लगाने के लिए पत्रा पर निर्भर रहने को विवश करती है क्योंकि उसका मुख-मण्डल पूर्णिमा का चन्द्रमा है तो फ़िराक़ की नायिका उससे भी आगे है। उसका मुखड़ा मधुमास का चन्द्रमा है जिससे निरन्तर अमृत बरसता है :

उठी मौजे-तबस्सुम आबे-ज़र से
वो होंठ कि चूसने को सागर तरसे
मुखड़ा है कि जिन्दगी का छलका हुआ जाम
मधुमास के चन्द्रमा से अमृत बरसे

कामदेव और रति जो भारतीय साहित्य में न केवल पुरुष और नारी सौन्दर्य के प्रतीक हैं वरन् सृष्टि के आधार भी हैं उनकी कविता में अत्यन्त स्वाभाविक सन्दर्भों में उतरते हैं। आँखों का मद कामदेव को भी तृप्त कर सकता है :

होंठों में वो रस कि जिस पे भँवरा मँडलाये
साँसों की वो सेज जिस पे खुशबू सो जाये
चेहरे की दमक पे जैसे शबनम की रिदा
मद आँखों का कामदेव को भी जो छकाये

उनकी नायिका के रूप-वैभव के आगे रति को भी सर झुकाना पड़ता है :

ये रूप मदन के भी खता हों औसान
ये सज जो तोड़ दे रती का अभिमान
फीकी पड़ती है धूप ये जोबन जोत
ये रंग कि आँख खोल दे जीवन गान

नायिका के हर डग का अन्दाज़ कुछ ऐसा है कि कवि को अर्जुन के बाणों की स्मृति हो आती है :

हंगामे-खराम वो ग़िज़ाले-बदमस्त
नक़्शे-क़फ़े-पा की शोखियाँ शोला-बदस्त
दो पाँव से चौकड़ी भरे हर डग में
अर्जुन की कमाँ से छूटे नावक की है ज़स्त

फ़िराक़ के अनुसार मानव सभ्यता के समक्ष एक शाश्वत समस्या प्रकृति से एकात्म स्थापित कर शान्ति, सन्तुलन और आत्म विश्वास प्राप्त करने की है। उन्होंने कहा है कि हिन्दू संस्कृति ने उन्हें इस अनुभूति और उससे जनित आत्म-तोष प्राप्त करने का रहस्य समझाया (फ़िराक़, "द मेकिंग ऑव ए पोएट", द इलस्ट्रेटेड वीकली ऑव इण्डिया, मई १९७२)। इस देश के प्राकृतिक सौन्दर्य ने उन्हें अभिभूत किया। यहाँ के वृक्ष, नदी, पर्वत और इस मिट्टी की सोंधी गन्ध ने उन्हें कहीं बहुत भीतर से छू लिया :

ये रात छनती हवाओं की सोंधी सोंधी महक
ये खेत करती हुई चाँदनी की नर्म दमक
सुगन्ध रात की रानी की जब मचलती है
फ़ज़ा में रूहे-तरब करवटें बदलती है
ये रूप, सर से कदम तक हसीन जैसे गुनाह
ये आरिजों की दमक, ये फुसूने-चश्मे-सियाह
ये धज न दे जो अजन्ता की सनअतों को पनाह
ये लोच पड़ ही गयो देवलोक की भी निगाह
ये सरजमीन है आकाश की परस्तिशगाह ('परछाइयाँ' से)

जिस धरती से देवलोक भी ईर्ष्या करता है उसके महिमामय स्वर्णिम अतीत के लिए कवि की ललक स्वाभाविक है :

इसी जमीन पर खेला है राम का बचपन
इसी जमीन पे उन नन्हें नन्हें हाथों ने
किसी समय में धनुष-वाण को सँभाला था
इसी दयार ने देखी है कृष्ण की लीला
यहीं घिरौंदों में सीता, सुलोचना, राधा
किसी जमाने में गुड़ियों से खेलता होंगी ('हिंडोला' से)

इस देश की प्रकृति के वरदानों में से एक बौर आये हुए आम्र-वृक्षों का कुञ्ज है जिस पर न जाने कितने कवि हृदय रीझे हैं। एक ऐसे ही मदहोश बनाने वाले बौर आये हुए आमों के बीच कवि हमें ले जाता है :

ये चैत की चाँदनी में आना तेरा
अंग अंग है निखरा हुआ लहराया हुआ
रस और सुगन्ध से जवानी बोझल
एक बाग है बौर आए हुए आमों का

कवि ने उल्लास भरे सावन की रिमझिम को नायिका के रूप पर इस प्रकार उतारा है :

कोमल पद गामिनी की आहट तो सुनो
गाते कदमों की गुनगुनाहट तो सुनो

सावन का लहरा है मद में डूबा हुआ रूप
रस की बूंदों की झमझमाहट तो सुनो

लगता है हम अचानक सावन के लहरे में पड़ गये हों जिसकी हर रस भरी बूंद मन को सिक्त कर रही हो।

फ़िराक़ के कवि जीवन का अधिकांश भाग तीर्थराज प्रयाग में बीता। फलतः गंगा, यमुना और सरस्वती उनकी कविता में विभिन्न सन्दर्भों में कहीं उपमा, कहीं प्रतीक के रूप में अनजाने ही चली आती हैं मानों वे उनके कवि-मानस का एक भाग बन गयी हों। नायिका के रूप में वे तीनों का संगम देखते हैं :

गंगा वो बदन, कि जिसमें सूरज भी नहाय
जमुना वालों की, तान बंसी की उड़ाय
संगम वो कमर, आँख ओझल लहराये
तहे-आब सरस्वती की धारा बलखाय

उसके मुख पर बलखाते हुए केश एक दृश्य-चित्र उपस्थित करते हैं जिसकी उपयुक्तता वे ही समझ सकते हैं जो शीत-ऋतु में प्रभात का प्रकाश फैलने के पहले ही संगम पर गये हों :

जाड़ों में मुंहअँधेरे संगम का समाँ
जलवे गंगो-जमन के कुहरे में निहाँ
मुखड़े पे झुटपुटे में तारों की ओ छाँव
वो गेसुए-खम बखम की खुशबू का धुवाँ

फ़िराक़ के मन पर कृष्ण और राधा की प्रेमलीला, कान्हा की गोकुल में छेड़-छाड़ और उसके बाद गोपियों की विरह-वेदना का बड़ा गहरा प्रभाव था। सौन्दर्य का उल्लास यदि रासलीला है तो उसकी व्यथा गोपियों का विरह है :

मधुबन के वसन्त सा सजीला है वो रूप
वर्षा ऋतु की तरह रसीला है वो रूप
राधा की झपक, कृष्ण की बरजोरी है
गोकुल नगरी की रासलीला है वो रूप

× × ×

करुणा रस की सुरीली कविता है बदन
उठते हुए दर्द का तराना है बदन
राधा के आँसुओं के हिलते हुए तार
कुल गोपियों के विरह की पीड़ा है बदन

सौन्दर्य के एक ऐसे रूप की कल्पना उन्होंने की है जिसमें कैकेयी, सीता, राधा और कृष्ण सभी समाहित हैं :

रश्के-दिले-केकई का फ़ितना है बदन
सीता के बिरह का कोई शोला है बदन
राधा की निगाह का छलावा है कोई
या कृष्ण की बांसरी का लहरा है बदन

महाकाव्यों के जाने हुए पात्रों के आरोप से उन्होंने यहाँ जिस गरिमामय सौन्दर्य को उभारा है उसकी सृष्टि साधारण उपादानों द्वारा संभव नहीं है।

सौन्दर्य के आविर्भाव में कभी-कभी उन्हें गंगावतरण का दृश्य दिखायी देता है :

जब प्रेम की घाटियों में सागर उछले
जब रात की वादियों में तारे छिटकें
नहलाती फ़िज़ा को आयी रस की पुतली
जैसे शिव की जटा से गंगा उतरे

कन्या को नारी और जगतमाता के रूप में देखने का उनका दृष्टिकोण पूर्णतः भारतीय है जो उसे समाज में वह स्थान देता है जिसके बिना प्रगति संभव नहीं है :

है ब्याहता पर रूप अभी कुँआरा है
माँ है, पर अदा जो भी है दोशीजा है
वो मोदभरी, माँगभरी, गोदभरी
कन्या है, सुहागन है, जगतमाता है

भारतीय काव्य-परम्परा में वात्सल्य रस का एक विशिष्ट स्थान है। हिन्दी कवियों में फ़िराक़ सूर से विशेष प्रभावित थे शायद इसलिए कि यशोदा ने कृष्ण को जो लाड़-प्यार और मनुहार दिया उससे माँ को बचपन में ही खो देने के कारण वे वंचित रह गये थे। माँ का बच्चे से रूठने का बहाना और उसके हित में उसे दण्ड देना जैसी बाल सुलभ स्वाभाविक स्थितियों का उन्होंने मार्मिक वर्णन किया है :

किस प्यार से होती है खफा बच्चे से
कुछ त्योरी चढ़ाये हुए, मुंह फेरे हुए
इस रूठने पर प्रेम का संसार निसार
कहती है कि "जा तुझसे नहीं बोलेंगे"

× × ×

गुल हैं कि रूखे-गर्म के हैं अंगारे
बालक के नयन से टूटते हैं तारे
रहमत का फरिश्ता बन के देती है सजा
माँ ही को पुकारे और माँ ही मारे

कवि जिस समाज में पैदा होता है, पलता है और बड़ा होता है उसकी परम्परा और रीति-रिवाज उसके मन पर अमिट छाप छोड़ते हैं। फ़िराक़ के संवेदनशील हृदय ने अपने समाज की उन सामाजिक और धार्मिक परम्पराओं को बड़ी तत्परता से सँजोया जो भारतीय संस्कृति

का आवश्यक अंग बन गये हैं। कहीं दीपावली, कहीं रक्षाबन्धन, तो कहीं जीवन साथी के साथ मंडप में भाँवर लेती दुल्हन का मनोरम दृश्य उन्होंने इन्द्रधनुषी रंगों से भरा :

दीवाली की शाम घर पुते और सजे
चीनी के खिलौने जगमगाते लावे
वो रूपवती मुखड़े पे एक नर्म दमक
बच्चे के घिरौंदे में जलाती है दिये

× × ×

रक्षा बन्धन की सुब्ह, रस की पुतली
छायी है घटा गगन की हलकी-हलकी
बिजली की तरह लचक रहे हैं लच्छे
भाई के हैं बाँधती चमकती राखी

× × ×

मंडप के तले खड़ी है रस की पुतली
जीवन साथी से प्रेम की गाँठ बँधी
महके शोलों के गिर्द भाँवर के समय
मुखड़े पर नर्म छूट सी पड़ती हुई

फ़िराक की साहित्यिक दीक्षा उर्दू साहित्य की पृष्ठभूमि में हुई किन्तु उन्होंने अपनी कवि-चेतना को बहुत ही विस्तृत और उदार रखा। संस्कृत साहित्य की स्वर योजना पर वे मुग्ध थे। हिन्दी साहित्य में तुलसीदास, सूरदास, मीरा और कबीर की रचनाओं के संगीत और सम्मोहन में वे इतना बँधे कि उनका भी काव्य मुख्यतः गेय हो गया। उनका साहित्य इस बात का प्रमाण है कि कवि अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का माध्यम चाहे जो भी भाषा चुने उसका काव्य अपने देश की संस्कृति और मानव-मूल्यों से अनुप्राणित होता है। देश को पराधीनता से मुक्ति दिलाने के लिए स्वाधीनता संग्राम में कूदने वाले फ़िराक़ को अपने देश से बेहद प्यार था। उनका काव्य इसका साक्षी है कि उन्हें न केवल गिरिराज हिमालय की हिममण्डित चोटियों और देश की कल-कल करती नदियों वरन् देश के गौरवमय इतिहास पर भी गर्व था। उनके साहित्य को स्थायित्व और अमरत्व इसलिए प्राप्त होगा क्योंकि उसमें देश की आत्मा बोलती है।

बाल विवाह : एक अध्ययन

इन्द्रासन सिंह*

बाल विवाह उस विवाह को कहा जाता है जिसमें बालक बालिकाओं को बचपन में वैवाहिक बन्धन में बाँध दिया जाता है। यह विवाह वस्तुतः ऐसे समय सम्पन्न किया जाता है जबकि वर-वधू वैवाहिक मूल्यों एवं आदर्शों तथा प्रतिमानों को समझने में असमर्थ तथा वैवाहिक क्रिया-कलापों को सम्पादित करने में अनभिज्ञ रहते हैं। वैधानिक दृष्टिकोण से उस विवाह को बाल विवाह की संज्ञा से विभूषित किया जाता है जिसमें बालक एवं बालिकाओं की आयु क्रमशः अठारह एवं पन्द्रह वर्ष से कम होती है।

हिन्दू-समाज में बाल-विवाह प्राचीन काल से ही प्रचलित है, किन्तु वैदिक काल में इसका प्रचलन नहीं के बराबर था। छन्दोग्य उपनिषद् के एकाध स्थल पर दिये गये विवरण से विद्वानों ने यह अनुमान लगाया है कि सम्भवतः परवर्ती युग में अल्पवय विवाह आरम्भ हो गया था। उक्त ग्रंथ में उल्लिखित अटिकी[1] शब्द का अभिप्राय शंकर ने यौन के चिह्न न ज्ञात करने वाली कन्या से लिया है। रामायण में सीता का व्याह और महाभारत में द्रौपदी का विवाह युवती होने पर ही हुआ था।

४०० ई० पू० से ई० सन् तक क्रमशः बालिकाओं के वैवाहिक आयु की अवस्था कम होने लगी थी। धर्मशास्त्रकारों के अनुसार वैवाहिक आयु ऋतुकाल आरम्भ होने के बहुत पीछे नहीं होनी चाहिये। वैशिष्ट, बौधायन, मनु, कौटिल्य आदि आचार्यों ने यह मत प्रतिपादित किया है कि ऋतुश्राव होने के तीन वर्ष के अन्दर ही उनका वैवाहिक संस्कार हो जाना चाहिए।[2] गौतम ने तो यह विचार व्यक्त किया है कि ऋतुस्राव होने के तीन मास के अन्दर ही विवाह सम्पन्न कर देना चाहिए। बौधायन की धारणा है कि गुणवान पति को कन्या देनी चाहिए, पर उसके अभाव में अयोग्य का ही वरण करे। प्रबुद्ध धर्मशास्त्री मनु की भी यही धारणा है।[3] याज्ञवल्क्य का मन्तव्य है कि ऐसा न करने वाले माता-पिता प्रति वर्ष एक भ्रूणहत्या के भागी होते हैं।[4] गौतम का कथन है कि यदि पिता ऐसा नहीं करता तो वह स्वयं अनिंदित पुरुष से विवाह कर सकती है। यह घटित अवस्था का परिचायक है। इसका कारण यह बताया गया है कि विवाह के समय लड़की युवा होनी चाहिए, जिससे शीघ्र सन्तान उत्पन्न हो जाय। अस्तु इसकी आयु बहुत अधिक नहीं होनी चाहिए जिससे वह विवाह के पूर्व ही प्रेम और वासना की दासी बन गई हो। यद्यपि मनु ने कहा है कि उपयुक्त पति के न मिलने पर उसे अविवाहित रखना ही श्रेयस्कर है, पर इसका तात्पर्य यही है कि योग्य वर से ही विवाह करना चाहिए। मेगस्थनीज ने लिखा है कि पाण्ड्य देश में छः सात वर्ष की लड़कियों को ही अविवाहित रखते थे। परन्तु ऊपर ही हमने कौटिल्य का वर्णन देखा है

---

* शोधछात्र, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

जिससे ज्ञात होता है कि मेगस्थनीज का यह कथन असत्य है। परन्तु मेगस्थनीज उत्तर भारत में आया था, वह दक्षिणांचल के विषय में सत्य कैसे कह सकता है।[५]

ग्यारहवीं सदी का इतिहासकार अल्वरुनी का विचार है कि हिन्दू बहुत छोटी अवस्था में शादी कर देते हैं। बारह वर्ष से अधिक उम्र की भार्या से विवाह करने का विधान नहीं है।[६] राजपूतों के ऐसे विवाह का विवरण मिलता है। राय पिथोरा (पृथ्वीराज चौहान) का पहला विवाह मन्डोवर के परिहार (प्रतिहार) नाहर राय की कन्या से और द्वितीय आबू-नरेश सलख परमार की पुत्री जेत परमार की बहन इन्छानी से अल्प आयु में हुआ था।[७]

मनु ने तीस वर्ष के पुरुष के लिए बारह वर्ष की कन्या के साथ तथा चौबीस वर्ष के पुरुष को आठ वर्ष की कन्या के साथ विवाह करना अच्छा समझा है। यथा,

त्रिंशब्दर्षोद्वहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम्।
त्र्यष्टवर्षा वा धर्मे सीदति सत्वरः॥

कन्या के विवाह की वय को इतना कम बतलाने का अर्थ विदों ने भिन्न प्रकार से किया है, कुछ के अनुसार यह नियम संहिता बाल विवाह का समर्थन करता है। कम वय में विवाह सम्पन्न किये जाने पर बालिका के मस्तिष्क में अपने भावी पति का किसी भी प्रकार का चित्र अंकित नहीं होता है, परन्तु आयु अधिक होने पर मस्तिष्क में ऐसे चित्रों की रूपरेखा आ जाना स्वाभाविक है और अधिक अवस्था आने पर ये ही चित्र अधिक गहरे हो सकते हैं। तब इस अवस्था में किया जाने वाला विवाह यदि कन्या के मानसिक चित्र के अनुरूप न हो तो पारिवारिक वातावरण में तनाव आने की सम्भावना बनी रहती है। अस्तु कम वय में विवाह किए जाने पर इस दोष का परिमार्जन हो जाता है। मनोवैज्ञानिक आधार पर देखने पर भी कम अवस्था में किये जाने वाले वैवाहिक सम्बन्ध हितकर सिद्ध होते हैं।[८]

शरीर विज्ञान की दृष्टि से भी कम आयु में किया जाने वाला विवाह उचित ही जान पड़ता है। स्त्री के रज में एक प्रकार का विष होता है। वह प्रारम्भिक अवस्था में इतना तीव्र नहीं होता है परन्तु अवस्था की वृद्धि के साथ तीव्रतर होता जाता है। कुछ स्त्रियों में इस प्रकार के विष की मात्रा अधिक होती है तथा कुछ में कम। ऐसे तीव्र विष वाली स्त्री के सम्पर्क में आने वाले पुरुष के प्राण संकट में रहते हैं क्योंकि वह विष घातक होता है। वर्तमान समय में भी जिन शूद्र जातियों में विधवाओं के अनेक विवाह की प्रथा है उनमें कहीं-कहीं ऐसी स्त्रियां देखी जाती हैं जिनके पति विवाह के कुछ ही दिनों बाद मर जाते हैं फिर जो व्यक्ति पति होते हैं उन्हें थोड़े ही दिनों में अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ता है। यह स्पष्ट है कि ऐसी स्त्रियों में विष की तीव्रता के अत्यन्त अधिक होने के ही कारण पतियों की मृत्यु हो जाती है। सबमें इस प्रकार से विष तीव्रता नहीं होती तथापि अपेक्षाकृत विष की मात्रा तो सभी में होती ही है, तथा यह अवस्था के साथ बढ़ती चलती है। मनु ने इस अदृष्ट आपत्ति से पतियों की रक्षा के उद्देश्य से ही यह विधान कर दिया कि ऋतुस्राव से पूर्व ही विवाह होना चाहिए, क्योंकि कम अवस्था से जब वह उसके (कन्या) सम्पर्क में आयेगा, तब शनैः शनैः उस विष से वह अभ्यस्त हो जायेगा, इस प्रकार के अभ्यस्त हो जाने पर

उस विप का घातक प्रभाव उस पर नहीं पड़ेगा। जिस प्रकार थोड़ी-थोड़ी मात्रा में अफीम (यह विप ही है) लेने वाला धीरे-धीरे मात्रा के बढ़ते रहने पर अधिक मात्रा का सेवन निःशंक होकर कर सकता है, परन्तु उस विप से सर्वथा अनभ्यस्त व्यक्ति उसकी अल्प मात्रा में ही पंचतत्व को प्राप्त कर लेगा। विवाह में जन्मकुण्डली मिलाने की प्रथा भी इस तथ्य पर प्रकाश डालती है। कुण्डली के द्वारा शनि तथा मंगल आदि ग्रहों की स्थिति से कन्या में उस विष की मात्रा मृदु है, अथवा तीव्र, इसका परिज्ञान स्त्री के रज में इस विष की स्थिति का अनुमोदन वर्तमान समय में भी दिखता है। कुछ परीक्षण इस तरह के भी हुए हैं जिसमें रजोदर्शन के समय स्त्रियों के हाथ में गुलाब के पुष्प दे दिये गये, ये पुष्प अपेक्षाकृत कम समय में ही मुरझा गये (स्त्रियों के विषमती होने के कारण)।[९]

विवाह की आयु का इतना कम होना कोई विशेष आश्चर्य की बात नहीं थी। वेस्टरमार्क के अनुसार अन्य देश में भी विवाह की आयु कम ही थी। रोम के कानून के अनुसार पुरुष की चौदह वर्ष तथा कन्या की बारह वर्ष आयु निर्धारित की गयी थी। चर्च ने भी उसे स्वीकार किया था। यह वर्तमान समय में भी कई देशों में है। अन्य स्थान पर वेस्टरमार्क महोदय विवाह की आयु के कम होने में आर्थिक स्थिति के अच्छी न होने के कारण के रूप में रखते हैं।[१०]

व्यवहारिक दृष्टिकोण से भी कम अवस्था का विवाह उचित ही था। श्री आयंगर महोदय के अनुसार इस प्रकार के विज्ञान में रजोदर्शन के पूर्व विवाह किये जाने से चारित्रिक निर्मलता का पूर्ण आश्वासन रहता था तथा योग्य वर के साथ विवाह कर दिये जाने की परिपाटी थी।[११] नारद की सम्मत्ति है कि कन्या के ऋतुमती होने के पहले विवाह कर देना चाहिये। कन्या को अपने ऋतु प्रारम्भ होने की सूचना अपने संबंधियों को अवश्य ही देनी चाहिए। यदि इस सूचना के उपरान्त वे (संबंधी) उसका विवाह योग्य वर के साथ नहीं करते तो वे भ्रूणहत्या करने वालों के समान समझे जायेंगे। मनु ऐसी स्थिति में कन्या को स्वयं वरण का अधिकार प्रदान करते हैं।[१२]

बौद्ध विहारों में स्त्रियों के प्रवेश से अनैतिकता एवं व्यभिचार को प्रोत्साहन मिला। इस समस्या के निदान के लिये आचार्यों ने बाल-विवाह जैसे नियम का निर्माण किया और कुछ सीमा तक उन्हें सफलता भी मिली। वयस्क कन्या का विवाह करने में दहेज आदि की भी बात उठती थी तथा साथ ही साथ योग्य एवं चरित्रवान वर ढूंढ़ पाने की समस्या भी उत्पन्न होती थी। इस उद्देश्य को दृष्टि में रखकर प्रबुद्ध आचार्यों ने बाल-विवाह की प्रथा चला-कर अविभावकों एवं माता-पिता को इन समस्त समस्याओं से छुटकारा दिलाने के लिए इस प्रथा का प्रतिपादन किया तथा धार्मिक, सामाजिक आदि पहलुओं से इसे सर्वोच्च माना।

१५वीं, १६वीं एवं १७वीं शताब्दी में भी कन्या का विवाह प्रायः दस-बारह वर्ष के अन्दर सम्पन्न कर दिये जाते थे। ब्रिटिश शासन के दौरान भारत में लड़कियों की औसत वैवाहिक वय दस वर्ष थी। १९३१ ई० की जनगणना के अनुसार २७ प्रतिशत लड़कियों का विवाह भारत में १५ वर्ष से कम उम्र में सम्पन्न होता था।

कन्या के बाल-विवाह के प्रमुख कारणों के पीछे विदेशियों का आक्रमण और उनका प्रसार रहा, जो, दूसरी सदी ई० पू० से पूर्व मध्य युग तक होता रहा। इन आक्रमणों में

यूनानी, यूनानी-बस्ती, शक-पह्लव, कुषाण, हूण, अरब आदि अनेक विदेशी जातियाँ थीं, जिन्होंने यहाँ के प्रदेश को जीता, प्रशासन किया तथा यहाँ के मूल निवासियों से रक्त-सम्बन्ध स्थापित किया। अस्तु भारतीय आचार्यों ने आर्यरक्त को विशुद्ध बनाये रखने, स्त्रियों के शील की रक्षा करने तथा हिन्दू समाज में वर्ण संकरता को अवरुद्ध करने के लक्ष्य से अनेक कठोर नियम का विधान किया, जिससे उनके समाज की शुद्धता एवं पवित्रता स्थिर रह सके। बाल-विवाह इसी का परिणाम है।

जीवन-साथी का चयन पिता अथवा संरक्षकों द्वारा किये जाने पर भी बाल-विवाह को प्रोत्साहन मिलता है। विलियम जे० गुडे के अनुसार किसी भी भारतीय समाज में जहाँ कि परिवार के वरिष्ठ लड़के-लड़कियों के विवाह का निर्धारण करते हैं, विवाह कम उम्र में ही होते हैं।[१३] उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान के विधायकों के अध्ययन से ऐसा ही स्पष्ट है। शशि-शेखर झा द्वारा बिहार के तृतीय विधानसभा (१९६२) के अध्ययन में यह देखा गया है कि ३५ प्रतिशत विधायकों का दस से पन्द्रह वर्ष तथा ३ प्रतिशत का सात से आठ वर्ष की अवस्था में ही विवाह हो गया था।[१४]

उत्तर प्रदेश सप्तम विधान सभा (१९७७) अध्ययन में जे० एन० सिंह ने यह पाया कि ८ प्रतिशत विधायक पन्द्रह वर्ष से कम अवस्था में तथा ४८ प्रतिशत विधायक सोलह से बीस वर्ष की आयु में विवाहित हो चले थे। राजस्थान के चतुर्थ विधान सभा के अध्ययन में शशिलतापुरी ने भी कुछ इसी तरह का निष्कर्ष पाया है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि जब समाज के नेतृत्व वर्ग का ही इस तरह विवाह हो रहा है तो ग्रामीण अंचलों के अनपढ़ मूर्ख एवं पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति से अपरिचित व्यक्तियों में यह प्रथा किस हद तक व्यवहृत होती रही होगी, इसकी परिकल्पना नहीं की जा सकती।

बाल विवाह के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने इनके गुण-दोषों की विवेचना की है जिससे ज्ञात होता है कि इससे लाभ के स्थान पर हानियाँ अधिक हैं और इस प्रथा का बन्द होना नितान्त आवश्यक है। भारतीय संविधान बाल विवाह इस कालखण्ड के लिए एक विडम्बना के रूप में मूर्तिमान हो उठा है। वस्तुतः बाल विवाह करने वाले माता-पिता को दण्डित करने का विधान किया है। किन्तु यह सिद्धान्त की बात रही। आज भी कुछ परिवर्तनों के साथ नगर के अपेक्षाकृत ग्रामीण अंचलों में यह प्रथा व्यावहारिक रूप से परिभाषित है। वस्तुतः बाल-विवाह वर्तमान भारतीय समाज में एक भयंकर सामाजिक अपराध है जो हिन्दू समाज का उपहासात्मक चित्र प्रस्तुत करता है। जिन बच्चों को दाम्पत्य जीवन निर्वाह का ज्ञान न हो, उनसे मन्त्रोच्चारण द्वारा प्रतिज्ञा कराना, हिन्दू समाज के स्वार्थी पोंगा पण्डितों के भयंकर षडयन्त्र का प्रतीक है जो बाल-विवाह द्वारा मानव की स्वतन्त्र चेतना एवं मूल अधिकारों का दमन करते हैं।

सुश्रुत के अनुसार एक अनुभवी वैद्य को इस तथ्य का ज्ञान होना चाहिए कि पुरुष २५ वर्ष तथा स्त्री १६ वर्ष की आयु में पूर्णतः विकसित हो जाते हैं। अन्यत्र वे इस विचार की पुष्टि इस प्रकार करते हैं, जब एक पच्चीस वर्ष से कम आयु का पुरुष सोलह वर्ष से कम आयु की स्त्री के साथ सम्भोग करता है तो भ्रूण गर्भ में ही नष्ट हो जाता है और यदि वह किसी

प्रकार उत्पन्न भी हुआ तो दीर्घ जीवी नहीं हो पाता, या अल्पशक्ति होता है। अतः किसी भी पुरुष को अल्प आयु की कन्या के साथ सहवास की अनुमति नहीं देनी चाहिए।

अन्ततोगत्वा हम कह सकते हैं कि भारतीय समाज के अल्पबुद्धि नवयुवकों के लिए बाल-विवाह रंगीन शराब की भाँति आकर्षक किन्तु घातक है। भौतिकवादी जगत में पले किशोर एवं किशोरियों के अभिभावक गण अपनी तानाशाही प्रवृत्ति के कारण बाल-विवाह को प्रोत्साहन देते हैं। अधिकांश अभिभावक यद्यपि अपनी संतति के सुख के ही लिए अल्पवय में विवाह करते हैं, किन्तु इसका परिणाम घातक सिद्ध होता है। अल्पवय में विवाहित होने पर व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक प्रगति रुक जाती है। साथ ही अल्पायु में उत्पन्न होने वाली सन्तान अल्पांग, बुद्धिहीन एवं शक्तिहीन होती है। दूरगामी परिणाम स्वरूप समाज अयोग्य व्यक्तियों से भर जाता है और जनसंख्या में अनावश्यक वृद्धि होती है जो आज के जनजीवन के लिए प्रमुख समस्या है। हमारे समाज के अनेक सम्पन्न परिवार बाल-विवाह की कुप्रथा के कारण ही आज निर्धनता के शिकार हो रहे हैं। अल्पायु में वैवाहिक संस्कार सम्पन्न हो जाने के कारण कालान्तर में वैवाहिक सम्बन्ध मधुर नहीं रह पाते क्योंकि पति-पत्नी (दोनों एक दूसरे को) समझ नहीं पाते, फलस्वरूप दोनों में तनावपूर्ण स्थिति रहती है, जिससे चतुर्मुखी प्रगति रुक जाती है। अतः बाल-विवाह रूपी रंगीन शराब हमारे सामाजिक जीवन की तन्त्रिकाओं में प्रवेश कर उसके आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक पहलुओं को तत्वविहीन कर देती है। यह समाज के लिए अभिशाप और प्रगति हेतु त्याज्य है।

सौभाग्यवश हमारे संविधान के निर्माता भी संविधान में प्रौढ़ विवाह का विधान किये हैं। वर्तमान परिपेक्ष हमारे देश का प्रबुद्ध वर्ग भी पाश्चात्य संस्कृति के सम्पर्क तथा उच्च-स्तरीय शिक्षा के प्रभाव स्वरूप मध्ययुगीन रुढ़िवादी प्रवृत्तियों का परित्याग, प्रौढ़ विवाह में अपनी आस्था व्यक्त करता है। हमारी वर्तमान सरकार तो बाल-विवाह को अपराध घोषित कर एक समन्वयवादी हिन्दू समाज की स्थापना के लिए प्रौढ़ एवं विलम्ब विवाह को प्रोत्साहन दे रही है जो हमारे प्रगतिशील समाज के लिए एक आदर्शात्मक औषधि है।

सन्दर्भ-सूची

१. छा० उप०, (१।१०.१) २. बौधायन धर्मसूत्र (४।१।१५,१४)
३. मनु स्मृति (११।८७) ४. याज्ञ० स्मृति० (१।६४)
५. अल्तेकर, पोजीशन आफ वूमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन, (पृ० ६५-६)
६. ग्यारहवीं सदी का भारत (पृ० १३७) ७. पृथ्वीराज रासो, (७ वां समय, १४वां समय)
८. पी० एन० प्रभू, हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन, प्रिंसिपुल्स आफ सोशल साइकोलाजी, (पृ० १८६), विलियम्स, (पृ० १८८), ९. डा० लक्ष्मीदत्त ठाकुर, प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन, (पृ० १५८) १०. वेस्टर मार्क, ए शार्ट हिस्ट्री आफ मैरिजेज, (पृ० ४६),
११. के० वी० रङ्गास्वामी आंगार, सोशल एण्ड पोलिटिकल ऐस्पेक्ट आफ मनुस्मृति, (पृ० १५६), १२. डा० लक्ष्मीदत्त ठाकुर, प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन, (पृ० १५९)
१३. वर्ड रिवोल्यूशन एण्ड फैमिली पैटर्न (१९६३)
१४. पोलिटिकल एलीट इन बिहार (१९७२)

विचित्र वीणा का वैशिष्ट्य

डॉ० गोपालशंकर मिश्र*

वीणावादनतत्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं च गच्छति ॥
याज्ञवल्क्य स्मृति ३।४।११५

अर्थात् जो वीणा वादन के तत्त्व को जानने वाला हो, श्रुति एवं जाति का ज्ञाता हो तथा जो ताल का भी ज्ञाता हो, वह बिना प्रयास के ही मोक्ष मार्ग को प्राप्त होता है।

भारतीय शास्त्रीय संगीत के आधुनिक वाद्यों में 'विचित्र वीणा' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आधुनिक युग में इस 'वीणा' का अधिक विकसित रूप प्रचार में आया है। विचित्र वीणा को बजाने वाले देश में इनेगिने कलाकार ही हैं, परंतु संभाव्य है कि निकट भविष्य में लोगों की अभिरुचि इस वाद्य के प्रति बढ़ेगी तथा लोग व्यावसायिक दृष्टि से इसे ग्रहण करेंगे।

प्राचीन काल के वाद्ययंत्रों में अनेक 'वीणाओं' का उल्लेख मिलता है। यथा घोषवती, तंजौरी, एकतन्त्री, चित्रा वीणा इत्यादि परन्तु विचित्र-वीणा का उल्लेख किसी प्राचीन ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है। विभिन्न वीणाओं के विकासक्रम में हम देखने का प्रयास करेंगे कि विचित्र वीणा की संगति कहाँ बैठती है।

अनुमानतः प्राचीन काल में जिसे घोषवती, एकतन्त्री अथवा ब्रह्मावीणा कहते थे उसे ही आजकल विचित्र-वीणा अथवा बट्टा-वीन कहते हैं। इसके नाम को क्वचित साम्यता प्राचीन काल में वर्णित 'चित्रा-वीणा' में मिलती है। चित्रा वीणा का सर्वप्रथम उल्लेख महर्षि भरत ने किया है। उनका कथन है :—

"सप्ततन्त्री भवेच्चित्रा"
भ. ना. शा. २९।११८

इस वीणा का उल्लेख करते हुये नान्यदेव ने कहा है :—

"मतङ्गो वादकस्तस्याश्चैत्रिको नाम नापरः"
भरतभाष्य (पाण्डुलिपि)

अर्थात् 'वृहद्देशी' के रचयिता मतंग चित्रा वीणा के वादक थे। 'संगीत-सुधा', 'संगीत-मकरन्द' आदि ग्रन्थों में भी 'चित्रा-वीणा' का उल्लेख मिलता है। महर्षि भरत ने 'विपंची-वीणा तथा चित्रा-वीणा' को प्रमुख माना है। जहाँ तक तन्त्रियों का प्रश्न है 'चित्रा-वीणा' में सात तन्त्रियाँ होती थीं जो आज को 'विचित्र वीणा' से किसी प्रकार भी मेल नहीं खाती, 'विपंची-वीणा' में नौ तन्त्रियाँ होती थीं परन्तु विचित्र वीणा में मुख्य दस अथवा ग्यारह तन्त्रियाँ होती हैं अतः इन दोनों में भी कोई साम्य नहीं।

* प्रवक्ता, मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

इसी प्रकार 'एकतन्त्री-वीणा' से 'विचित्र-वीणा' की परंपरा पर विचार करते समय ऐसा प्रतीत होता है कि 'भरत नाटचशास्त्र' काल के कुछ पूर्व ही वीणाओं में स्वरोत्पत्ति का नवीन विधान हुआ होगा। इस विधान में वादक एक ही तार पर बायें हाथ में १२ अंगुल लम्बी लकड़ी अथवा बांस की एक गोल शलाका पकड़ कर उसे तार पर रगड़ कर भिन्न-भिन्न स्वर निकालता था। दाहिने हाथ में 'कोण' पहनकर अथवा नख से तार को छेड़ा जाता था। करीब एक हजार वर्ष तक ('भरत नाट्य शास्त्र' के काल से लेकर 'संगीत रत्नाकर' के समय तक) इस वीणा का सर्वोपरि स्थान रहा। उक्त काल के ग्रन्थों में अनेक वीणाओं के नाम प्राप्त होते हैं जैसे घोषक, घोषवती, ब्रह्मी वीणा, एकतन्त्री इत्यादि। महर्षि भरत ने घोषवती तथा नान्यदेव, शारङ्गदेव आदि ने इसे एकतन्त्री नाम से उल्लिखित किया है।

'विचित्र वीणा' की वादन प्रक्रिया भी बहुत कुछ इसी प्रकार की है। उत्तर भारत में जिसे पट्टाषीन अथवा विचित्र वीणा कहते हैं करीब करीब यही स्वरूप दक्षिण भारत के 'गोट्टु-वाद्यम्' का है। विचित्र-वीणा को आजकल शीशे के बट्टे द्वारा बजाने का प्रचलन है परंतु गोट्टु-वाद्यम् को अभी भी बांस की गोल शलाका से बजाते हैं। यह बट्टा अथवा शलाका बाँये हाथ में धारण करते हैं तथा तार पर रगड़ कर स्वर बजाये जाते हैं। दाहिने हाथ की तर्जनी तथा मध्यमा में कोण (मिजराब) धारण करके तारों को छेड़ कर ध्वनि उत्पन्न की जाती है।

विचित्र-वीणा का क्रमिक विकास अभी भी पूर्णतया ज्ञात नहीं है, परंतु इतना तो निस्संदेह कहा जा सकता है कि इसका उद्‌गम् एकतन्त्री वीणा से ही हुआ है। प्राचीनकाल में वीणा वादन-विधि क्या रही होगी यह मात्र अनुमान ही लगाया जा सकता है, परन्तु महर्षि भरत के 'नाट्य शास्त्र' काल में बांस की गोल शलाका से तार रगड़ कर स्वरोत्पत्ति का विधान हो चुका था। अधुना तकनीकी दृष्टि से वीणा-वादन अत्यन्त कठिन हो गया है, विशेष-रूप से विचित्र-वीणा। आज से तीन-चार सौ वर्ष पूर्व तक वादन की सामग्री गायन पर आधारित थी। लगभग १०० वर्ष पूर्व वादन सामग्री एक पृथक रूप से व्यवस्थित की गई। सितार, सरोद इत्यादि वाद्यों का आविर्भाव हुआ। इनके साथ ही खटके, मुर्की, सूत, जमजमा, क्रन्तन, कण, इत्यादि के नये प्रयोग प्रारंभ हुये, 'गत' अंग के प्रचलन तथा अतिद्रुत लय में वादन ने श्रोताओं को अधिक आकर्षित किया। नवीन वाद्यों की बनावट, इधर उधर ले आने, ले जाने की सुविधा तथा कल्पना की स्वच्छन्द 'उड़ान' की सुविधा के कारण कलाकारों का रुझान भी वीणाओं से हटकर इन नवीन वाद्यों की ओर हो गया ऐसी स्थिति में वीणा की परंपरा को बनाए रखना अत्यंत कठिन हो गया।

सम्प्रति उत्तर भारत में प्रमुख रूप से दो, विचित्र-वीणा एवं रुद्र वीणा, का प्राधान्य है।

रुद्र वीणा में 'सारिका' व्यवस्था होने के कारण वादन-दुरूहता बहुत कम हो जाती है, यद्यपि मींड के काम में अत्यंत परिश्रम करना होता है। आज रुद्र वीणा के कलाकार भी देश में इने-गिने हैं।

विचित्र वीणा में सारिका व्यवस्था नहीं होती। इसके दण्ड की लम्बाई लगभग ५० इंच तथा चौड़ाई साढ़े चार से पाँच इंच तक होती है। यह वीणा दो समान आकार के तुम्बों रर आधारित होती है। धरातल से दण्ड की ऊँचाई करीब-करीब डेढ़ फुट की होती है। वादन

क्रिया हेतु मुख्य चार तार होते हैं, बाकी छः तार स्वरों के भराव के लिये होते हैं, इनमें चार चिकारियाँ होती हैं, एक मन्द्र पंचम का तार तथा एक अति मन्द्र षड्ज का तार होता है ।

विचित्र वीणावादन की प्रारम्भिक कठिन साधना उसकी 'बैठकी' है । दोनों हाथ डेढ़ फुट ऊँचे दण्ड पर बिना सहारे के उठाये रखना भी उसी साधना का एक अंग है । इस प्रकार की बैठकी से रीढ़ की हड्डी पर बहुत ज़ोर पड़ता है । इस स्थिति में १०–१५ मिनट बैठना भी कठिन होता है ।

दूसरी समस्या है स्वर स्थापना की । पचास इञ्च लम्बे दण्ड पर अभ्यास से ही स्वर स्थान ज्ञात हो सकते हैं, बायें हाथ का भी सहारा नहीं लिया जा सकता है क्योंकि वादन शीशे के बट्टे को रगड़ कर किया जाता है, हाथ की अनुभूति काम नहीं आती जैसा कि सरोद अथवा वायलिन आदि में होता है ।

तीसरी बड़ी समस्या है, यदि अभ्यास से स्वर-स्थानों का अन्दाज़ लग भी जाये तो इतने बड़े दण्ड पर उन्हें बजाना दुरूह हो जाता है, विशेष रूप से जब द्रुत गति से वादन करना हो, स्वर स्थानों की दूरी काफी हो जाती है ।

उपर्युक्त बातों के बाद वादन सामग्री की समस्या उठती है । जैसे कि पहले ही बताया जा चुका है कि ३–४ सौ वर्ष पूर्व वादन सामग्री गायन पर ही निर्भर थी । उसी परम्परा को बनाये रखने के कारण ही 'रुद्र वीणा' का प्रचलन कम हो गया । इसी प्रकार विचित्र वीणा भी जो कुछ बजाई जाती थी वह श्रोताओं पर प्रभाव नहीं जमा सकी । अपनी तेजी तथा चमत्कार पूर्ण कल्पना की उड़ान के कारण सितार, सरोद इत्यादि वाद्य गत ६०–७० वर्षों से विशेष लोकप्रिय हुए । इस प्रकार आज के सन्दर्भ में विचित्र वीणा वादन और भी कठिन हो गया है । विशेष रूप से विचित्र वीणा पर क्रन्तन, खटके, मुर्की इत्यादि का समावेश तथा तेज तानों के प्रकारों ने इसके वादन को अत्यधिक परिश्रमी वाद्य बना दिया है । इन्हीं कारणों से आज भी विचित्र वीणा की स्थिति कोई बहुत सुखद नही है ।

आज देश में इस वाद्य के इने-गिने कलाकार हैं जिनमें एक अकिंचन इस पंक्तियों का लेखक भी है । स्व० पं० लालमणि मिश्र जी ने इस वाद्य विशेष के उत्थान के लिये अथक प्रयास किया तथा अपना सम्पूर्ण जीवन ही इसमें लगा दिया । उन्होंने विचित्र वीणा वादन को एक नई दिशा दी और यह सिद्ध कर दिया कि विचित्र वीणा में अन्य वाद्यों की तुलना में कल्पना की उड़ान, वादन सामग्री, आराधना का भाव तथा साध्य साधन भाव कहीं अधिक है । उनके सद्प्रयास से इस वाद्य ने प्रभूत लोकप्रियता अर्जित की ।

विचित्र वीणा ही नहीं अपितु अन्य कष्ट साध्य वाद्यों के प्रति राग उत्पन्न करने में प्रो० मिश्र की महती भूमिका रही । उन्होंने अपने समर्पित व्यक्तित्व के अवदान से अनेक कलाकारों को इस दिशा में प्रेरित किया । सम्प्रति फष्ट-साध्य वाद्यों के कलाकारों को भारत सरकार की ओर से आर्थिक सहायता प्रदान की जानी चाहिये, जिससे उनका मनोबल बना रहे और आर्थिक तंगी से वे इस दिशा से विरत न हों । इसी प्रकार विभिन्न 'संगीत' 'अकादमियों' में भी इस प्रकार की योजनायें बननी चाहिये, जिसमें दुर्लभ वाद्यों को सीखने के लिये प्रोत्साहन प्राप्त हो सके । इसके अन्तर्गत अप्रचलित वाद्यों के कलाकारों के लिये 'मंच' भी उपलब्ध होना चाहिये तभी अपनी प्राचीन भारतीय शास्त्रीय संगीत की परम्परा को जीवित रखने में हम कुछ अंशों तक सफल हो सकेंगे ।

✱

शिल्पगत आधुनिकता और सूरदास

कु० सुधा रानी गौड़*

आधुनिकता एक समय—सापेक्ष विचारात्मक जीवनदृष्टि है। अतः आधुनिकता बोध कवि की भावयित्री प्रतिभा से सम्बन्वित है। किन्तु आज आधुनिकताबोध को कवि की कारयित्री प्रतिभा से भी सम्बन्धित किया जा रहा है। आज जो भी रचनायें सामने आ रही हैं उन्हें आधुनिक बोध के आधार पर परख कर उनके बदलते हुए रूपों को स्पष्ट किया जा रहा है। यद्यपि आधुनिकता में रूप-विधान सम्बन्धी छुट-पुट परिवर्तनों, पुराने प्रतीकों के बदले नये प्रतीकों का संयोजन और शिल्पगत चमत्कारों का कोई महत्त्व नहीं[1] परन्तु फिर भी बदलते हुए भावबोध ने रचना-प्रक्रिया में भी बदलाव उपस्थित किया। आधुनिक युग में नई कविता का आविर्भाव होने पर उसमें नाटकीयता का समावेश हुआ। अनेक समस्याओं को नाटकीय ढंग से कविता में प्रस्तुत किया जाने लगा। इसी समय नाटक में भी कवित्व को स्थान दिया गया। मुक्तिबोध की 'अंधेरे में' कविता का विधान नाटकीय है तो धर्मवीर भारती का अन्धायुग कवित्व की पद्धति को धारण किये हुए है। सूरदास का 'सूरसागर' कवित्व में नाटकीयता का समावेश किये हुए है। नाटकीयता का यह गुण इस हद तक है कि इनका सौन्दर्य-चित्रण मध्यकाल के सभी लोगों से अद्भुत है। उन्होंने नृत्य, चित्र तथा संगीत से अपने सौन्दर्य-बोध को बांधा है और यह कार्य केवल नाटक में होता है।[2] इसके अतिरिक्त नाटक में दृश्यात्मकता होती है, संवाद और द्वन्द्व होता है। हम देखते हैं कि सम्पूर्ण सूरसागर दस स्कन्धों में विभक्त किया गया है। हर स्कन्ध में कई छोटे-छोटे दृश्य हैं। दृश्यात्मताओं की दृष्टि से नवम् और दशम् स्कन्ध अधिक महत्वपूर्ण हैं। इन स्कन्धों में दृश्य अधिक स्पष्ट और आकर्षक होकर आये हैं। कृष्ण का जन्म नाटक की क्रिया तथा वाणी प्रदान करता है,[3] जिसके पश्चात् ही कृष्ण के घुटनों चलने, कलेवा करने, क्रीड़न, उलूखन बन्धन, गो-दोहन और गो-चारण के दृश्य सामने आते हैं। आगे चलकर सूर ने अपने दृश्यों का स्वयं ही नामकरण लीला किया है।—यथा—चीरहरण लीला, रासलीला, गिरिधारण लीला, पनघट लीला और काली-दमन लीला। लीला दृश्यात्मक ही होती है। आज भी हम कृष्ण की विभिन्न लीलाओं को रंगमंच पर अभिनयात्मक रूप से देखते हैं। रासलीला इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है, जिसमें दृश्यात्मकता भी होती है, नाटकीय तत्व नृत्य और संगीत भी रहता है, संवाद भी उसका सहयोगी बनकर आता है। रासलीला में संवाद का आरम्भ कृष्ण के वंशी-वादन से प्रारम्भ होता है—

राधिका रमन बन-भवन सुख देखि कै,
अधर धरि बेनु सुललित बजाई।
नाम लै लै सकल गोप कन्यानि के,
सबनि कै सवन वह धुनि सुनाई॥[4]

---

* शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

मधुर धुनि बजाकर जिन-जिन युवतियों का नाम कृष्ण ने लिया, वे सभी अपना-अपना नाम सुनकर तत्काल निकल पड़ीं। सूर बताते हैं कि एक मार्ग में है, एक घर से निकली, एक घर से निकल रही है और एक निकलते-निकलते ही बेहाल हो गई।[५] जब गोपियाँ स्याम के पास पहुँचती हैं तो स्याम उनसे प्रश्न पूछ बैठते हैं—

निसि काहैं बन कौं उठि धाईं।
हँसि हँसि स्याम कहत हैं सुन्दरि, की तुम ब्रज-मारगहिं भुलाई,
गई रहीं दधि बेचन मथुरा, तहाँ आजु अवसेर लगाई।
अति श्रम भयौ बिपिन क्यों आईं, मारग वह कहि सबनि बताई॥
जाहु जाहु घर तुरत जुवति जन, खीझत गुरुजन कहि डरवाई।
की गोकुल तैं गमन कियौ तुम, इनि बातनि है नहीं भलाई॥[६]

गोपियाँ प्रत्युत्तर देती हुई कहती हैं—

यह सुनि कै ब्रज-बाम कहत भईं, कहा करत गिरिधर चतुराई।
सूर नाम लै-लै जन-जन के मुरली बारम्बार बजाई॥[७]

नाटकीय संवाद का इससे अच्छा उदाहरण और क्या हो सकता है जिसमें उत्तर प्रत्युत्तर आगे बढ़ता है और प्रश्नाकुल स्थिति एक जिज्ञासा बनाए रखती है। गोपियों का उत्तर सुनकर कृष्ण फिर पूछ बैठते हैं कि कहाँ हम थे और कहाँ तुम ब्रज में, मुरली की नाद तुम्हें कैसे सुनाई पड़ी, तुम हमसे परिहास कर रही हो। तुम तो बड़े घर की बहू-बेटी हो, मैं नाम ले-लेकर तुम्हें क्यों बुलाऊगा?[८] युवतियों का यह धर्म नहीं कि वह अपने पति की सेवा न करें, उसे त्याग दे। पति को त्यागने वाली स्त्री को धिक्कार है।[९] गोपियों के पास कृष्ण की हर बात का जवाब है—

सोइ कुलीन सोइ बड़भागिनी, जो तुव सन्मुख रहै सदाई।
ते धनि पुरुष, नारि धनि तेई, पंकज चरन रहै दृढ़ताई॥[१०]

कृष्ण और गोपियों के उत्तर-प्रत्युत्तर में हम एक ऐसे मानसिक तनाव का अनुभव करते हैं, जो वातावरणगत अवरोध अथवा इच्छाओं के विघटन से उत्पन्न होता है, यही द्वन्द्व कहलाता है।[११] द्वन्द्व ही नाटक का प्राण होता है। सूर में द्वन्द्व की स्थिति उनके सम्बन्धों के बीच जगह-जगह पाया जाता है। यथा-भक्त और भगवान के बीच का तनाव, स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध का तनाव और सामाजिक तनाव। द्वन्द्व अथवा तनाव अपनी चरमावस्था में जाकर समाप्त हो जाता है, यहीं पर नाटक या काव्य की सार्थकता मानी जाती है।

एक उदाहरण देकर सूर के द्वन्द्व की चरमावस्था को सिद्ध किया जा सकता है। उदाहरण है माखन चोरी का प्रसंग। कृष्ण गोपियों के घर जाकर माखन चुराते हैं। गोपियाँ कृष्ण की इस शरारत को बर्दास्त करती हैं, किन्तु जब कृष्ण सखाओं के साथ जाकर चोरी करने लगते हैं, गोपियों के बर्तन फोड़ डालते हैं तो गोपियाँ माँ यशोदा के पास शिकायत लेकर जाती हैं—

अपने या बालक की करनी, जो तुम देखो आनि।
गोरस खाइ, खवावै लरिकनि, भाजत भाजन भानि॥

मैं अपने मंदिर के कोने, राख्यौ माखन छानि।
सोई जाइ तिहारै ढोटा, लीन्हौ है पहिचानि।[12]

माँ यशोदा सोचती हैं कि गोपियाँ चोरी का बहाना लेकर कृष्ण को देखने आती हैं। क्या उसका पाँच वर्ष और कुछ दिन का पुत्र चोरी कर सकता है। अतः यशोदा गोपियों पर ही दोष लगाने लगती हैं।[13] यहीं पर यशोदा और गोपियों के सम्बन्ध में तनाव आने लगता है। गोपियाँ यशोदा से झुंझला कर बात करती हुई दिखाई देती हैं—

तुम जो कहति हौ, मेरौ कन्हैया गंगा कैसो पानी।
बाहिर तरुन किसोर बयस वर, बाट घाट कौ दानी।।
बचन विचित्र, कमल-दल लोचन, कहत सरस बरबानी।
अचरज महरि तुम्हारे आगे, अबै जीभ तुतरानी।।[14]

गोपियों और यशोदा के बीच का यह तनाव बढ़ता जाता है। गोपियाँ यशोदा को झूठा साबित करने के लिए कृष्ण को रंगे हाथों पकड़ने की कोशिश करती हैं और एक दिन कृष्ण को चोरी करते हुए पकड़ कर यशोदा के सामने प्रस्तुत कर देती हैं।[15] यशोदा उलाहना सुन कृष्ण के प्रति खीझ प्रकट करती हैं।

यशोदा के खीझने से कृष्ण रोने लगते हैं और माँ से कहते हैं कि गोपियाँ झूठे ही दोष लगा रही हैं। माँ यशोदा भी कृष्ण का मुँह पोंछकर युवतियों को ही दोष देने लगती हैं।[16] गोपियाँ भी चुप बैठकर रहने वाली नहीं हैं, इसीलिए दिन-प्रतिदिन उलाहने बढ़ने लगते हैं और एक दिन वह भी आता है जब यशोदा गोपियों के उलाहनों का अंत करने के लिए अपने पुत्र को ही अपने क्रोध का भाजन बना देती हैं। यहीं पर यशोदा और गोपियों के बीच का तनाव अपनी पूर्णावस्था पर पहुँच जाता है, तभी तो यशोदा के क्रोध का कोई ठिकाना नहीं रहता :—

सँटिया लिए हाथ नदरानी थरथरात रिस गात।
मारे बिना आजु जो छांड़ौं, लागै मेरै तात।[17]

अंत में यशोदा कृष्ण को अखल से बाँध देती हूँ। यहीं पर गोपियों और यशोदा के बीच का द्वन्द्व चरमराकर समाप्त हो जाता है।—

उखल सौ गहि बाँधि जसोदा, मारन कौं साँटी कर तोरै।
साँटी देखि ग्वालि पछितानी, बिकल भई जँह-तँह मुख मोरै।[18]

यहाँ पर आकर यद्यपि गोपियों और यशोदा के बीच का तनाव खत्म हो जाता है। किन्तु यशोदा फिर भी अपने पुत्र को बन्धन से मुक्त नहीं करतीं। कारण व्यक्ति का कर्त्तव्य दूसरे को कष्ट पहुँचाना नहीं अपितु दूसरे के कष्ट का निवारण करना है। व्यक्ति में इस आदर्श रूप की स्थापना के लिए सूर कुछ देर के लिए अपने कल्पना लोक में खो जाते हैं और जमलार्जुन की कथा के माध्यम से इसी मानवीय आदर्श को स्थापना करते हैं। यहाँ कृष्ण का बन्धन युक्त होना कर्त्तव्य बद्ध होना है और उस बन्धन से मुक्त होने का प्रयत्न करना अपने कर्त्तव्य के प्रति क्रियाशील होने का परिचायक है, जिसमें दूसरे कष्ट को पहुँचाने की भावना न होकर कल्याण-भावना अभिव्यक्त है :—

इनहीं के हित भुजा बँधाई, अब बिलम्ब नहिं लाऊँ ।
परस करौं तन, तर्माहि गिराऊँ, मुनिवर-साप मिटाऊँ ।
ये सुकुमार बहुत दुःख पायौ, सुत कुवेर के तारौं ।
सूरदास प्रभु कहत मनहिं मन, यह बन्धन निखारौं ।।[१९]

इस प्रकार की लीलाओं–क्रीड़ाओं से सक्रिय सूर की सृजन-प्रक्रिया ब्रजभूमि के वृन्दावन की फान्तासी है।[२०] फान्तासी का अर्थ है तथ्य को स्वप्न चित्रों अथवा काल्पनिक माध्यमों से प्रस्तुत करना। सूर विभिन्न लीलाओं की कल्पना से युक्त होकर यथार्थ की अभिव्यक्ति करते हैं। उनकी फेंटेसी में मुक्तिबोध के समान दो रूप हैं। जैसे मुक्तिबोध दो रूपों के माध्यम से सत्य की अभिव्यक्ति करते हैं, उसी प्रकार सूर भी दो सिस्टमों के माध्यम से यथार्था को अभिव्यक्त करने की चेष्टा करते हैं।

लीलाओं और क्रीड़ाओं के पदों में कभी वह लौकिक धरातल पर उतरते हैं तो कभी अलौकिक पद पर आसीन होकर कथ्य को अभिव्यक्ति करने लगते हैं। इसमें कथ्य तो यथार्थ है किन्तु उसे काल्पनिक आधार धारण कर प्रस्तुत किया है। दो भिन्न-भिन्न परिस्थितियों, घटनाओं का चित्रण करने के लिए उनकी फेंटेसी सृजन-प्रक्रिया का अनिवार्य अंग बनकर आई हुई दिखाई देती है। जब-जब भी उन्होंने फेंटेसी का प्रयोग किया है, तब-तब वहाँ व्यंजना की प्रधानता हो गई है। उदाहरण के लिए सूर ने गोकुल और मथुरा-इन रूपों की फेंटेसी के रूप में चित्रित करने की कोशिश की है।[२१] गाँव से शहरों के विकास से उत्पन्न समस्याओं पर भ्रमर गीत की नियोजना करके व्यंग्य किया है, नगरीकरण से उत्पन्न स्त्री-पुरुष के बिगड़ते सम्बन्धों पर, उनके अलगाव पर व्यंग्य है। गोपियाँ उत्कृष्ट प्रेम की प्रतीक हैं। उनका प्रेम सदा उत्कृष्टता की ओर रहा है। उस उत्कृष्ट प्रेम की प्राप्ति के लिए वह निसिदिन उसकी याद में रोती रहती हैं। परेशान रहती हैं। उसी एकमात्र कृष्ण के लिए चातक बनी हुई हैं। ऐसे में जब उद्धव उन्हें निर्गुण निराकार का उपदेश देने लगते हैं तो यह पहले उद्धव के ज्ञान का उपहास करती हैं :—

देन आए ऊधो मत नीकौ ।
आवुहु री मिली सुनहु सयानी लेहु सुजस कौ टीकौ ।[२२]

इसके पश्चात वह भ्रमर को लेकर व्यंग्य करने लगती हैं। भ्रमर को सम्बोधित करती हुई कहती हैं :—

मधुकर काके मीत भए ।
त्यागे फिरत सकल कुसुमावलि, मालति भुरै लए ।।[२३]

सूर में समाज पर भी व्यंग्य का रूप देखा जा सकता है। सामाजिक असमता पर सूर का व्यंग्य उनके भक्ति-सम्बन्धी पदों में हैं। सूरदास कहते हैं कि आप तो ऐसे त्यागी दानी कहलाते हैं[२४] किन्तु मैं तो बहुत देर से तुम्हारी दयादृष्टि की आकांक्षा लिए खड़ा हूँ। मैं और पतितों में कहाँ कम हूँ। जैसे तुमने उन्हें तारा वैसे भी पार लगा दो, मेरा कल्याण कर दो।[२५] प्रभु दयालु हैं और वह इतनी देर से प्रभु की दयादृष्टि के लिए खड़े हैं, यही उनकी दयालुता पर व्यंग्य है। आज भी देखा जाता है कि जो सब तरह से पतित हैं, उसकी तरफ कोई ध्यान

नहीं देता। सत्ताधारी का ध्यान गरीब पर नहीं पड़ता, इसीलिए गरीब और गरीब और अमीर और अमीर होते जा रहें है। एक तरफ लीडर हैं और दूसरी तरफ लीडर का निर्माता। दोनों में कितनी असमानता है, इसे प्रस्तुत पद में देखा जा सकता है :—

चपरासी कसे बेल्ट, सेक्रेटरी लिये डायरी।
गेट पर खड़ी कार, लोगों का इन्तजार।
कौन आ रहा? लीडर आ रहा............।
....
कूड़े से भरी गाड़ी खड़ीहै गली के बीच
मन्त्री का इन्तजार, गन्दगी का संसार।
जिसमें बोल रहा, मौत के सिगनल सा
भौंपू दूर मिल का। भूखा ही कौन जा रहा
लीडर का निर्माता।[२६]

यहाँ लीडर पर उसके निर्माता का व्यंग्य है। लीडर का निर्माता व्यक्ति हैं। व्यक्ति उसे अपने से श्रेष्ठ बनाता है, उसके नियमों के अनुसार चलता है।

लीडर के निर्माता को अपने लीडर की कृपादृष्टि की प्राप्ति का विश्वास रहता है, इसी लिए वह अपने लीडर का चुनाव करता हैं। किन्तु चुनाव होने पर लीडर अपने निर्माता पर ध्यान ही कहाँ देता है। श्रेष्ठता का अधिकार पाने पर वह अपने से नीचे की दुनिया पर दयादृष्टि नहीं रखता। सूर ने भी अपने प्रभु को श्रेष्ठ माना और श्रेष्ठता का वह अधिकार देकर उसकी आराधना को किन्तु परिणाम विपरीत ही मिल रहा है कि इतने देर से खड़े हैं पर सुनाई ही नहीं हो रही। प्रभु उनका उद्धार ही नहीं कर रहे हैं।

अपनी परिस्थितियों के बोझ से लदी जिंदगी में मनुष्य के लिए प्राकृतिक तत्त्वों में भी कोई आकर्षण नहीं रह गया है। प्रकृति ऐसी स्थिति में मानव पर व्यंग्य करती है। उसकी व्याकुलता को बढ़ाना मनुष्य पर व्यंग्य करना ही है। आधुनिक कवियों ने भी बसंत पर कविताएँ लिखी हैं किन्तु उसकी सुषुमा का वर्णन करके जीवन पर प्रकृति के व्यंग्य को चित्रित किया है कि व्यक्ति उसकी सुषमा का भोग करने में असमर्थ है।[२७] इसी तरह समस्त ऋतुएँ उनके आनन्द का नहीं कष्ट का कारण बन रही है। वर्षा ऋतु को ही लें, वह आज के जीवन की तीव्र गति में अवरोध पैदा कर देती है। अतः आज का कवि काले बादलों से इस युग में न आने की प्रार्थना करता है।[२८] सूर की गोपियों के लिए भी वर्षा ऋतु आनन्द का कारण नहीं अपितु कष्ट का कारण बनती है। क्योंकि वर्षा ऋतु उनके प्रिय की याद को ताजा कर देती है। वर्षा ऋतु में नाचने वाले मोर, बिजली की चमक और वर्षा की बूंदों से उनकी विरहाग्नि उद्दीप्त होती है, उन्हें दुख होता है। वर्षा ऋतु की बूंदें उन्हें बाण के समान लगती हैं, इसीलिए वह अपनी सखी से मोर को दूर करने की बात करती हैं। उनसे बचाने के लिए सखी से कहती हैं :—

कोउ भाई बरजै री इन मोरनि।
टेरत बिरह रह्यौ न परे छिन, सुधि दुख होत करोरनि।

चमकत चपल चहुँ दिसि दामिनि, अंबर धन की घोरनि ।
बरषत बूंद बान सम लागत, क्यौं जीवें इन जोरनि ।[२९]

यहाँ प्रस्तुत पद में बूंद आधुनिक प्रतीकार्थ रखता है। वह कष्ट का साधन बनकर आया है। सूर द्वारा प्रस्तुत गोवर्धन धारण, कालीयदमन, तृणावर्त, पूतनावध आदि की कथाएँ भी आधुनिक प्रतीकार्थ रूप में प्रस्तुत की जा सकती हैं। हरिऔध जी ने इन कथाओं को आधुनिक दृष्टि से प्रस्तुत किया है। तृणावर्त की कथा को हरिऔध जी ने एक प्राकृतिक प्रकोप मानते हुए कहा है—"तृणावर्त अर्थात् बवन्डर अचानक उठा, जिसमें वृक्ष उखड़ गए, छतें उड़ गई और ब्रजवासी आतंकित हो गए परन्तु तृणावर्त का आवेग अल्पकाल में समाप्त हो गया और श्रीकृष्ण जी आँधी के समय घर में बैठे थे, आँधी के समाप्त होने पर हँसते हुए बाहर निकले। अतः तृणावर्त की कथा प्राकृतिक प्रकोप की कथा है।"[३०] कालीयनाग की कथा की भी स्वाभाविक व्याख्या की गयी है—"लोकहित के विचार से श्रीकृष्ण ने यमुना में रहने वाले विषैले कालीय नाग को वेणुनाद से वशीभूत करके समीपर्ती वनों में निकाल दिया।[३१]" गोवर्धन धारण की कथा को भी इसी तरह व्याख्या करके हरिऔध जी ने उसे प्राकृतिक प्रकोप माना है। "वर्षा का प्रकोप होने पर ब्रजवासियों को बचाने के लिए श्रीकृष्ण सबको गोवर्धन पर्वत पर ले गये और वहाँ की कन्दराओं, गुफाओं में उन्हें आश्रय दिया। रोगी, वृद्ध एवं दुखीजनों को ले जाने के लिए उन्होंने स्वयं-सेवक लगा दिए। वे स्वयं दिन-रात घूमकर उनकी सुविधाओं का ध्यान रखते थे। श्रीकृष्ण के इस महान कार्य को देखकर सब कहने लगे कि श्याम ने पर्वत को उंगली पर धारण किया।"[३२] आज भी हम देखते हैं कि जब जल प्रकोप या कहीं बाढ़ आ जाती है तो स्वयं-सेवक लगा दिए जाते हैं। क्या तब सूर द्वारा प्रस्तुत किए गये कार्य प्राकृतिक प्रकोप से उत्पन्न स्वयं-सेवकों के कार्य नहीं कहे जा सकते और कृष्ण को स्वयं-सेवक कहने में क्या कोई आपत्ति हो सकती है? वह लोकमंगलोन्मुखी हैं, इसलिए इन लीलाओं के माध्यम से लोकमंगल का विशिष्ट प्रयोजन सिद्ध किया गया है। अन्ततः कहा जा सकता है कि कलापक्ष की दृष्टि से सूर आधुनिक तत्वों को आत्मसात् करते हुए आधुनिक जीवन-बोध को अभिव्यक्त करने में समर्थ हैं। बदलते हुए जीवन-बोध के अनुसार उनकी रचना प्रक्रिया भी बदलाव धारण किए हुए हैं।

सन्दर्भ

१. संपादक, रामव्यास पाण्डेय और श्रीनिवास शर्मा, समकालीन आलोचना के प्रतिमान : संस्करण १९७४ में संकलित लेख : आधुनिकता नई और पुरानी, पृ० २१
२. डा० निर्मला जैन, सूर का सौन्दर्य बोध : काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित सूर पंचशती समारोह : १९८०
३. डा० नामवर सिंह, भाषा के निकष पर : सूर पंचशती समारोह १९८०, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित।
४. सूरसागर (दशम स्कन्ध), पद १६०६।
५. सूरसागर (दशम स्कन्ध), पद १६२३।

६. वही, पद १६२९।
७. वही, पद १६२९।
८. सूरसागर (दशम स्कन्ध) पद १६३०
९. वही, पद १६४३
१०. वही, पद १६४३
११. संपादक, पद्मा अग्रवाल, मानविकी पारिभाषिक कोशः मनोविज्ञान खण्ड, प्रथम संस्करण, १९६८, पृ० ७४–दन्द्व, अन्तर्द्वन्द्व।
१२. सूरसागर (दशम स्कन्ध), पद ८९८
१३. वही, पद ९१०
१४. वही, पद ९२९
१५. वही, पद ९३३
१६. सूरसागर (दशम स्कन्ध), पद ९३७।
१७. वही, पद, ९५७।
१८. वही, पद ९६२।
१९. सूरदास (दशम स्कन्ध), पद १०००।
२०. डा० रमेशकुन्तलमेघ, "सूर कौन से और किसके"—आलोचना, वर्ष २६, जनवरी-मार्च १९७८, पृ० ३३।
२१. डा० रमेशकुन्तलमेघ, सूरपंचशती समारोह : सन् १९८०, साहित्य में प्रासंगिकता की समस्या।
२२. सूरसागर (दशम स्कन्ध), पद २१३४।
२३. सूरसागर (दशम स्कन्ध), पद, ४१२६
२४. वही, (प्रथम स्कन्ध), पद १३५
२५. वही, पद १३७
२६. शकुन्त माथुर, चाँदनी चूनर : पृ० ६२-६३
२७. गिरिजा कुमार माथुर—धूप के धान।
२८. शकुन्त माथुर—अभी कुछ और काले मेघ, पृ० ६२
२९. सूरसा (दशम स्कन्ध), पद ३९५०
३०. डा० गोरा कुलकर्णी—पौराणिक काव्य आधुनिक सन्दर्भ, प्रथम संस्करण पृ० ६३ से उधृत।
३१. वही, पृ० ६३
३२. डा० गोरा कुलकर्णी—पौराणिक काव्य आधुनिक संदर्भ, पृ० ६४

*

हिन्दू विवाह की वर्जताएँ

उषा कला उपाध्याय*

हिन्दू समाज में सगोत्र, सप्रवर और सपिंड विवाह निषिध्य किये गये हैं। धर्मशास्त्रकारों ने एक ही गोत्र प्रवर और पिंड में परस्पर विवाह करना वर्जित किया है।[1] गोत्र प्रवर और पिंड के बाहर तो हिन्दुओं में अवश्य विवाह किया जाता रहा है, किन्तु अपनी जाति के बाहर जाकर यह विवाह नहीं किया जाता था। अपनी ही जाति के अन्दर ही भिन्न गोत्र, प्रवर और पिंड में विवाह होता रहा है। प्रत्येक जाति में विभिन्न गोत्र पिंड और प्रवर हैं, जिसमें विवाह सम्बन्ध स्थिर होता है—

(१) गोत्र बहिर्विवाह :

हिन्दू समाजमें समान गोत्र रखने वाले वर्ग से विवाह की प्रथा नहीं रही है। अपने गोत्र से बाहर, दूसरे गोत्र में विवाह करने की प्रथा ही प्रचलित रही है। प्राचीन काल की यह व्यवस्था आज भी हिन्दू समाज में वर्तमान है। गोत्र का अर्थ साधारणतः पूर्व पुरुष को व्यक्त करता है।[2] वैसे गोत्र शब्द के अनेक अर्थ मिलते हैं। गोत्र शब्द 'गोशाला' (गायों का समूह) और व्यक्तियों के समूह के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है।[3] पाणिनि ने गोत्र शब्द की व्याख्या वंश या कुल के अर्थ में को है।[4] वस्तुतः गोत्र इस आदि पुरुष के लिए प्रयुक्त किया गया, जिन्हें 'कुल' या वंश की संज्ञा दी गई जो विद्या, धन शौर्य, औदार्य आदि गुणों के लिए विख्यात हुआ और कालान्तर में जिसके नाम से 'वंश' अथवा 'कुल' का विकास हुआ है।

गोत्र का विकास उत्तरवैदिक काल तक पूर्ण हो चुका था और उसके बाद से सगोत्र विवाह को हिन्दू धर्मशास्त्रकारों ने वर्जित कर दिया था। उपनिषदों में अनेक स्थलों पर भारद्वाज, गार्ग्य, आश्वलायन, भार्गव, कात्यायन, गौतम, कश्यप आदि जैसे ऋषियों के नाम पर गोत्रों की चर्चा की गयी है। कालान्तर में इन्हीं ऋषियों के नाम पर वंशगत गोत्र का विकास हुआ। बौद्धयुग तक आते-आते विवाह के लिए गोत्र का महत्व बढ़ चुका था।[5] मज्झिम निकाय में उल्लिखित है कि अगर कोई किसी स्त्री से प्यार करता है तो उसे उसके गोत्र और जाति का ज्ञान होना चाहिए।[6] प्रायः सभी धर्मशास्त्रों में समान गोत्र वाली कन्या से विवाह करना वर्जित माना गया है। धर्मशास्त्रकारों का कथन है कि द्विजातियों को अपने गोत्र के बाहर विवाह करना चाहिए। ऐसा लगता है कि छठी सदी ई० पू० के बाद से सगोत्र विवाह के प्रति हिन्दू समाज में प्रतिबन्ध बढ़ता गया, जो कालान्तर में और कठोर होता गया। पूर्व-मध्य युग में भी सगोत्र विवाह पूर्ववत् वर्जित था।

अलबरूनी का कथन है कि हिन्दुओं में अपने वंशजा अर्थात् पोती या परपोती एवं अपनी पूर्वजा माँ, दादी या परदादी दोनों प्रकार की सगोत्र स्त्रियों के साथ विवाह वर्जित

* इतिहास विभाग, काशी विद्यापीठ

है।[७] धर्मशास्त्रकारों ने सगोत्र कन्या के साथ मातृवत् व्यवहार करने के लिए निर्दिष्ट किया है।[८] अगर कोई व्यक्ति सगोत्र कन्या से विवाह करता था तो उसे अनेक प्रकार के व्रत आदि करने पड़ते थे तथा ऐसा व्यक्ति समाज में निन्दा का पात्र माना जाता था। सगोत्र कन्या से विवाह करने पर चान्द्रायण व्रत करने की व्यवस्था दी गयी है तथा समान गोत्र प्रवरा कन्या से विवाह करने वाले ब्राह्मण को चांडाल उत्पन्न करने वाला कहा गया है।[९] मौसी एवं नाना की कन्या से विवाह करनेवाले को नरकभागी कहा है।[१०] इन साक्ष्यों से स्पष्ट है कि सगोत्र विवाह हिन्दू समाज में निन्द्य माना जाता रहा है। आज भी समान गोत्रों में विवाह नहीं किया जाता है। अपने से भिन्न गोत्र में ही विवाह सम्पन्न किया जाता है।

वैसे प्राचीन साहित्य में सगोत्र के कतिपय संदर्भ मिलते हैं, जिनसे यह लगता है कि सगोत्र विवाह का बन्धन कभी-कभी राजपरिवार नहीं मानते थे। कोशल-नरेश प्रसेनजित् की बहन का विवाह मगध सम्राट बिम्बिसार से हुआ था तथा प्रसेनजित् की पुत्री वाजिरा का विवाह बिम्बिसार के पुत्र अजातशत्रु से हुआ।[११]

(२) प्रवर बहिर्विवाह :

हिन्दू विवाह में प्रवर का भी ध्यान रखा जाता रहा है। प्रवर बहिर्विवाह अथवा अस-प्रवर-विवाह साधारणतः सगोत्र बहिर्विवाह से मिलता जुलता था। उत्तर-वैदिक काल में 'प्रवर' आर्षेय के रूप में प्रारम्भ हुआ, जो होना के याज्ञिक कार्य से आबद्ध था। साधारणतः प्रवर का अर्थ वरण करने या आवाहन करने योग्य, प्रार्थनीय से रहा है, जो श्रेष्ठ पूर्वजों या ऋषियों की ओर संकेत करता है। कालान्तर में यह शब्द पूर्वज ऋषिनामों से सम्बद्ध हो गया।[१२] ऐसे ऋषि पूर्वज प्रारम्भिक परम्परा के उद्‌माता माने जाते थे, जो व्यक्ति के रिक्थ को अभिव्यक्त करते थे। पुरोहित यज्ञिक कार्य करते समय अपने सर्वश्रेष्ठ ऋषि-पूर्वजके नाम स्मरण करते थे, जो उनके समुदाय के प्रतीक होते थे। ये ऋषि व्यक्ति के पूर्वज के रूप में उसके आध्यात्मिक, सांस्कारिक और सामाजिक व्यवस्थाओं से धीरे-धीरे आवद्ध होते गये जो वाद में चलकर प्रवर के जनक के रूप में विकसित हुए। इस प्रकार प्रवर का सम्बन्ध रक्त से नहीं होकर व्यक्ति की पारम्परिक, धार्मिक और सामाजिक प्रक्रियाओं से हुआ। साधारणतः प्रवर ब्राह्मण समाज में ही विकसित हो सका, क्योंकि समस्त धार्मिक याज्ञिक और आध्यात्मिक कार्य ब्राह्मण ही करते थे, अन्य, वर्णों का इस कार्यों से कोई सम्बन्ध नहीं था। इसलिए प्रवर का प्रभाव ब्राह्मणों में ही रहा। समान प्रवर में विवाह करने पर गुरुतल्यारोहण सदृश पाप माना गया है।[१३] ऐसे विवाह करने वाले ब्राह्मण को चाण्डाल-उत्पन्न करने वाला कहा गया है।[१४] अतः स्पष्ट है कि असमान प्रवर विवाह ही लोक स्वीकृत था। समान प्रवर विवाह निंदनीय था।

प्रवर में प्रायः तीन ऋषियों के नाम आवद्ध होते थे। कभी-कभी ५ ऋषियों के भी नाम जुड़े मिलते हैं। धर्मसूत्रों में प्रवर से सम्बन्धित किसी एक मत का प्रतिपादन नहीं किया गया है, बल्कि मतभेद ही मिलते हैं।[१५]

(३) सपिण्ड-बहिर्विवाह :

हिन्दू समाज में सपिण्ड विवाह भी वर्जित था। सपिण्ड का अर्थ एक ही पिण्ड से है। अथवा एक से शरीर से। सपिण्ड वह है, जिसमें समान पिण्ड (अर्थात् एक ही शरीरांश)

हो। व्यक्तियों से सपिण्डता का सम्बन्ध इस तथ्य से उत्पन्न होता है कि दोनों में एक ही शरीर के अंश हैं। पुत्र का पिता के साथ सपिण्ड सम्बन्ध इसलिए है कि पिता के शरीर के कण उसमें वर्तमान हैं। इस प्रकार पितामह और प्रपितामह आदि से उसका सपिण्ड सम्बन्ध है। पुत्र का माता के साथ सपिण्ड सम्बन्ध इसलिए है कि उसमें माता के शरीर के अंश विद्यमान हैं। इसी प्रकार मातामह, मातुल, मातृश्वसा आदि से उसका सपिण्ड सम्बन्ध है। अतएव शरीर के अवयवों को क्रमबद्धता समान पिण्डता से सिद्ध होती है। रक्त सम्बन्ध से आबद्ध सम्बन्धी सपिण्ड के अन्तर्गत आते हैं। प्रायः पिता से सात पीढ़ी और माता के पाँच पीढ़ी के भीतर के लोग सपिण्ड कहे जाते हैं। विवाह निश्चित करते समय इसका ध्यान रखना अनिवार्य था। वर सन्तान पीढ़ी और कन्या से ५ पीढ़ी का अन्तर अपेक्षित माना गया। इस नियम से ममेरे, फुफेरे और मौसेरे भाई-बहन के विवाह पर प्रतिबन्ध लगाया गया।

वैदिक साहित्य में सपिण्डता पर कोई विशेष विचार नहीं किया गया है। किन्तु इस युग में इतना अवश्य था कन्या को 'दुहिता' के रूप में दूर व्याहा जाता था, वैसे इस युग में ममेरे, चचेरे, मौसेरे और फुफेरे भाई-बहनों में विवाह हुआ करता था। ऐसे वेद, मन्त्र हैं जो इनकी पुष्टि करते हैं।[१६] महाभारत में सपिन्ड विवाह के कतिपय वर्णन मिलते हैं। अर्जन और सुभद्रा का विवाह इसी प्रकार का विवाह था।[१७]

बौद्ध साहित्य में भी ऐसे विवाहों के कुछ उदाहरण मिलते हैं। मगध नरेश अजातशत्रु का विवाह अपने मामा कौशल नरेश की पुत्री वाजिरा के साथ हुआ था।[१८] महावीर स्वामी के अग्रज नन्दिवर्धन ने अपनी मातुल-दुहिता ज्येष्ठा से पाणिग्रहण किया था। बौद्धयुगीन काशी एवं शिवि राज्य के राजकुमारों ने अपनी भगनियों से विवाह किये थे।[१९] मद्या नामक गृहस्थ ने अपनी ममेरी महन सुजाता से विवाह किया था।[२०] राजकुमारी चित्रा ने अपने मामा के लड़के दीघ गमिनी (दीर्घ ग्रामणी) के साथ पाणिग्रहण किया।[२१] इस तरह के सपिण्ड विवाह प्रायः राजकुलों में ही प्रचलित थे, किन्तु साधारण जनता में भी ऐसे विवाह अनजाने नहीं थे। जातकों से ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिससे स्पष्ट होता है कि सपिण्ड विवाह यदा-कदा समाज में हो जाया करते थे, तथा इन्हें निन्द्य दृष्टि से नहीं देखा जाता था।

धर्मसूत्रों में सपिण्ड विवाह का स्पष्ट निषेध किया गया है।[२२] इसके द्वारा पिता के पक्ष में ७ पीढ़ी तथा माता के पक्ष मे ५ पीढ़ी तक विवाह वर्जित था।[२३] गौतम ने सपिण्ड विवाह करने वालों की भर्त्सना की है। इसके अनुसार सपिण्डता के नियमों का उल्लंघन करने वाला व्यक्ति जाति भ्रष्ट एवं पतित हो जाता है।[२४] वह आगे कहता है कि ७ और ५ पीढ़ी के बाद ही सपिण्डता से निवृत्ति मिलती है।[२५] इससे पहले नहीं। बौधायन ने दक्षिणात्यों में प्रचलित ऐसे विवाहों का संकेत किया है। जहाँ लोग मामा और बुआ की लड़की से विवाह करते थे।[२६] वैसे आज भी दक्षिण भारत में यह प्रथा प्रचलित है तथा ऐसे विवाह यहाँ के समाज में निन्द्य नहीं माने जाते।

मनु ने असपिण्ड विवाह का समर्थन किया है तथा सात और पाँच पीढ़ी तक ऐसे विवाह न करने की सलाह दी है।[२७] मौसी, मामा और बुआ की लड़की के साथ गमन करने पर उसने चान्द्रायण व्रत करके प्रायश्चित करने का परामर्श दिया है।[२८]

याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट रूप से पिता के सात पीढ़ी और माता के पाँच पीढ़ी तक विवाह न करने का संकेत दिया है।[२९] अन्य स्मृतियों में भी प्रायः पिता के सात और माता की पाँच पीढ़ी तक का निषेध किया है।[३०] पुराणों में भी पिता और माता की क्रमशः सात और पाँच पीढ़ी तक विवाह न करने का निर्देश दिया है।[३१] स्मृतियों पर भाष्य लिखने वाले पूर्व मध्य-युगीन लेखकों ने असपिन्डता का तार्किक समर्थन किया है। ऐसे लेखकों के दो वर्ग हो गये, एक उत्तर के, एक दक्षिण के। उत्तर के टीकाकारों ने सपिण्डता का विरोध किया है तथा दक्षिण के टीकाकारों ने समर्थन। चूंकि दक्षिण में सपिण्ड विवाह बहुत पहले से प्रचलित थे, इसलिए देवेशभट्ट, पराशर, माधव जैसे भाष्यकारों ने इसका समर्थन किया। मेधातिथि,[३२] विश्वरूप[३३] और विज्ञानेश्वर आदि टीकाकारों ने सपिण्डता का प्रबल प्रतिरोध किया है तथा ऐसे विवाह करने वालों को अधम बताया है।

अलबरूनी का कहना है कि सपिण्ड सम्बन्धी बहन, भतीजा, फूफिया, मौसी और उसकी पुत्रियाँ विवाह के लिए निषिद्ध हैं। निषिद्धता उस स्थिति में नहीं रहती जब विवाह सम्बन्ध स्थापित करने वाले व्यक्ति पाँच पीढ़ी तक एक दूसरे से अलग रहे हों। किन्तु इतना होने पर भी ऐसा विवाह उनमें पसन्द नहीं।[३४]

इस प्रकार हिन्दू समाज में सपिण्ड और सगोत्र विवाह पूर्णतया वर्जित माने जाते रहे हैं। हिन्दू परिवार में केवल बहिर्विवाह का ही सम्मान होता रहा है। आज भी हिन्दू समाज का उच्च वर्ग बहिर्विवाह में ही विश्वास करता है। अपने परिवार में विवाह न करके माँ-पुत्र, भाई-बहन और पिता-पुत्री के बीच यौन सम्बन्ध को प्रतिबन्धित करना है। इसीलिए धर्मशास्त्रों में ऐसे सम्बन्ध को अत्यन्त अनैतिक और गर्हित माना गया है।

सन्दर्भ

१. आप० ध० सू०,२.११.१५, सगोत्राय दुहितरं न प्रयच्छेत्। वि० ध० सू० २४९-१०, मनु० ३.५, असपिण्डा च या मातुर सगोत्रा च या पितुः। सा प्रशस्ता द्विजातीनां दार कर्मणि मैथुने ।।

२. शब्दकल्पद्रुम, द्वि० खं०, पृ० ३५५, पूर्व पुरुषान् यत्तत् गोत्रम्।

३. ऋग्वेद, २·२३·१८, ६·६५·५, अथर्व वेद, ५·२१·३

४. अष्टाध्यायी, ४·१·९३·

५. मेधातिथि, मनु० ३·५, स्मृतिचन्द्रिका, १ पृ० ७१, संस्कार प्रकाश पृष्ठ ६८०

६. म० नि० ११ ४० अम्भो पुरिस, यत्व जनपदकल्यापिं इच्छसि कामोसि, जानासि ते जनपद-कल्याणिः—खत्तिया वा ब्राह्मणो वा वेस्सी वासुददोवा वि एवं नाम एवं गोत्ता इति वा ति···· ।

७. ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ० १४४.

८. बोधायन, परा० स्मृ० द्वारा उद्धृत, २.२.

९. अपरार्क, पृ० ८०. आपस्तम्ब द्वारा उद्धृत, पृ० ११६.

१०. मनु० ११.१७१–७२ पैतृष्वसेयीं भगिनीं स्वस्त्रीयां मातुरं व च।
मातुश्य भ्रातुस्तनयां गत्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥
ए वा स्विस्त्रस्तु भार्यार्थे नोपयच्छेत्तु बुद्धिमान।
शातित्वेभानुपेयास्ताः पतित ह्युंपयन्नधः ॥

११. जातक, २.२३७, ४०३–४, ४.३४२–४३,

१२. गोत्र, प्रवर, निबन्ध-कदम्ब, प्र० २६९,

१३. गौ० धं० मू० ४.२, २३.१२ अक्षमानप्रवरैर्विवाहः। समानएकः प्रवरो येषां तैः सहन विवाहः।; २३.१२; नारद स्मृति, १२.७,
आसप्तमात्र्यचमाच्च बन्धुम्यः पितृमातृतः।
अविवाह्यास्सगोत्रास्तु समान प्रवरास्त था॥

१४. आपस्तम्ब द्वारा अदृत, पृ० ११६, समान गोत्र प्रवराम् कन्यामूढापगम्य च।
तस्यागुत्याद्य चाण्डालं ब्रह्मण्यादेव हीयते॥

१५. आप० श्रौ० सू०, २४-५-६।

१६. ऋग्वेद, ७·५५, परिशिष्ट ११ आयाहीन्द्र पार्थभिरीडिनेभिर्पज्ञमिमं नो भागधेयं जुषस्व।
तृप्तां जुहूर्मातुलस्येव योषा भागस्ते पैतृष्वसेयीवपामिव॥

१७. महाभारत, आदिपर्व, १११·१-३।

१८. जातक, २, पृ० २३७, ४०३-४,४,४ पृ० ३४२-४३

१९. वही, १ पृ० ४५७; २, पृ० ३२७;६ पृ० ४८६

२०. धम्मपद टीका, पृ० २६५

२१. महावंश, अ० ९

२२. गो० गृ० सू० ३.४.५, आप० ध० सू० २.५.११-१६, सुमन्त का उद्धरण, पितृपत्यस्सर्वा मातरस्तद्भ्रातरो मातुलाः तत्सुता मातुलसुतास्तस्मात्तानोपयन्तव्या।

२३. गौ० ध० सू० १.४.३; असमान प्रवरैर्विवाहः। ऊर्ध्वसप्तमात्पितृबन्धुभ्यो बोजिनश्चे। मातृबन्धुभ्यः पंचमात्।

२४. गौ० ध० सू० ३.२.१

२५. वही, १.४.१३, पिण्डनिवृत्तिः सप्तमे पंचमे वा।

२६. बौ० ध० सू० १.१.२१-२२।

२७. मनु० ३.५; ९.१८६।

२८. मनु०, १११.१७१-७२।

२९. याज्ञ० १.५३, पंचमात्सप्तमादूर्ध्वं मातृतः पितृस्तथा।

३०. नारद० १२.७३-७५, विष्णु ३६.४-७, शंख स्मृति ४.१ विन्देत विविधवद्भार्यामसमानार्षगोत्रजाम्। मातृतः पंचमी चापि पितृतस्त्वथ सप्तमीम॥

३१. वि० पु० ३.१०.२३, पचमीं मातृपक्षाच्च पितृपक्षाच्च सप्तभूमि। गृहस्थश्चोद्वहेत्कन्या नान्येन विधिना नृप।

३२. मेघातिथि मनु० ९.१८६।

३३. विश्वरूप-याज्ञ० १.५३।

३४. ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ० १४५।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का विकास क्रम : एक भौगोलिक समीक्षा

डा० हरिहर सिंह* एवं सुरेश चन्द्र राय**

प्रारम्भिक इतिहास :

सन् १८८० और ८४ के बीच की बात है। म्योर सेन्ट्रल कालेज, प्रयाग के एक छात्र मदन मोहन मालवीय के मन में यह बात पीड़ा दे रही थी कि हमारे देश के विद्यार्थियों को विदेश क्यों जाना पड़े, फिर विद्यार्थियों का नैतिक पतन देखकर उनके मन में यह भावना हुई कि क्यों न पुराने आश्रम के आधार पर नये आश्रम खुलें। उन्होंने बहुतों से यह बात कही, किसी ने सुना और हँस दिया, किसी ने कहा पागल हुए हो। इन सब बातों से छात्र मालवीय विचलित नहीं हुए।

सर्व प्रथम १९०४ में काशी नरेश महाराज श्री प्रभुनारायण सिंह की अध्यक्षता में एक सभा "मिन्ट हाउस" में हुई जिसमें काशी हिन्दू विद्यालय की स्थापना का प्रस्ताव विचारार्थ रखा गया। प्रारम्भ में लोगों को मालवीय जी के इस विचार के मूर्तरूप में परिणत होने में सन्देह हुआ, परन्तु अन्ततः इसे वैचारिक स्वीकृति मिल ही गयी। ३१ दिसम्बर १९०५ को बी० एन० महाजन की अध्यक्षता में काशी के टाउन हाल की सभा में भी यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया।

इसके तुरन्त बाद २० से २९ जनवरी तक सन् १९०६ में प्रयाग में परमहंस परिव्रजकाचार्य, जगद्गुरु श्री स्वामी शंकराचार्य जी के सभापतित्व में सुप्रसिद्ध साधुओं तथा विद्वानों की सनातन धर्म महासभा में भी यह प्रस्ताव स्वीकृत हो गया।

सन् १९०४ में महामना ने हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना का संकल्प लिया। लगभग एक दशक के प्रयास के बाद[1] अक्टूबर सन् १९१५ को संसद में हिन्दू विश्वविद्यालय बिल रखा गया और वह स्वीकृत हो गया। ४ फरवरी १९१६ की बसंत पंचमी के दिन अपराह्न १२ बजे महामना ने भव्य समारोह के मध्य अपने स्वप्न को मूर्त रूप प्रदान किया। पहले इसका शिलान्यास स्वामी श्री शंकराचार्य जी से कराने का विचार रखा गया था, लेकिन उनके न आ सकने के कारण तत्कालीन गर्वनर जनरल लार्ड हार्डिग्ज के कर-कमलों द्वारा विश्वविद्यालय का शिलान्यास करवाया गया। आज का विशाल विश्वविद्यालय १३०० एकड़ भूमि में फैला हुआ महामना के साकार यश की प्रतिमा है।

परिकल्पना :

प्रश्न उठता है कि महामना की अवधारणा क्या थीं ? वे कौन-से रत्न थे जिन्हें भारतीय संस्कृति से बटोरकर उन्होंने हमारे चरित्रों में जड़ना चाहा, एक ऐसा भव्य विद्याभवन जिसमें कर्मठ राष्ट्र निर्माता ढाले जा सकें ? कौन थे वे आदर्श जिनसे प्रेरित होकर उन्होंने रोशनी की मीनार काशी हिन्दू विद्यालय की स्थापना की ? धर्म और प्राविधिक ज्ञान-विज्ञान

*आचार्य, भूगोल विभाग, बी० एच० यू०। **शोध छात्र, भूगोल विभाग, बी० एच० यू०।

के कौन से स्वरूप उन्हें प्रोत्साहित कर रहे थे, जो उनकी प्रेरणा के स्रोत थे।

महामना, भारत को नेतृत्व प्रतिभा को पहचानते थे, वे जानते थे कि किसी भी देश के विकास में उस देश के युवक युवतियों का विशेष हाथ होता है परन्तु उन्हें ऐसी शिक्षा के माध्यम से तैयार करना होगा जो आधुनिक होने के साथ साथ धर्म और नीति पर विशेष बल दें।

स्वराष्ट्र को शक्तिशाली बनाने के लिए, अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव के लिए राष्ट्र की भावी विकास चेतना के लिए और निखिल मानवता को आध्यात्मिक गंगा में नहलाने के लिए[२] ही मालवीय जी ने काशी में पवित्र गंगा के तट के किनारे प्राचीन गुरुकुल प्रणाली के आधार पर आधुनिक युग के इस विश्वविद्यालय के स्थापना की परिकल्पना की जिसका शैक्षणिक स्तर एवं व्यवस्था किसी भी विदेशी विश्वविद्यालय से कम न हो। नालन्दा एवं तक्षशिला विश्वविद्यालय के समान एक ही प्रांगण में देश विदेश के छात्र छात्रायें एक साथ मिलकर रहें एवं विभिन्न कला विज्ञान आदि में विशेषता प्राप्त करें। एक ही परिसर के अन्दर कहीं विज्ञान की शिक्षा का प्रबन्ध हो तो कहीं कला की। कहीं साहित्य पढ़ाया जा रहा हो, तो कहीं दर्शन, कहीं तर्क शास्त्र हो तो कहीं आयुर्वेद, कहीं कृषि सम्बन्धी योग्यता प्रदान की जा रही हो, तो कहीं धर्म सम्बन्धी वैदिक मन्त्रोच्चार आदि।

संस्थापक का उद्देश्य :

महामना मालवीय जी ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना निम्नलिखित उद्देश्यों से की थी।

१. श्रुतियों तथा स्मृतियों द्वारा प्रतिपादित वर्णाश्रम के पोषक सनातन धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए धर्म के शिक्षक तैयार करना।
२. संस्कृत भाषा और साहित्य के अध्ययन की अभिवृद्धि।
३. भारतीय भाषाओं तथा संस्कृत द्वारा वैज्ञानिक तथा शिल्प कला सम्बन्धी[३] शिक्षा। इसके अतिरिक्त विश्वविद्यालय में निम्नांकित संस्थाएँ होगीं।
 (क) वैदिक विद्यालय; जहाँ वेद, वेदांग, स्मृति, दर्शन, इतिहास तथा पुराणों की शिक्षा दी जायगी।
 (ख) आयुर्वेद विद्यालय; जिसमें एक प्रयोग शाला, तथा वनस्पतिशास्त्र के अध्ययन के लिए एक उद्यान हो, एक सर्वोत्कृष्ट चिकित्सालय तथा पशुचिकित्सालय की स्थापना की जाय।
 (ग) स्थापत्य वेद एवं अर्थ शास्त्र; जिसके अन्तर्गत भौतिक शास्त्र विभाग, प्रयोगों तथा अन्वेषणों के लिए प्रयोग शाला, और मशीन तथा बिजली का काम सीखने के लिए इंजिनियरों की शिक्षा के लिए यन्त्रालय की स्थापना की जाय। इसके अतिरिक्त रसायन विभाग, शिल्प कला विभाग, कृषि विद्यालय, गन्धर्व वेद तथा अन्य ललित कलाओं का विद्यालय एवं भाषा विद्यालय आदि स्थापना का मुख्य उद्देश्य था।

स्थिति एवं विस्तार :

काशी हिन्दू विश्व विद्यालय गंगा नदी के बांई ओर (अंक्षाश २५° १८' उत्तर और ८३° पूर्वी देशान्तर) स्थित है। यह देश के प्रमुख नगरों से रेल तथा सड़क मार्ग द्वारा जुड़ा

हुआ है। यह दिल्ली से ७२७ किमी०, कलकत्ता से ६९६ कि मी० और बम्बई से १५०६ कि मी० की दूरी पर स्थित है।

२. विश्वविद्यालय की स्थापना के पूर्व का क्षेत्रीय स्वरूप :

काशी हिन्दू विश्व विद्यालय की स्थापबा की स्वीकृति मिल जाने के बाद मालवीय जी के सामने सबसे बड़ी समस्या यह थी कि इतनी बड़ी मात्रा में जमीन कहाँ मिलेगी जहाँ विश्वविद्यालय का मूर्तरूप साकार किया जाय। तत्कालीन नरेश (काशी) महाराज श्री प्रभुनारायण सिंह जी ने नगवा, सीर, छित्तूपुर से सम्बन्धित गाँव विश्वविद्यालय के निर्माण के लिए मालवीय जी को दे दिया। वर्तमान विश्वविद्यालय १३०० एकड़ की भूमि पर जो कि तेरह गाँवों के लोगों से ली गई थी, बना हुआ है। इन गाँवों के लोगों को सरकारी दर पर भूमि का मुआवजा दिलाकर खाली कराया गया, परन्तु फिर भी कुछ अड़चने आयीं। मालवीय जी पर लाठी भो चलायी गयी। अन्ततः मालवीय जो महाराज अपने सुलझे हुए विचारों तथा साम, दाम, दण्ड, भेद, नीति के आधार पर अपने प्रयास में सफल हुए। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय निम्नलिखित गाँवों की भूमि पर बसा हुआ है। उन गाँवों का नाम तथा क्षेत्रफल निम्नलिखित है :—

सारिणी नं० १

क्रम सं०	गाँव का नाम	क्षेत्रफल (एकड़ में)	प्रतिशत
१.	नगवा दरबार	३७.८४	२.९१
२.	भगवान पुर दरबार	१४.४६	१.११
३.	भगवानपुर	७८.४२	६.०३
४.	नरिया	२९५.३१	२२.७१
५.	धनञ्जयपुर	१२२.९३	९.४५
६.	खिजराही	५२.००	४.००
७.	जंगमपुर	७५.६८	५.८२
८.	सुसुवाही	१३३.०८	१०.२३
९.	सीर गोबर्द्धनपुर	२१४.५३	१६.५०
१०.	छित्तूपुर	१९१.२८	१४.७१
११.	डाफी	अज्ञात	—
१२.	करमनवोर	"	—
१३.	सोनवरसा	"	—
		१३००.००	१००%

स्रोत:—हिस्ट्री आफ बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी—एस० एल० दर एवं एस० सोमसकन्दन पेज.४०४।

मुख्यतया उपर्युक्त गाँवों में भूमिहार, ब्राह्मण, यादव, कुर्मी, चमार आदि जातियाँ रहती थीं। विश्वविद्यालय की स्थापना के पूर्व इन गाँवों में कुल मिलाकर सात हजार पेड़ पौधे, एक सौ पक्का कुआँ, चौबीस कच्चा कुआ, चालीस पक्का मकान एवं आठ सौ साठ कच्चे मकान थे। इसके अतिरिक्त कुछ मन्दिर, धर्मशाला, बाग जो मुख्यतः पंचकोसी सड़क की तरफ थे, इसमें सम्मिलित हैं। लगभग एक हजार एकड़ भूमि पर खेती की जाती थी। जो मुआवजा गाँव के लोगों को दिया गया वह करीब सात लाख रुपया था।

३. विश्वविद्यालय विकास क्रम :

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का विकास, जिस दिन स्थापना हुई अर्थात ४ फरवरी १९१६ से ही प्रारम्भ हो गया था। विश्वविद्यालय का विकास मालवीय जी के अद्वितीय नियोजन स्वरूप का प्रतिफल है।

मालवीय जी के विश्वविद्यालय का मानचित्र सुव्यवस्थित नियोजन का प्रतिफल है। वाराणसी नगर भगवान शिव के ललाट पर प्रतिष्ठित अर्द्ध चन्द्र की भाँति है। अर्ध चन्द्राकार विश्वविद्यालय परिसर इस तथ्य को प्रतिबिम्बित करते हुए नगर की आधार भूत भावनाओं से जुड़ जाता है। इसके भूविन्यास नियोजन को मालवीय जी ने राष्ट्रीय पक्षी मोर के पंखों की कल्पना करके इसे राष्ट्रीय धारा से जोड़ दिया है।

एशिया का यह सबसे बड़ा विश्वविद्यालय एक ही परिसर के अन्दर स्थित है। इसमें आवश्यकता की सभी वस्तुएँ उपलब्ध हैं।

विश्वविद्यालय के विकास में अंग्रेजों का प्रभाव :

विश्व विद्यालय स्थापना की वैचारिक स्वीकृति मिल जाने के बाद इसके सामने सबसे बड़ी समस्या थी सरकार से विश्वविद्यालय की मान्यता प्राप्त करना। उन दिनों देश के शिक्षा मंत्री, सर हाई कोर्ट बटलर थे। उन्होंने मालवीय जी से स्पष्ट कह दिया कि यदि शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी रखा जाय, तभी सरकार चार्टर या मान्यता देगी अन्यथा नहीं, क्योंकि आप लोग जिस समय तक अंग्रेजी भाषा में लिखते, बोलते, पढ़ते-पढ़ाते हैं, तब तक तो हमें शांति रहती हैं, उस समय तक हम आपकी सब बातों को और चालों को भली भाँति समझ सकते हैं और स्थिति संभाल सकते हैं। मालवीय जी ने सोच विचार कर समय तथा भारतवासियों के लिए शिक्षा का महत्त्व समझ कर बटलर की उक्त बात मान ली। इस सम्बन्ध में पंजाब केसरी लाला लाजपत राय ने जब महामना से कहा कि "चार्टर मिले या न मिले, विश्व विद्यालय तो बनेगा ही।" महामना ने उत्तर दिया कि "चार्टर मिलेगा और मिलेगा—एवं विश्वविद्यालय बनेगा और बनेगा"। कहने का तात्पर्य यह है कि इसकी स्थापना से ही अंग्रेजी की गन्दीनीति का शिकार यह विश्वविद्यालय होता रहा। अंग्रेज चार्टर न देने की धमकी, विश्वविद्यालय को सरकारी अनुदान न देने की धमकी बराबर देते रहे, परन्तु मालवीय जी ने सब परिस्थितियों का दृढ़ता पूर्वक सामना किया।

विश्वविद्यालय के विकास में राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रभाव :

महामना ने विश्वविद्यालय की स्थापना ऐसे राष्ट्रीय उद्देश्यों को लेकर की थी कि यहाँ के छात्रों, अध्यापकों, कर्मचारियों का राष्ट्रीय आन्दोलन से न जुड़ने का कोई प्रश्न ही नहीं पैदा

होता था। यह विश्वविद्यालय देश-भक्त तथा प्राविधिकियों के निर्माण का स्थल था। २५ नवम्बर १९३० को मालवीय जी ने विश्व विद्यालय की कार्य समिति के माध्यम से सरकार को लिखवाया कि "काशी हिन्दू विश्वविद्यालय राष्ट्रीय संस्था है, यहाँ धर्म तथा नैतिकता की शिक्षा द्वारा नवयुवकों का चरित्र निर्माण करना इसका मुख्य उद्देश्य है। देश भक्ति एक शक्तिशाली उत्कर्ष है। इसके विकास में विश्वविद्यालय का सहयोग आवश्यक है''''राष्ट्रीय आन्दोलन के समय अध्यापकों तथा विद्यार्थियों से राष्ट्रीय लहर से प्रभावित न होने की आशा नहीं की जा सकती है। जब अंग्रेज अपने यहाँ देश भक्ति को पवित्र मानते हैं तो हमसे वे ऐसी आशा क्यों करते हैं कि हमारे विश्वविद्यालय में देश भक्ति की लहर नहीं होगी।"

सन् १९४२ के राष्ट्रीय आन्दोलन से जुड़ जाने के कारण अंग्रेजी सरकार ने विश्वविद्यालय को अनुदान देना बन्द कर दिया। यहाँ के अध्यापकों एवं कर्मचारियों ने मालवीय जी से कहा कि हम लोग बिना वेतन के काम करने के लिए तैयार हैं। इससे मालवीय जी को राहत मिली। बाद में गांधी जी तथा मालवीय जी के प्रयास से अनुदान मिलना पुनः आरम्भ हो गया। तात्पर्य यह कि विश्वविद्यालय का राष्ट्रीय आन्दोलन में महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के विकास को हम चार चरणों में बाँटकर उसका अध्ययन करेंगें। मन्दिर आदि का निर्माण कार्य मालवीय जी के ही समय शुरू हो गया था लेकिन इसका निर्माण कार्य बाद में पूरा हुआ।

अ—विकास का प्रथम चरण :

इसे हम प्रगति का काल भी कह सकते हैं। इसके अन्तर्गत १९१६ से लेकर १९५० तक के विकास का अध्ययन करेंगे। वैसे तो इस काल का विकास बहुत से कुलपतियों जैसे डा० सर सुन्दर लाल (१९१६-१८), डा० पी० एस० शिवस्वामी अय्यर (१९१८-१९), पं० मदन मोहन मालवीय (१९१९-३९), डा० एस० राधाकृष्णन (१९३९-४८) एवं अमरनाथ झा (१९४८) आदि की देख-रेख में हुआ लेकिन इस समय जो भी विकास हुआ वह मालवीय जी की देख-रेख में हुआ। अतः इस काल को मालवीय काल कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

सारिणी नं० २

क्रम सं०	१९१६-१९५०	क्षेत्रफल वर्गफीट में
१.	संस्कृत कालेज	४६३८६
२.	कला संकाय	१७७३६६
३.	पुस्तकालय भवन	७५०८७
४.	खनन एवं अभियांत्रिकी विभाग	१६०३०७
५.	विज्ञान संकाय	३३१८२
६.	आई० टी० कम्पलेक्स एवं इन्जिनियरिंग	अज्ञात
७.	केन्द्रीय कार्यालय	७४५८१
८.	ओल्डजी कालोनी	२५४४०

९.	एफ क्लास कालोनी	१७४५८
१०.	जी क्लास हैदराबाद "	२४७८९
११.	जी क्लास लेडीज "	६८००
१२.	नया डीक्लास "	२६६६६
१३.	नया एफ क्लास "	२५३२६
१४.	नया जी क्लास जोधपुर कालोनी	२०४७१
१५.	नया ई क्लास "	३१२०४
१६.	नया सी क्लास जोधपुर "	४१५७
१७.	कृष्ण कुटीर	अज्ञात
१८.	सीता निवास	३४८७
१९.	मालवीय भवन	१३८८६
२०.	छात्राओं का छात्रावास (पुराना)	४४८५३
२१.	बिरला छात्रावास	१४१६६७
२२.	ब्रोचा छात्रावास	१४१६६७
२३.	रुइया छात्रावास	१०१२२८
२४.	पी० डब्लू० डी० स्टोर	१३९६६

स्रोत : सार्वजनिक निर्माण विभाग—बी० एच० यू० ।

ब—विकास का द्वितीय चरण (१९५१-६०)

विकास के इस चरण में अपेक्षाकृत कम विकास हुआ। कारण यह था कि इसके संस्थापक महान कर्मयोगी महामना का स्वर्गवास वर्ष १९४६ ई० में हो गया था और भारत वर्ष इसी अवधि (वर्ष १९४७ ई०) में स्वाधीन हुआ था। अतः नये सिरे से देश को अपनी योजनाओं तथा आर्थिक स्थिति का विकास करना था। इसका विकास निम्नलिखित कुलपतियों जैसे—पं० गोविन्द मालवीय (१९४८-५१), आचार्य नरेन्द्रदेव (१९५१-५४), डा० सी० पी० रामास्वामी अय्यर (१९५४-५६) एवं डा० वेणी शंकर झा (१९५६-६०) आदि की देख-रेख में सम्पन्न हुआ। इसे हम निम्न सारिणी की सहायता से देख सकते हैं।

सारिणी नं० ३

क्रम सं०	१९५१-६०	क्षेत्रफल वर्गफीट
१.	सिटी स्टूडेण्ट होम (पुराना)	५१३६
२.	एच क्लास कालोनी	१८८२७
३.	नया छात्रावास लड़कियों के लिए	५०४८१
४.	कस्तूरबा छात्रावास	१६१६७
५.	डे छात्रावास	५७४५९
६.	भगवानदास "	५२६९६
७.	गुर्टू "	५२६९६

८.	राधाकृष्णनन "	५२६९६
९.	वीमेन्स कालेज	अज्ञात
१०.	इण्डोलाजी	३०६७१
११.	म्युजिकोलाजी	१४००२
१२.	कृषि महाविद्यालय	११५४४८
१३.	आपरेशन थिएटर	अज्ञात
१४.	कला भवन	२२५५ (गैलरी)

स्रोत : सार्वजनिक निर्माण विभाग, बी० एच० यू० ।

स—विकास का तृतीय चरण (१९६१–७०)

विकास के तृतीय चरण में सर्वाधिक विकास का कार्य हुआ। विकास का काम मुख्यतः न्याय मूर्ति श्री एन० एच० भगवती (१९६०-६६), डा० त्रिगुण सेन (१९६६-६७), एवं डा० ए० सी० जोशी (१९६७-६९), आदि की देख-रेख में हुआ। विश्वविद्यालय का अधिकांश भवन एवं विभाग इसी चरण में पूरा हुआ। इस चरण में मेडिकल कालेज, हाबी सेन्टर, एम्पीथिएटर, मल्टीपरपज हाल, क्लब, तरण ताल, मन्दिर एवं छात्रावासों का निर्माण पूरा हुआ। इस काल में सर्वाधिक विकास इस कारण हुआ कि देश को आजाद कराने में विश्वविद्यालय की अहम भूमिका रही तथा स्वतन्त्रता के बाद यही ऐसा विश्वविद्यालय था जो राष्ट्रीय उद्देश्यों की पूर्ति कर सकता था जिसके कारण इसके विकास के लिए अधिकाधिक आर्थिक सहायता प्रदान की गयी। इसको हम निम्नलिखित सारणी की सहायता से देख सकते हैं—

सारिणी नं० ४

क्रम सं०	१९६१-७०	क्षेत्रफल वर्ग फीट
१.	युनिवर्सिटी क्लब	अज्ञात
२.	पोस्ट आफिस भवन	५३५५
३.	पी० ए० वी० एक्स०	अज्ञात
४.	एन० सी० सी०	१८८२५
५.	पैवेलियन मेडिकल कालेज	१४०२
६.	शापिंग सेन्टर	४२१९
७.	बैडमिन्टन कोर्ट	१०८३१
८.	तरण ताल	२७५६०
९.	सिटी स्टुडेन्ट होम नया	४८६५
१०.	आर्टस कालेज पेवेलियन	२७२९
११.	विश्वनाथ मन्दिर	४८८६४
१२.	मेडिकल एनक्लेब	अज्ञात
१३.	युनिवसिटी गेस्ट हाउस	१६२३०

१४.	मल्टी फ्लेट हाउस	११०९९
१५.	ज्योति कुंज छात्रावास	४४८५३
१६.	नर्स छात्रावास	१४०८५
१७.	इण्टरनेशनल छात्रावास	१२२५३
१८.	इण्टरनेशनल एनेक्सी	अज्ञात
१९.	डाक्टर छात्रावास	२०५५०७
२०.	ला छात्रावास	२२२६२
२१.	अय्यर "	४९४७२
२२.	विश्वकर्मा "	६२५३१
२३.	विवेकानन्द "	६२५३१
२४.	रामाकृष्णा "	३४२१६
२५.	रामन छात्रावास	२५६२०
२६.	टीचर्स फ़्लैट पुराना	१८३१२
२७.	चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी भवन	२२०००
२८.	एडवांस स्टडी इन फिलॉस्फी	१६९६
२९.	न्यूमेस्टिक सोसायटी	अज्ञात
३०.	आर्टस कालेज आडिटोरियम	अज्ञात
३१.	मेडिकल कालेज	१६७६७४
३२.	हावी सेन्टर	१७०२
३३.	नर्स ट्रेनिंग स्कूल	६०००
३४.	टीचर्स ट्रेनिंग कालेज	२१९३६
३५.	एम्पी ग्राउण्ड	२५३२४
३६.	स्टेट बैंक आफ इण्डिया	अज्ञात
३७.	मल्टी परपज हाल	१३३२१
३८.	वी० एच० यू० प्रेस	१२२८२
३९.	साइकिएट्री, बच्चों एवं आंख, कैंसर चिकित्सालय	६३४
४०.	स्पेशल वार्ड, आंख का वार्ड	२७१८
४१.	सर सुन्दर लाल चिकित्सालय	१९५५००
४२.	एक्सरे लेक्चर थिएटर	अज्ञात
४३.	हेल्थ सेन्टर	३५४७
४४.	जी क्लास लेडीज क्वार्टर, पी० डब्लू डी०	६८००

स्रोत :—सार्वजनिक निर्माण विभाग—वी० एच० यू०।

द—विकास का चतुर्थ चरण (१९७१–७९) :

विकास के चतुर्थ चरण में भी विकास का काम तृतीय चरण की भांति पर्याप्त हुआ। इस काल के अन्तर्गत ५५० बेड का अस्पताल, हिन्दी भवन, बिजनेस मैनेजमेन्ट भवन, हेल्थ

सेन्टर (नया) सेन्ट्रल स्कूल एवं कालोनी, छात्रावास, आदि का विकास हुआ। इस काल का विकास डा० के० एल० श्रीमाली (१९६९-७७) डा० एस० एल० धर (१९७७) एवं डा० हरिनारायण (१९७७-८१) की देख-रेख में हुआ। मुख्य विकास डा० श्री माली के काल में हुआ। इसको हम निम्नलिखित सारिणी के माध्यम से भली भांति समझ सकते हैं।

सारिणी नं० ५

क्रम सं०	१९७१–७९	क्षेत्रफल वर्गफीट
१.	कैफटैरिया भवन	३९५७
२.	लेडीज कालोनी	अज्ञात
३.	मेडिकल स्टाफ भवन	८१६९४
४.	प्रोफेसर क्वार्टर	अज्ञात
५.	रीडरस "	२२२००
६.	लेक्चररस "	३०७२०
७.	संरक्षक क्वार्टर भाभा	अज्ञात
८.	संरक्षक क्वार्टर राजाराम मोहनराय छात्रावास	अज्ञात
९.	संरक्षक क्वार्टर अय्यर छात्रावास	अज्ञात
१०.	इण्टरनेशनल हाउस	१२२५३
११.	नर्स छात्रावास नया	२९०५३
१२.	विश्वेश्वरैया छात्रावास	५५६५७
१३.	राजाराम मोहनराय "	अज्ञात
१४.	धनवंतरी "	५११०३
१५.	डालमियाँ "	अज्ञात
१६.	मिनिस्ट्रीयल स्टाफ क्वार्टर	अज्ञात
१७.	न्यू कृषि छात्रावास	अज्ञात
१८.	टीचर्स फ्लेट न्यू	११०९९
१९.	हिन्दी भवन	१७३७३८
२०.	विजनेस मैनेजमेन्ट भवन	१२०१०
२१.	सेन्ट्रल स्कूल	८०२०
२२.	वर्कशाप मेडिकल कालेज	अज्ञात
२३.	फार्मकोलाजी	अज्ञात
२४.	माइक्रोवायलाजी	अज्ञात
२५.	हास्पिटल प्राइवेट वार्ड	अज्ञात
२६.	५५० बेड अस्पताल	अज्ञात
२७.	हेल्थ सेन्टर न्यू	अज्ञात
२८.	ला कालेज	३४९६४

स्रोत :—सार्वजनिक निर्माण विभाग—बी० एच० यू०।

५—नियोजित भूमि उपयोग का प्रयास :

जैसा कि हम जानते हैं काशी हिन्दू विश्व विद्यालय नियोजित विकास का एक अच्छा उदाहरण है। इस प्रकार का नियोजित विकास बहुत कम देखने को मिलता है। इसका नियोजन इस प्रकार किया गया था कि बीच में मन्दिर एवं एक ओर छात्रावास तो दूसरी ओर इसके क्रीड़ा के क्षेत्र और इसके दक्षिण कालेज होगा। मन्दिर के एक ओर कर्मचारियों के आवास तथा केन्द्रीय कार्यालय अलग, एक तरफ रहेगा, जो यथा सम्भव सभी क्षेत्र के विभागों से न्यूनतम दूरी केन्द्र पर स्थित रहेगा।

इसके नियोजन में कुछ परिवर्तन कर दिया गया है जैसे वनस्पति विभाग एवं जन्तु विज्ञान विभाग के भवन, अन्य पुराने भवनों से भिन्न हो गये हैं। मालवीय जी चाहते थे कि सम्पूर्ण भवनों की आकारिकी एक समान रहे। इसके अतिरिक्त हैदराबाद कालोनी में भी कुछ भवन भिन्न तरीके से बन रहे हैं।

वास्तुकला में भी मालवीय जी ने एक समता रखी थी और सभी भवनों के ऊपर मन्दिराकृति के गुम्बज का निर्माण कराया था, परन्तु बाद के बने हुए प्राविधिकीय संस्थान आदि के नवीन भवनों की वास्तुकला में अन्तर आ गया है। इन सब बातों के होते हुए भी इसके मूल नियोजन का विकास महामना की परिकल्पना के अनुसार ही हो रहा है। महामना ने इसके विकास और विस्तार के लिए व्यापक नियोजन किया था, जिसके परे अभियन्तागण कुछ नवीन नहीं कर रहे हैं। इसके विस्तार की इतनी सम्भावना इसके संस्थापक के परिकल्पना में था कि आगामी शताब्दी के जनसंख्या कि विकास की आवश्यकता के अनुरूप इसका विस्तार अबाध रूप से किया जा सकता है।

सन्दर्भ

१. महामना पं० मदन मोहन मालवीय—सम्पादक पं० सीताराम चतुर्वेदी, पृष्ठ १००।
२. प्रज्ञा, होरक जयन्ती विशेषांक, पृष्ठ १८४।
३. महामना पं० मदन मोहन मालवीय—सम्पादक पं० सीताराम चतुर्वेदी, पृष्ठ १०३-१०४।
४. काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय का इतिहास—एस०एल० दर और एस० सोमस्कन्दन।

रीतिकाल में श्रृंगार और भक्ति संगीत के स्रष्टा वख्शू नायक

श्रीमती वीणा पाण्डेय*

सामंत संस्कृति की साहित्यिक उपलब्धि के रूप में रीतिकाव्य मुख्यतः काव्यशास्त्रीय विवेचना का पर्याय है। यद्यपि इस काल में पर्याप्त काव्यरचना भी हुई लेकिन प्रकारान्तर से यह सारी रचनात्मकता काव्य शास्त्रीय लक्ष्य का लक्षण मात्र है। काव्य शास्त्रीय लक्षणों का निर्धारण करते समय रीतिकाल के आचार्य कवि संस्कृत के साहित्याचार्यों के पथ पर ही चलते रहे। उनका अधिकांश लेखन संस्कृत काव्य शास्त्र की प्राचीन परम्परा का पुनर्कथन या भाषान्तरण है। इन पंडित कवियों ने समकालीन आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए श्रृंगारपरक साहित्य को ही मुख्यता दी। यह दूसरी बात है कि भक्तिकालीन साहित्य के प्रभाव के कारण श्रृंगार परक साहित्य पर धर्म का कवच भी चढ़ा हुआ है। लेकिन धार्मिकता प्रमुख वक्तव्य नहीं है, परम्परा का ऐहिक विस्तार मात्र है। यह आकस्मिक नहीं है कि रीतिकाल के इतिहासकारों ने धार्मिकता के बावजूद काव्यशास्त्रीय लक्षणों के प्रभाव के कारण इस काल के सम्पूर्ण साहित्य को रीति साहित्य कहा।

यह लक्ष्य करने की बात है कि हिन्दी के रीति कालीन आचार्य रीतिवादी एक विशिष्ट अर्थ में हैं। वे सीधे संस्कृत के रीतिसम्प्रदाय से सम्बद्ध नहीं हैं। वे काव्यशास्त्र की निर्धारित पद्धतियों का पुनर्कथन करते हैं इस अर्थ में ही वे रीतिवादी हैं। रस, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति और यथावसर रीति की भी चर्चा करते हैं। इस तरह इस रीतिकाल में काव्यशास्त्रीय रीतियाँ काव्य के प्रायः सभी प्रसिद्ध शास्त्रीय पक्षों से सम्बद्ध हैं। वस्तुतः वे काव्य को शास्त्रबद्ध कला के रूप में ग्रहण करते हैं। काव्यकला भाषा-संरचना की दृष्टि से उनके लिए चमत्कार प्रदर्शन है। भाषा की बनावट और बुनावट दोनों दृष्टियों से वे कौशल-प्रदर्शन में अधिक तल्लीन दिखाई पड़ते हैं। वस्तुतः सामंत युग में लक्ष्य की सभी सम्भव दिशाओं का विकास हुआ। इस युग की शास्त्रबद्ध काव्य कला को संगीत कला और वास्तुकला की संगति में देखा जा सकता है। इस तरह कलात्मकता सामंतयुग की प्रमुख विशेषता के रूप में प्रत्यक्ष हुई।

रीतिकाल में केन्द्रीय सत्ता विश्रृंखल हो जाती है। देश में सर्वत्र छोटे-छोटे सामंतों का अभ्युदय होता है। इस प्रकार सामंतों से जुड़ी हुई एक विशेष प्रकार की राजनैतिक स्थिति का अभ्युदय होता है। क्षेत्रीयता, संकीर्ण राष्ट्रीयता, जाति और धर्म विषयक दम्भ एक ऐसे भारतीय समाज की रचना करते हैं जिसमें खण्डों का मिलाजुला एक अखण्ड वस्त्र भूसा, खान-पान, अलंकार, इत्यादि के प्रति अधिक आसक्त दिखाई पड़ता है। यह आसक्ति ही इस पूरे सामंत समाज को एक ऐसे रसिक समाज में रूपान्तरित कर देती है कि इस समाज के लिए श्रृंङ्गार और अध्यात्म जैसे परस्पर विरोधी सीमान्त एक दसरे में एकाकार हो जाते हैं। धर्म की

* शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।

यह ऐहिकता इन्हें एक ऐसे 'महानायक' से जोड़ती है जिसका नाम कृष्ण है। जिसकी हजार हजार प्रेमिकाएँ हैं जो वंशी श्रवण पर झूमती रहती हैं। रास और लास का संगम उपस्थित हो जाता है। रीतिकालीन कृष्ण की वंशी कविता से होती हुई संगीत के क्षेत्र तक भी बजती है। इस तरह कृष्ण के नायकत्व में यह तत्व एकत्र होता हुआ दिखाई पड़ता है। जिसके काव्य, नृत्य और संगीत जैसे कई स्फटिकफलक हैं। अलग-अलग किन्तु पारदर्शी, एक दूसरे की कान्ति को धारण करते हुए। अतः संगीत को रीति कालीन कला-परम्परा का एक प्रमुख घटक मानना ही होगा।

काव्य और संगीत के परस्पर सम्बन्ध के कारण ही न केवल रीतिकालीन रचनायें बल्कि प्राचीन संतों और भक्तों की रचनायें भी विभिन्न राग-रागिनियों के शीर्षकों में बँधकर संग्रहीत होती हुई दिखलाई पड़ती हैं। अनेक काव्य-हस्तलेख रागरागिनियों में अनुबद्ध हैं। इस युग में यह बात स्थिर होने लगी थी कि कविता को रागबद्ध ही होना चाहिये। संगीत प्रियता का यह पक्ष एक दूसरी ओर भी संकेत करता है अर्थात इस युग के संगीतकार संगीत के लिये कविता को सामान्य भाषिक आधार ही नहीं मानते थे बल्कि कविता पर निर्भर भी करते थे और संगीतकार होने के साथ-साथ काव्यरसिक और काव्यकार भी होना चाहते थे।

बख्शू 'नायक' एक ऐसा ही संगीतकार है जो कवि भी है। उसने द्रुपद की गायकी को पूर्ण शास्त्रीय गरिमा तक प्रतिष्ठित किया, उसके शास्त्र को व्यवस्थित किया और यथावसर द्रुपद के लिये काव्य रचना भी की। उसके द्वारा गाये गये द्रुपद फारसी में हस्तलेख के रूप में उपलब्ध थे जिनमें से एक हजार चुने हुये पदों का संकलन 'सहसरस' के नाम से बादशाह शाहजहाँ ने संकलित करवाया जिसका हिन्दी लिप्यांतर एवं सम्पादन डा० प्रेमलता शर्मा ने किया। 'नायक' बख्शू हिन्दू था या मुसलमान यह विवाद का विषय है। नाम से मुसलमान किन्तु कर्म से हिन्द लगने वाले नायक बख्शू को धर्म की परिधि में न बाँधकर एक महान संगीतकार ही मानना तर्क संगत लगता है। वैसे षट्शास्त्र, षड्दर्शन, भारत-मतंग की संगीत परम्परा, कोक का कामशास्त्र, नृपति को नारायण से तुल्यता, चार वेदों की महिमा, भुक्ति-युक्ति, चतुर्दश विद्या, राग दर्पण का यह उल्लेख कि बख्शू कुरुक्षेत्र में स्नान के लिये आया था, आदि अनेक संकेत उसे हिन्दू मानने की प्रेरणा देते हैं।

संगीत, काव्य-रचना और समर्थ संगीतकार के रूप में 'नायक' बख्शू अन्यतम महापुरुष थे। उसने बहादुरी तोड़ी, नायकी कल्याण और नायकी कानड़ा जैसे तीन रागों का आविष्कार किया था और 'तानसेन' तथा 'बैजूबावरा' की तुलना में अधिक समर्थ गायक के रूप में लोकप्रसिद्धि प्राप्त की थी। यद्यपि यह अकबर के दरबार के नवरत्नों में नहीं था लेकिन ऐसा अनुमान है कि अकबर की शासन व्यवस्था के सर्वाधिक सशक्त लौह पुरुष मानसिंह का कृपा पात्र था। राजा मानसिंह ने जब तक अकबर की स्वाधीनता नहीं स्वीकार की तब तक बख्शू उनके आश्रय में रहा किन्तु जब मानसिंह ने मुगल साम्राज्य की स्वाधीनता को स्वीकार कर अकबर से अपनी बहन का ब्याह कर दिया तब नायक बख्शू अप्रसन्न होकर उनके दरबार से हट गया। पुनः मानसिंह के पुत्र विक्रमाजीत के समझाने पर उसने विक्रमाजीत के आश्रय में रहना स्वीकार कर लिया तथा उनकी मृत्यु के पश्चात राजाकीरत सिंह (कालिंजर के जमींदार) के आश्रय में रहने लगा। उसके अन्तिम दिन गुजरात के शासक सुल्तानबहादुर

के साथ बीते। गायन के लिये वह वाद्य वृन्दों का प्रयोग नहीं करता था और न किसी अनुगायक मंडल की ही सहायता लेता था। तानसेन हमेशा वाद्यवृन्दों एवं साथियों के साथ ही गाता था लेकिन 'नायक' वख्शू एकल गान में सिद्धहस्त था। संगीत में अद्भुत सिद्धि के कारण ही उसे 'नायक' की उपाधि मिली थी क्योंकि संगीत के शास्त्रीय ज्ञान और प्रयोग में कुशल व्यक्ति को ही 'नायक' की उपाधि मिला करती थी। वह संगीत को रस मानकर इसके विभाव, अनुभाव और संचारी के संयोग-योग्य रचनाओं का संकलन करता है। वह रस का पण्डित है, संगीत का आचार्य है, गायक भी है और कवि भी है।

यह निश्चित है कि वख्शू नायक रीतिकालीन कलाविद् है। इसलिए वह रस के पाण्डित्य स्थापन के लिये प्रायः सभी रसों के काव्य और संगीत प्रमाण प्रस्तुत करता है लेकिन उसकी संवेदना शृंगार से ही सम्बद्ध है। शृंगार में ही वह अधिक रमता है और रीतिकालिक होने के कारण शृंगार के सभी पक्षों का विकास भी करता है। इस क्रम में उससे सम्बद्ध पुस्तक 'सहसरस' नायक नायिका भेद की सभी कोटियों को उदाहृरित करती है। वख्शू नायक रीतिकालीन होने के कारण अलंकार निपुण काव्य स्रष्टा भी है। उसने शब्दालंकारों और अर्थालंकारों का सूत्र प्रयोग किया है। अनुप्रास, यमक, विप्सा, वक्रोक्ति, श्लेष और उपमा के अनेक स्तरों का प्रयोग करते हुए वह अनन्वय, स्मरण, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक और विभावना की कला का विस्तार करता है।

वख्शू नायक मध्यदेशीय व्रजभाषा का कवि है। उसकी भाषा सम्पदा भक्तकालीन परिपक्वता से तो सम्बद्ध है ही, रीतिकालीन कलानिपुणता में भी पूर्ण रूप से विन्यस्त है। उसने छन्दों का चयन संगीत और काव्य की अन्तसंगति को ध्यान में रखकर किया है। यद्यपि वह तान का पण्डित है, लेकिन छन्द के अनुशासन को भी स्वीकार करता है। वख्शू नायक की पहचान काव्य निपुण संगीतकार के रूप में होनी ही चाहिये। वख्शू नायक राग, ताल और रस का निष्णात पण्डित है। वह बहुत बड़ा कवि न भी हो तो महान कलाकार तो है ही। उसने कविता को संगीत के क्षेत्र में ले जाकर जिस पराकाष्ठा तक संगीतबद्ध किया वैसा कोई दूसरा नहीं कर पाया। रीतिकालीन रसिकता का इतिहास वख्शूनायक के कृतित्व से जुड़े बिना अधूरा ही रह जाता है।

प्राचीन भारत में वेश-भूषा

कु० मोहिनी श्रीवास्तवा*

भारत आश्चर्य और सपनों का देश है। संसार की उच्चतम् पर्वत मालाओं और तोन ओर से विशाल सागरों से घिरा यह देश अपनी प्राचीन संस्कृति, इतिहास के कारण सदा ही सबके लिये आकर्षण का केन्द्र रहा है। १६ मुख्य भाषाओं और १०० के लगभग बोलियों के साथ भाषा, वेशभूषा और खान पान को विविघता जितनी भारत में है उतनी अन्य किसी देश में नहीं है। उत्तर में पंजाब, हरियाणा में भारी पगड़ी दिखायी देती है तो पूर्व में बंगाल में एकदम नंगे सिर दिखायी देते हैं। काश्मीर, हिमांचल में विशेष ढंग का पायजामा है तो गुजरात, उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश व महाराष्ट्र में धोती का प्रचलन है। कर्नाटक, केरल, आन्ध्र प्रदेश में इस धोती की जगह वेष्टी (लुंगी) ने ले ली है। पूर्वी पर्वतीय राज्यों में लाल, सफेद, पोली धारियों वाले कपड़े हैं। महिलाओं का परिधान भी जहाँ मुख्य रूप से साड़ी है वहाँ वे सलवार, घाघरा और लुंगो भो पहनती हैं।

इतने विशाल देश में धर्म, भाषा एवं वेश-भूषा में इतनी विविघता ओर अनेकता के बावजूद भारत में जो एकता दिखाई देती है वह युगों से चली आ रही है। यह यत्न से सुरक्षित सांस्कृतिक एवं धार्मिक परम्पराओं के कारण ही है।

वेश-भूषा भारतीय संस्कृति का एक प्रमुख पहलू है। अतः वेश-भूषा के इतिहास की जानकारी आवश्यक है। प्राचीन वेश-भूषा क्या थी तथा इसका विकास किस प्रकार हुआ और विदेशी सम्पर्क से भारतीय वेश-भषा पर क्या प्रभाव पड़ा आदि के सन्दर्भ में विचार करेंगे। अब हम आपको प्रागैतिहासिक काल में ले चलना चाहते हैं जहाँ से आरम्भ करके मौर्य काल में समाप्त करेंगे।

सभ्यता के विकास के उषा काल में मनुष्य अपना जोवन किस प्रकार व्यतीत करता था और सभ्यता के क्षेत्र में उसने किस प्रकार उन्नति को इसको जानकारी हमें विभिन्न स्थानों पर उत्खनन से प्राप्त सामग्री से होती है। उस युग को 'प्रस्तर युग' कहते हैं क्योंकि उस समय मनुष्य पत्थर के औजारों को ही व्यवहार में लाता था। इस युग का मनुष्य प्रायः नंगा रहता था। धीरे धीरे सभ्यता का विकास हुआ और मनुष्य ऊन और रेशम का वस्त्र प्रयोग करने लगा। अब इसके लिए तकुआ और खड्डियों का आरम्भ हुआ। सभ्यता के विकास के पहले चरण-नूतन प्रस्तर युग में मनुष्य सर्दी, गर्मी से बचने के लिए पशु चर्म के वस्त्रों पर आश्रित न रहकर ऊन और रेशम के सुन्दर वस्त्रों को धारण करने लगा था।

आज से चालीस, पचास वर्ष पूर्व पुरातत्व शास्त्री भारतीय सभ्यता के इतिहास का आरम्भ वैदिक युग अर्थात १५००-२००० ई० पूर्व से करते थे। इसके पूर्व कोई सभ्यता थी यह तो मानते थे, पर इसका ठीक-ठीक पता नहीं था। १९२२ ई० में मोहन-जोदड़ो के एक

---

* शोध छात्रा, प्रा० भा० इ० सं० एवं पुरातत्त्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

बौद्ध स्तूप की खुदाई करते हुए श्री राखाल दास बनर्जी को २०००-२५०० ई० पूर्व की सभ्यता का पता चला जो सिन्धु घाटी की सभ्यता के नाम से प्रसिद्ध है। मोहन जोदड़ो एवं हड़प्पा की खुदाई जैसे-जैसे बढ़ती गई वैसे-वैसे भारतीय सभ्यता की प्राचीनता के ठोस प्रमाण मिलते गये। भारतीय साहित्य में इस सभ्यता का कहीं भी उल्लेख नहीं है। सिन्धु घाटी की प्रागैतिहासिक सभ्यता के जो कुछ भी अवशेष मिले हैं उनसे पता चलता है कि यह सभ्यता ३०००-४००० ई० पूर्व फल-फूल रही थी। मोहन जोदड़ो से बहुत सी तकुओं की फिरकियाँ मिली हैं जिनसे पता लगता है कि सूत कातने की प्रथा विद्यमान थी। मोहनजोदड़ो से मिले हुए एक चांदी के पात्र में चिपके वस्त्र के कुछ टुकड़ों के वैज्ञानिक अनुसंधान से पता चलता है कि इन टुकड़ों में सूत साधारण कपास का है। जो वर्तमान काल में भारतवर्ष में पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होती है[1]। मोहन-जोदड़ो से प्राप्त पत्थर की मनुष्य मूर्ति से पता चलता है कि शरीर को चादर से ढकने की प्रथा थी। चादर दाहिने कन्धे से लेजाकर बाँये कन्धे पर डाली जाती थी। ये चादरें प्रायः बहुत लम्बी होती थीं और बैठने पर पैरों तक पहुँचती थीं[2]। इस काल की पुरुष मूर्तियां अधिकांशतः नग्न ही प्राप्त हुई हैं। नग्न मूर्तियाँ शारीरिक सौन्दर्य को प्रदर्शित करने के लिए बनाई जाती थीं या इन मूर्तियों के दैवी होने के कारण ही इन्हें नग्न रखा गया था। स्त्री मूर्तियों पर कमर से जांघ तक का वस्त्र सर्वत्र ही प्रदर्शित किया गया है। स्त्रियाँ प्रायः घुटनों से ऊपर पहुँचती हुई साड़ी पहनती थीं। कमर से धोती को बाँधने के लिये मेखला पहनती थी। अधिकतर स्त्री मूर्तियाँ कमर से ऊपर नग्न ही हैं परन्तु कुछ स्त्री मूर्तियाँ ऐसी भी मिली हैं जिनमें कमर से ऊपर भी वस्त्र बनाया गया है। बालों को फीते से बाँधने की प्रथा थी। फीता माथे पर से पीछे की ओर बँधा होता था। स्त्रियां सिर में पंखे के आकार का कड़ा माड़ीदार वस्त्र पहनती थीं। कहीं कहीं पर स्त्री व पुरुष को टोपी पहने भी प्रदर्शित किया गया है।[3]

सिन्धु सभ्यता के पश्चात वैदिक सभ्यता का पदार्पण होता है। इस युग के साहित्यों में युग की संस्कृति की विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है। वस्त्र निर्माण का शिल्प इस युग में अच्छी उन्नति पर था। आर्य लोग कातने और बुनने की कला में निपुण थे। ऊनी और सूती दोनों प्रकार के वस्त्र पहनते थे। भेड़ों का ऊन व्यवहार में लाते थे इसलिये ऋग्वेद में भेड़ों को 'उर्णावती' कहा गया है[4]। कम्बल[5] एवं शामुल्य[6] स्त्रियों और पुरुषों के नित्य पहनने के वस्त्र थे। वैदिक युग में आर्य तीन वस्त्र धारण करते थे। कमर से नीचे 'नीवि'[7] सिर पर 'उष्णीष'[8] (अधिपा सस्) तथा कमर से ऊपर धड़ को चादर (बासस्) से ढक लेते थे। 'निबी' का उल्लेख बहुतायत में पाया जाता है। पाणिनि ने भी 'अष्टाध्यायी' में 'निबी'[9] का उल्लेख किया है 'निवी' की व्युत्पत्ति नि अर्थात नीचे और व्ये ढकना या अच्छादित करना से की गयी है। इस तरह के वस्त्र पहनने की प्रथा सिन्धु सभ्यता में भी थी। यह एक कपड़े का संकरा सा टुकड़ा होता था जिसे स्त्री या पुरुष दोनों लपेट लिया करते थे। स्त्रियां अपने शरीर के ऊपरी हिस्से को ढकने के लिये दुपट्टे की तरह कोई वस्त्र प्रयोग करती थीं। अथर्ववेद में 'प्रतिधि'[10] शब्द का प्रयोग है जो एक या दो कपड़ों की छिरों से बना स्तन पट है जिसे विवाह के समय स्त्रियां पहनती थीं। वैदिक स्त्रियां सामान्यतः सिर पर कोई वस्त्र धारण नहीं करती थीं। धोती इस ढंग से पहनती थीं कि उसी के एक भाग से अपने धड़ को भी ढक लेती थीं। किसी विशेष अवसर पर शरीर के ऊपरी भाग को ढकने के लिये कटे एवं

मिले वस्त्र का प्रयोग करती थी। वैदिक युग में कपड़ों पर बहुधा कसीदे का काम होता था। कपड़ों में किनारे और झालरें भी होती थीं। अथर्ववेद, काठक संहिता, शतपथ ब्राह्मण, बृहद्दारण्यक उपनिषद आदि ग्रन्थों में अनेक प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख है जैसे वरासी[११], दूर्श[१२], क्षौम[१३], पाँडव[१४], कार्पास[१५], आदि वस्त्र।

६४२ ई० पूर्व से ३२० ई० पूर्व तक भारतीय इतिहास षोडश जनपदों शैशुनागों और नन्दों का इतिहास है। इस युग की सभ्यता वैदिक सभ्यता से आगे बढ़ चुकी थी। ग्राम्य सभ्यता से निकलकर भारतीय सभ्यता अब नगरों में केन्द्रित होने लगी थी। इस युग की सभ्यता बौद्ध तथा जैन साहित्यों में परिलक्षित होती है। 'महावग्ग' में भिक्षुणियों के वस्त्र का उल्लेख है। बौद्ध युग में भिक्षुणियों के वस्त्र की संख्या तीन होती थी। संघाटी अर्थात कमर में लपेटने की दोहरी तहमत, अन्तर्रवासक अर्थात शरीर के ऊपरी भाग ढकने के वस्त्र और उत्तरासंग अर्थात् चादर[१६] कंचुक और लंगोटी का भी प्रयोग बौद्ध भिक्षुणियाँ करती थीं। गृहस्थों के पहनावे में भी तीन कपड़े होते थे तथा धोती (अन्तरवालक) दुपट्टा (उत्तरासंग) और पगड़ी (उष्णीष)। स्त्रियाँ साड़ी भी पहनती थीं[१७]। साड़ी पहनने के कई तरीके थे। बौद्ध कालीन भारत में लोग सीना पिरोना अच्छी तरह से जानते थे।

बौद्ध युग के पश्चात् मौर्य युग आता है। मौर्य युग के इतिहास के लिये साहित्य के अतिरिक्त पुरातत्वीय सामग्री भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। इस युग की प्राप्त मूर्तियों से इस युग के वेश भूषा पर भली भाँति प्रकाश पड़ता है। इस युग की प्रचलित वेश भूषा धोती थी जिसे स्त्री एवं पुरुष सामान्य ढंग से पहनते थे। पुरुष इसी धोती के एक भाग को बायें बाहु के नीचे लेजाकर दाहिने कन्धे पर ढाल देता था कहीं कहीं अलग से चादर या दुपट्टा ओढ़ते हुए भी प्रदर्शित किया गया है। पटना तथा मथुरा के परखम ग्राम से प्राप्त यक्ष मूर्ति कमर से बँधी हुई नीचे तक धोती पहने हुए है[१८]। धोती की चुनटें दोनों पैरों के बीच में पड़ी हुई हैं। ऊपर छाती पर सामने की ओर उत्तरी (दुपट्टा) बँधा हुआ है। विदिशा का पवाया यक्ष तथा भरत पुर जिले के नोह ग्राम से प्राप्त यक्ष मूर्ति भी धोती पहने हुए हैं। भरहुत के अर्धचित्रों में मुख्य आकृति को धोती पहने दिखाया गया है।[१९] कहीं कहीं पर पुरुष आकृति को कोट पहने भी दिखाया गया है[२०]। सिर पर पगड़ी बांधने की प्रथा थी। सभी पुरुष सिर पर साफा बाँधते थे। साफा बाँधने के कई तरीके थे। कहीं कहीं टोपी पहने भी प्रदर्शित होता है[२१] स्त्रियाँ प्रायः शरीर के ऊपरी भाग को नग्न रखती थी। यदि अपने शरीर के ऊपरी भाग ढकती थी तो बहुत पारदर्शक कपड़े से। बेसनगर और दीदारगंज से यक्षिणी मूर्ति मिली है जिसका ऊपरी भाग नग्न है। केवल आभूषण ही प्रदर्शित हो रहे हैं। भरहुत के अर्धचित्रों में भी अधिकांश स्त्री शरीर को नग्न ही प्रदर्शित किया गया है। कमर के नीचे स्त्रियाँ धोती पहनी हैं। धोती या साड़ी आज के ही समान कमर से बाँधी गयी हैं। सामने के भाग पर चुन्नटें हैं। जिसको दक्षिण भारत की लाँघदार साड़ी की भाँति दोनों पैरों के बीच से ले जाकर पीछे खोंस दिया गया है साड़ी बहुतया घुटनों तक ही पहुँचती हैं। साड़ी को कमरबन्ध द्वारा कमर पर बाँधा गया है। स्त्रियाँ पटका भी पहनती थीं जो दोनों पैरों के बीच लटकता था। पटका सादा तथा लहरियादार दोनों प्रकार का पाया गया है। भरहुत के अर्धचित्रों के यक्षिणि चन्द्रा कि वेश भूषा से एक सम्भ्रान्त नारी के पहनावे का पता चलता

है। उसके कमर में घुटने तक की धोती, सतलड़ी, करधनी तथा कामदार कमरबन्द है। सिर एक कामदार ओढ़नी से ढका है। शरीर का ऊपरी भाग अनावृत्त है पर दाहिने स्तन के नीचे की रेघारियाँ शायद पतले चादर की द्योतक है। कई स्थानों की खुदाई से प्राप्त टेराकोटाज मूर्तियों से भी इस युग की वेश भूषा पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। राजघाट से प्राप्त स्त्री मूर्ति घुटने से थोड़ा नीचे पहुँचती हुई साड़ी पहने है जिसकी चुन्नटें कमर, जाँघ के चारों तरफ दिखाई पड़ रही हैं। राजघाट की खुदाई से कई टेराकोटाज स्त्री मूर्तियाँ मिली हैं जो धोती पहने है। बस धोती पहनने के ढंग में थोड़ा अन्तर दिखाई देता है। सभी स्त्रियों की धोती कमर पर मेखला से कसी होती थी। तक्षशिला के मीरभाण्ड स्थान से भी स्त्री मूर्ति प्राप्त है जो धोती पहने है। दीदारगंज की यक्षिणी मूर्ति महीन मलमल के कपड़े की धोती पहने है जो एड़ी तक पहुँच रही है और पंचलड़ी मेखला के सहारे कमर तक बँधी है। कुछ ऐसी भी मूर्तियाँ प्राप्त हैं जो घाघरा या स्कर्ट भी पहने हैं। पटना संग्रहालय की स्त्री मूर्ति जो बक्सर से प्राप्त हुई है एक झालरदार घाघरा पहने बैठी है जो भीतर से तार के ढाँचे पर आधारित है। यह घाघरा यूरोपीय स्त्रियों के लहराते गाउन के समान प्रतीत होती है[२२] बक्सर से प्राप्त दूसरी नारी मूर्ति का लहंगा अत्यन्त महीन है जो कटि प्रदेश से नीचे चिपका सा है तथा दाँयी ओर लहरा रहा है। लहंगें के छोर सामने गांठ में बधे हैं तक्षशिला के मीरभाण्ड से प्राप्त एक खड़ी स्त्री मूर्ति लहराता हुआ स्कर्ट पहने है। यहीं से प्राप्त दूसरी स्त्री मूर्ति सकरा स्कर्ट पहने है। राजघाट, बुलन्दी बाग से भी प्राप्त स्त्री मूर्ति स्कर्ट तथा अन्तरीय पहने है[२३]। तक्षशिला की स्त्री मूर्ति चौड़ा पैंजामा पहने है जैसा कि पठान की स्त्रियाँ आज भी पहनती हैं[२४]। स्त्रियाँ सिर को जरूर ढँकती थीं। इस युग में कई प्रकार के शिरों वस्त्र देखे गये हैं।

भारत उष्णता प्रधान देश होने के कारण धोती, चादर, आरामदेह तथा स्वास्थ्यवर्द्धक यहाँ का पहनावा था और भारतीय इसे चाव से पहनते थे। विदेशी सम्पर्क से भारतीयों के परिधान पर प्रभाव पड़ा। स्त्रियों की नग्नता में यूनानी सभ्यता परिलक्षित होती है। स्त्रियों का परिधान स्कर्ट एवं घाघरा भी यूरोपीय फैशन को याद दिलाता है। पुरुषों का कोट तथा टोपी भी विदेशी संस्कृति का ही परिणाम है। विदेशी सम्पर्क से सिले कपड़ों का अधिक प्रचार प्रसार हुआ पर जन साधारण अपनी धोती व चादर की मर्यादा को ही सुरक्षित रखे।

अतः हमें अपनी प्राचीन वेश-भूषा का भली-भाँति ज्ञान होना चाहिए जो संस्कृति का एक महत्वपूर्ण अंग है। संसारभर में जो सर्वोत्तम बातें जानी या कही गई हैं उनसे आपको परिचित कराना भी संस्कृति कहलाती है। वर्तमान के सन्दर्भ में हमें अतीत का ज्ञान बहुत ही आवश्यक है। उससे हमें प्रेरणा ग्रहण करनी चाहिए। उष्ण प्रधान देश के लिए जिस प्रकार की वेश-भूषा की आवश्यकता है उसे ही हमें अपनानी चाहिये ताकि हमारे आचार-विचार सात्विक बने और हम अपनी नैतिकता को उच्च बनाये रखें।

सन्दर्भ

१. Sir John Marshal, Mohenjodaro and Indus Valley Civilijation- Vol. I, Delhi, p. 33, pl. 98.

२. Mackey, Further Excavations at Mohenjodaro, Vol. I, New Delhi, p. 260, Vol. 2. pl. 105. no. 60, 61.

३. Sir John Marshal-Mohenjodaro and Indus Valley Civilijation, Vol. I, Delhi, p. 340, pl. 153, 25.

४. ऋग्वेद, १०।७५।८। ५. अथर्ववेद, १४।२।६६, ६७।

६. ऋग्वेद, १०।८५।२९; अथर्ववेद, १४।१।२५। ७. अथर्ववेद, ८।२।१६।

८. ऋग्वेद, १।१४०।९, १०।५।४। ९. अष्टाध्यायी, ४।३।४४। १०. अथर्ववेद १४।१।८।

११. डा० मोतीचन्द्र, प्राचीन भारतीय वेश-भूषा। काठकसंहिता, १५।४,-पृ० १२।

१२. अथर्ववेद, ४।७।६।

१३. तैत्तिरीयसंहिता, ६।१।१।३, प्राचीन भारतीय वेशभूषा–डा० मोतीचन्द्र, पृ० १३।

१४. शतपथ ब्राह्मण, ५।३।५।२, वही, पृ० १३।

१५. आश्वलायन श्रौतसूत्र, २।३।४।१७, वही, पृ० १४। १६. महावग्ग, ८।१३।४-५।

१७. डा० मोतीचन्द्र, प्राचीन भारतीय वेश-भूषा–जातक, (३२५), ३, पृ० ५५, पृ० ३७।

१८. वी० एस० अग्रवाल, भारतीय कला, वाराणसी, पृ० १२५, fig 183, pl. 72.

१९. भरहुत स्तूप–कनिंघम्, वाराणसी, pl. २१, २२।

२०. A. S. R. 1911-12, pp. 1–74, pl. 20.

२१. History of Indian & Indonesian Art–Coomarswami–pl. 5.17.

२२. डा० विन्ध्येश्वरी प्रसाद, भारतीय कला को बिहार की देन–पटना, पृ० ७३।

२३. Nihar Ranjan Ray, Maurya & Sunga Art–Calcutta.

२४. Sir John Marshall. Taxila—Vol. II, Varanasi, p. 443.

DR. JOHNSON'S CONTEMPT FOR STAGE-ACTING : AN EXPLANATION

DR. R. K. MATHUR*

At all periods of his life Johnson used to talk contemptuously of players.

Johnson : 'Now, Sir, to talk of respect for a player !' (Smiling disdainfully)

Boswell : 'There, Sir, you are always heretical : you never will allow merit to a player !'

Johnson : 'Merit, Sir ! What merit ? Do you respect a rope-dancer, or a ballad-singer ?'

Boswell : 'No, Sir : but we respect a great player, as a man who can conceive lofty sentiments, and can express them gracefully !'

Johnson : 'What, Sir, a fellow who claps a hump on his back and a lump on his leg, and cries "*I am Richard the Third*" ? Nay, Sir, a ballad-singer is a higher man for he does two things : he repeats and he sings : there is both recitation and musick in his performance : the player only recites.'[1]

Boswell has given the following reasons for this contempt :

First, the imperfection of his organs, which were so defective that he was not susceptible of the fine impressions which theatrical excellence produces upon the generality of mankind; secondly, the cold rejection of his tragedy; and, lastly, the brilliant success of Garrick who had been his pupil... and whose talents he undoubtedly rated low, compared with his own. His being outstripped by his pupil in the race of immediate fame,

* Department of English, Banaras Hindu University, Varanasi.

as well as of fortune, probably made him feel some indignation, as thinking that whatever might be Garrick's merits in his art, the reward was too great when compared with what the most successful efforts of literary labour could attain.[2]

But we feel that Boswell's explanation is not only inadequate but also inaccurate. Though we may concede that Johnson's defective eyesight must have been a serious handicap to him in appreciating the subtle changes in the facial expressions of the actors, we feel it definitely to be an exaggeration to say that it produced in him a deep-seated aversion to acting. Furthermore, he was critical not of acting in general, but of tragic acting only. How can his different attitudes to tragic and comic acting be explained on the ground of his imperfect organs ?

Equally unconvincing is the second reason : "the cold rejection of his tragedy." It is true that his tragedy *Irene* failed on the stage. But it is significant to note that its failure did not embitter him; on the contrary, he accepted the verdict of the public "without a murmur," for implicit faith in the public judgment was the corner-stone of his critical edifice. And to all this Boswell himself bears testimony.[3] Such being the case, it is unlikely that the failure of his play should have engendered in him a repulsion for acting.

The third reason that his pupil Garrick "outstripped him in the race of immediate fame as well as of fortune" seems to be plausible, for though Johnson was of a charitable nature, he was not free from human limitations; and naturally the disproportionate reward to Garrick's labour might have not only roused his indignation, but also made him green with envy. Thus in degrading the profession of acting he might be pulling down Garrick from the high summit of his reputation and satisfying, like all jealous persons, his perverted passion for equality. But Boswell himself declares categorically that envy was foreign to Johnson : "Alas ! ye

little short-sighted criticks, could Johnson be envious of the talents of any of his contemporaries ?"[4]

Moreover, Boswell's reasons for his dislike for acting would make us believe that it was based on personal, and not aesthetic or literary considerations, an inference not corroborated by Johnson's own utterances on this point. The facts are as follows. In the first place, Johnson in his contempt for players was the child of his own age, an age in which "the player had a long row to hoe before he gained social enfranchisement."[5]

Secondly, Johnson objects to tragic acting much in the same way as Plato did; though he does not say so, the echoes of Plato can be distinctly heard in his remark that "the action of all players in tragedy is bad. It should be a man's study to repress those signs of emotion and passion, as they are called."[6] The show of emotion is unmanly. Plato also criticizes tragic drama, for it has an emasculating influence on man; it "feeds and waters the passions instead of drying them up;" and "lets them rule, although they ought to be controlled, if mankind are ever to increase in happiness and virtue."[7]

Thirdly, we find that his dislike for acting and his rejection of the twin unities of time and place are founded on fundamentally the same ground : "that the spectators are always in their senses, and *know*. ...that the stage is only a stage, and that the *players are only players*."[8] Since Johnson's spectator does not willingly suspend his disbelief, he cannot forget the identity of the actor, and this consciousness of the real personality of the actor constantly prevents him from imagining the player to be the character he represents on the stage. As Johnson puts it :

> The appearance of a player, with whom I have drunk tea, counteracts the imagination that he is the character he represents. Nay, you know, nobody imagines that he is the character he represents. They say,

"See Garrick ! how he looks to-night ! See how he'll clutch the dagger !" That is the buz of the theatre.[9]

And consequently, the pleasure of the spectator is marred to some extent; whereas in the absence of the actor, the reader's imagination is free to conceive the character as the playwright wants it to be. This being so, Johnson concludes that a tragedy is more delightful in reading than in its exhibition on the stage :

No tragedy is so strong on stage as alone. The effect all imagi (nation), and when alone, nothing to counteract it; whereas in playhouse, see 'tis stage, not wild heath; Garrick, not Macbeth.[10]

He goes to the extent of making the bold statement that "many of Shakespeare's plays are the worse for being acted : *Macbeth*, for instance."[11] "A dramatic exhibition is a book recited with concomitants that encrease or diminish its effect. Familiar comedy is often more powerful on the theatre, than in the page; imperial tragedy is always less."[12]

W. J. Lawrence thinks that here Johnson is "simply passing judgement on the ill stage methods of his times," and not stressing "the unactability of some of Shakespeare's greater works."[13] It is just possible that Johnson might be protesting against the ruthless alterations of Shakespeare's text by such actors as Garrick to suit the contemporary taste. But here we should like to draw attention to two points which make Lawrence's view unacceptable to us. First, some of the alterations were approved by Johnson himself. For instance, the change of the unhappy ending of the play *King Lear* by Tate was considered to be an improvement by Johnson.[14]

Secondly, his remarks showing his contempt for acting are so numerous and so explicit as to leave us in no doubt that they arose out of a deeply-rooted conviction, and are not a mere whim or reaction against the evil practice of the

contemporary actors. Here, we believe, he anticipates Charles Lamb's remarks in his *On the Tragedies of Shakespeare.*

Further, Lawrence's explanation, like Boswell's, bypasses the question—why should there be, to Johnson, any difference in the dramatic effects of tragedy and comedy on the stage ? Why is familiar comedy "often more powerfoul on the theatre, than in the page," while just the reverse is true of imperial tragedy ? Johnson would answer that no gesture can either correspond with or add dignity to serious and exalted subjects, whereas lighter subjects gain by it; "the humour of Petruchio may be heightened by grimace; but what voice or what gesture can hope to add dignity or force to the soliloquy of Cato."[15] Therefore, we may conclude, that it was this awareness of the inefficacy of gesture to enforce or heighten the serious and exalted subjects that lay at the root of his aversion to tragic acting. And this aversion was not confined to tragic drama only, but extended to all arts that dealt with serious subjects, such as oratory or preaching. He praised Dr. Watts thus :

> He did not endeavour to assist his eloquence by any gesticulations; for, as no corporeal actions have any correspondence with theological truth, he did not see how they could enforce it.[16]

And of old Mr. Langton he said :

> Sir, you will seldom see such a gentleman, such are his stores of literature, such his knowledge in divinity, and such his exemplary life: and Sir, he has *no grimace, no gesticulation,* no bursts of admiration....[17]

Johnson believes that gesture is necessary to signify our intentions to animals, for they are not rational beings; but for "reasonable minds" its use is of no avail; it might have been necessary in a barbarous society, when the people had not much risen above the animal level, but it serves no purpose in a civilized one, among rational beings. This

attitude of Johnson is clearly reflected in his dialogue with Mrs. Thrale, when, declaiming against action in public speaking, he said :

> Action can have no effect upon reasonable minds. It may augment noise, but it never can enforce argument. If you speak to a dog, you use action; you hold up your hand thus, because he is a brute; and in proportion as men are removed from brutes, action will have the less influence upon them.

Mrs. Thrale : "What then, Sir, becomes of Demosthenes's saying ? 'Action, action, action !'"

Johnson : "Demosthenes, Madam, spoke to an assembly of brutes; to a barbarous people !"[18]

Such a view of acting would not differentiate the drama from the novel, for one of the fundamental characteristics of the former is that it is meant to be staged. The only difference then left between the two is that the one uses dialogue as a medium, the other, narration. This line of argument leads Johnson to its inevitable conclusion that "a play read, affects the mind like a play acted."[19] Aristotle also held that "the power of Tragedy... is felt even apart from representation and actors,"[20] and recommended that "the plot ought to be so constructed that, even without the aid of the eye, he who hears the tale told will thrill with horror and melt to pity at what takes place."[21] He insisted that the tragic effect should depend on the plot of the play, not on the spectacular means, though he was fully aware of their capacity to rouse the emotions of pity and fear.

But we are of the view that a play read cannot affect the mind like a play acted, for a play is not a self-contained entity, as a novel is. In a novel, the personal comments of the author, his explanations and descriptions, go a long way in elucidating his point of view and in equipping the reader with the necessary information to understand the story; whereas, in a drama, no such help is available to its

reader, for much is left "to be filled in by the art of the actor and the 'business' of the boards"; in short, "it implies everywhere the co-operation of elements outside itself."[22]

Furthermore, almost all the great dramatists of the world wrote for the stage; or rather we should say that only those who did so could acquire greatness, while most of those who wrote for only reading sank into oblivion. For instance, the 19th-century closet drama is now only a literary curiosity; while the work of the bard of Avon not only survives even today, but also enjoys the highest of esteem, a fact amply borne out by the grand celebration of the quatercentenary of his birth in 1964.

References

1. R. W. Chapman, ed., *Boswell's Life of Johnson* (London : Oxford University press, 1965), p. 863.
2. *Ibid.*, pp. 121-2.
3. *Ibid.*, p. 142.
4. *Ibid.*, p. 286. Boswell makes this remark while defending Johnson against those who attributed his adverse criticism of Gray to envy.
5. W. J. Lawrence, "The Drama and the Theatre," in *Johnson's England*, ed. A. S. Turberville (Oxford : Clarendon Press, 1933), ii, 182-3. Lawrence continues the description thus : "The attitude towards this class assumed by the mid-eighteenth-century audience was unworthy of so polite an age. Often, an actor who had given some offence was compelled to go down on his knees and crave pardon before a full house ere he could be allowed to resume his vocation."
6. Boswell, "The Journal of a Tour to the Hebrides with Samuel Johnson," in *Johnson's Journey to the Western Islands of Scotlaud and Boswell's Jornal of a Tour to the Hebrides with Samuel Johnson*, ed. R. W. Chapman (London : Oxford University Press. 1961), p. 183.
7. Plato. "The Republic," in *The Dialogues of Plato*, trans. B. Jowett (London : Oxford University press, 1931), iii, 320-2.

8. Johnson, "Preface," in *Johnson on Shakespeare*, ed. Walter Raleigh (London : Oxford University Press, 1965), p. 27. (underlining mine).
9. *Boswell's Journal*, p. 188.
10. From *Private Papers of James Boswell from Malahide Castle in the Collection of Lieutenant-Colonel Ralph Heyward Isham*, ix, ed., Frederick A. Pottle (1930), 265. Quoted by W.K. Wimsatt, ed., 'Notes', in *Dr. Johnson on Shakespeare* (Harmondsworth, Middlesex : Penguin Books, 1969), p. 150.
11. Boswell, *Life*, p. 416.
12. Johnson, "Preface," in *Johnson on Shakespeare*, p. 28.
13. *op. cit.*, p. 163.
14. Johnson. "Notes," in *Johnson on Shakespeare*, pp. 161-2.
15. Johnson, "Preface," in *Johnson on Shakepeare*, p. 28.
16. Johnson, *Lives of the English Poets*, ed. Arthur Waugh (London : Oxford University Press, 1959), ii, 364.
17. Boswell, *Life*, P. 1084. (underlining mine).
18. *Ibid.*, p. 509.
19. Johnson, "Preface," in *Johdson on Shakespeare*, p. 28.
20. Aristotle, "The Poetics," in *Aristotle's Theory of Poetry and Fine Art*, trans. S. H. Butcher (U. S. A. : Dover Publications, 1951), p. 29.
21. *Ibid.*, p, 49.
22. W. H. Hudson, *An Introduction to the Study of Literature*, (Ludhiana ; Lyall Book Depot, 1967), p. 173.

CHANGING CONTOURS OF NON-ALIGNMENT

Dr. P. D. KAUSHIK*

The Genesis

Like many other things in politics 'non-alignment' is a new term for an old policy posture in the conduct of foreign relations of nations. It is essentially a policy of peace usually pursued by middle powers. The States are usually divided into Big, Medium and Small Powers. The Big Powers usually aim at securing a dominant influence in the community of nations. Therefore, they seek to become centres of "alignment-systems" and have little use for a policy of non-alignment. The small powers usually find it profitable to become the camp followers of a big power or alignment system. But middle powers, especially those powers which have a big power potential, have followed a policy of avoiding being linked with any of dominant big powers or alignment systems, because they needed peace and friendly relations of trade and commerce with the contending Big powers for their internal reconstruction. It does not mean that every such power has adopted this policy. All that we mean is that a middle power is usually faced with the choice of aligniing itself with a Big Power or to maintain a posture of equidistance. The middle powers have usually preferred the latter. This policy has variously been known as neutrality, isolationalism, and non-alignment etc.

Two centuries ago this policy was consciously adopted by statesmen of United States of America. USA was then a new, emerging power which was keen to avoid being entangled into the rivalries of Big European Powers. At that time USA, like India of post-second World War period, was

* Professor in political Science, Banaras Hindu University.

a militarily weak middle power, whose main concern was to maintain its territorial integrity, political independence and secure rapid political consolidation and economic progress. Explaining the foreign policy of the new nation, the First President of USA George Washington declared on September 17, 1776 :—

> "The great rule of conduct for US in regard to foreign nations is, in extending over commercial relations, to have with them as little *political* connection as possible........
>
> "It is our true policy to steer clear of permanent allianees with any portion of the foreign world, so far, I mean, as we are now at liberty to do it."[1]

The same policy was reaffirmed by President Jefferson in 1801 when he maintained that the USA wanted to have "peaceful trade with all, entangling alliances with none."[2] A few decades later the same policy was again underlined in what is famous as Monroe doctrine. "The United States," said President Monroe, in his message to the Congress on 2nd December 1923, "had not intervened and never would intervene, in wars of Europe."[3]

Pandit Jawaharlal Nehru, the chief architect of non-alignment, drew inspiration from this policy of infant USA. "About 150 years ago, "said Pandit Nehru in Lok Sabha on 17th March 1950, "the Western World was breaking up on account of all kinds of imperial and revolutionary wars. Having achieved independence by breaking off from the British Empire, the United States was naturally affected by these upheavals; nevertheless it avoided being involved in the chaotic situation of Europe—although doubtless it had its particular sympathies—because that was the natural thing for a nation in that state of affairs to do........for a country that has newly attained freedom....this is the natural policy to pursue."[4]

Thus, the policy of non-alignment is a reconditioning of an old policy to suit the exigencies of the atomic age. Pandit Nehru enunciated it in the context of the Cold War between the Super Powers of post-Second World War period, namely, USA & USSR, but there is no necessary connection between Cold War and non-alignment. Indeed, Nehru had outlined this policy in a vague form in his articles on "the Defence of India" published in Young India of September 24, 1931 and October 1, 1931. He maintained that an independent India need not be militarily very strong or aligned to any big power because even a militarily weak India could easily defend herself because of a world balance of power. "If the domination of England over India," he maintained, "ceases and India becomes free, what will be the reaction of other powers. It may be that some will covet her, but the master desire will be to prevent any other nation from possessing India. No country will tolerate the idea of another gaining dominion over India and thus acquiring the commanding position which Enland occupied for so long. If any power was covetous enough to make the attempt, all the others would combine to prevent this and to trounce the intruder. This mutual rivalry would itself be the surest guarantee against an attack on India."[5]

II

The concept of non-alignment

Briefly speaking the policy of non-alignment emerged from the foreign policy attitudes which independent India adopted under the leadership of Pandit Jawaharlal Nehru in order to safeguard her national integrity and further her national interests without joining any of the rival groups of Western liberal democracies led by USA and Communist States led by USSR into a military alliance. India's independence, however, was not an isolated event but was followed by independence of a large numder of Afro-Asian countries. Most of these countries adopted the policy of non-alignment.

First non-alignment means a course of refusal to take any sides in any military line up of world powers. It is supposed to be the irreducible minimum of non-alignment.

Secondly, it envisages exercise of independence of judgement. "By keeping aloof from the controversies of the Cold War," says K-M. Panikkar, "she (India) has been able to build up a position of independence and, in association with other States similarly placed, has been able to exercise considerable influence in the cause of international good-will."[6]

Thirdly, it is a policy of peace. It aims at promoting friendly and cooperative relations among the nations and exhorts nations to remain aloof from military and other hostile alliances which divide nations into hostile groups. It also seeks to promote settlement of international disputes through peaceful means.

Fourthly, it is different from policy of isolationism as non-aligned nations seek to establish diplomatic relations with other nations and are active participants in the activities of the United Nations and other international bodies.

Fifthly, it is also different from policy of 'neutrality' or neutralism, though a number of scholars of international relations, such as Peter Lyon, Hans J. Morgenthau, Hamilton Fish Armstrong, Robert A. Scalpino, Francis Low Beer and Werner Levy etc. have used these terms.[7] Oppenheim defines neutrality as the attitude of impartiality adopted by third States towards belligerents, such attitude creating rights and duties between the impartial States and the belligerents....[8] But the policy of non-alignment has no necessary connection with war. It originated as a policy of keeping aloof from the Cold War of rival power blocs advocating two different ideologies. It is as relevant to peace situation as to war situation. Moreover, while negatively it is a policy of keeping away from military alliances, positively it believes in working, at least morally if not militarily, against the

aggressor. Pandit Nehru clearly maintained before the US Congress in September 1949 that, "Where freedom is menaced, justice threatened, or where aggression takes place, we can not be and shall not be neutral."[9]

Sixthly, it is a positive and constructive policy. As Pandit Nehru maintained, India's non-alignment is not a middle of the road policy. It is a positive and constructive policy whose clear aim is to achieve certain objectives and to prevent, as far as possible, the growth of hostility towards other countries.[10] A non-aligned India wanted to "be a bridge between countries and not to break bridges in the world that already exist."[11]

The policy of non-alignment is usually supposed to contain six elements —

(1) Non-association with military alliances;
(2) Faith in world peace;
(3) Co-existence, which as enunciated in "Panchsheel" Declaration of 20th June 1954, imply mutual respect for each other's integrity and sovereignty; (b) non-aggression; (c) Non-interference with each other's internal affairs; (d) Equality and mutual benefits; (e) Peaceful co-existence;
(4) Opposition to racialism and colonialism;
(5) Priority to social and economic development over military development; and
(6) Independence of foreign policy.

III

Non-alignment : A Historical Perspective

One can divide the history of non-alignment movement into three periods :—

1. The period of establishment—1946 to 1961.
2. The period of quantitative development—1961-1973.
3. The period of growth of economic content since 1970.

The Period of Establishment

India was the biggest Asian nation to achieve independence during the post-Second World War period and her first Prime Minister Pandit Jawaharlal Nehru was the pioneer spokesman of the policy and ideology of non-alignment. He put forth this policy of keeping aloof from the rivalry of American and Soviet blocs as a principle which was based on human values and was consistent with the ideals, ambitions and national interests of the newly emerged Afro-Asian nations. As the Prime Minister of the Interim Government he enunciated the foreign policy which a freee India proposed to adopt. In a radio broadcast on 7th September 1946 he laid the basis of policy of non-alignment by maintaining that Iadia should "keep away from the power politics of groups aligned against one another, which has led in the past to two world wars and which may again lead to disasters on an even vaster scale."[12] The initial reaction of super powers to this policy was hostile. Communist leaders caiticized India as "the pet dog of capitalist nations,"[13] while American Secretary of State John Foster Dulless was of the opinion, that, "This (Non-alignment) has increasingly become obsolete conception and except under very exceptional circumstances it is an immoral and shortsighted conception."[14] But India's independence was followed by the gradual independence of a number of Afro-Asian nations. Most of these newly emerged countries followed India's example in adopting a policy of non-alignment. Besides Nehru Marshall Tito of Yugoslavia and Colonel Nasser of Egypt became staunch supporters of Non-alignment. Under the leadership of this triumburate non-alignment became not only the popular foreign policy posture of newly energent Afro-Asian nations but also became almost a movement by 1961.

Belgrad to Algiers : Period of Quantitative Development and Watering Down of its Political Ideology 1961-1973.

The first Non-Aligned Summit was held at Belgrade, in which twenty five countries participated. It was followed by Cairo Non-Aligned Summit (1964), Lusaka Non-Aligned Summit (1970), Algiers Non-Aligned Summit (September 1973); Colombo Non-Aligned Summit (August 1976); Havana Non-Aligned Summit (1979). and the New Delhi Non-Aligned Summit (March, 1983). With each Summit the Non-Aligned Movement has had a quantitative expansion and its contours have been slowly but steadily changing. It started as a foreign policy posture of middle-powers, which wanted to steer clear off the rivalry of Coldwar power blocs. At Belgrade it assumed the shape of a Movement led by the triumburate of Nehru (India), Tito (Yugoslavia) and Nasser (Egypt/UAR). By the time of Lusaka Non-Aligned Summit of 1970 it began to assume the dimensions of a world movement, but at the same time it gradually lost its ideological fervour. The growing 'detente' of Super-powers and consequent decline of Cold War almost robbed it of its initial raison-d'tre. The process of growth into a world movement brought into its fold a large number of small powers for whom genuine non-alignment was not a viable foreign policy, and in order to accommodate them the ideological content of non-alignment has to be periodically watered down.

In order to decide the question as to which countries should be regarded non-aligned and be invited to non-aligned conferences a five-fold formula was adopted tes the Belgrade Conference. It laid down that a non-aligned State was one :—

(a) that pursues an independent foreign policy based on principles of non-alignment and peaceful co-existence;

(b) that supports the anti-colonial movements;

(c) that is not a member of any military alliance related to Cold War;

(d) that has not entered into any bileteral military treaty with either USSR or USA; and

(e) that has no foreign military base in its territory.[15]

But this formula could not be adhered in toto even in the case of Belgrade Conference. For example among the invitees of Belgrade Conference Saudi Arabia and Morocco had American military bases and Tunisia a French military base in their respective territories. The Belgrade formula was an attempt to define the non-aligned countries, but later on insistence on this formula was quietly dropped and for each successive conference names of new states were simply added, many of which were included for political reasons.

The countries which were invited for Cairo Non-aligned Summit of 1964 can be divided into five categories : (a) Those twenty five countries, which participated in Belgrade Conference; (b) All those countries which adhered to declaration of Organization of African Unity. (c) All those Arab States which have participated in Arab Summit of January 1964, (d) Malavi, Laos, Mexico, Zamaica, Trinidad and Tobago, Argentina, Bolivia, Brazil, Chile, Uruguay, Venezuella, Austria, Finland, (e) Zambia and Guinea (if they become independent before the Conference); and (f) Interim Government of Angola. Similarly new names were added to the invitees to later Non-Aligned Summits without attempting to define or redefine the concept of non-alignment. The emphasis was on enlarging the fold of non-alignment by admitting Latin American and newly independent Afro-Asian countries. Latin American countries could not be said to be completely non-aligned as they were associated with USA as members of Rio Treaty. It was argued that Rio-Treaty was not a military alliance, related to Cold War. But even this argument lost its relevance when Romania, Portugal and Phillippines were invited to Colombo Non-Aligned Summit of 1976 though they were members of Warsaw Pact, NATO and SEATO respectively.

In the meantime the conclusion of Indo-Soviet Treaty of Friendship in August 1971 raised a hornest nest of argument as to whether its made India aligned to Soviet Union or not ?

Thus slowly Non-alignment graduated from a foreign policy posture into a world movement, but in this process it lost its original character. To quote Rajmohan Gandhi, 'The phrase Non-Aligned Movement (NAM) is as unfaithful to reality as the phrase United Nations. The unabashed and conflicting alignments of many NAM countries are roughly equivalents to the divisions within and among the "United nations."

"It was genuine independence, no more and no less, that Nehru sought for India and other lands that were freeing themselves from European control. Non-Alignment was the phrase that he, Tito, and Nasser and Sukarno settled upon but the quality, as distinct from the phrase, is no longer being insisted upon."[16] In a way, this dilution of ideological content of Non-alignment was inevitable because the motivations of later entrants were different from the objectives of the earlier protagonists of Non-Alignment Movement. According to William Henderson there were as many as eight different objectives which motivated the various nations to join NAM. These were : (i) Pervasive anti-Westernism; (ii) Pre-occupation with newly won freedom; (iii) Physical Weakness and Emotional Exhaustion; (iv) Indifference to or ignorance of foreign affairs, (v) Influence of Marxism; (vi) Need for Accommodating with Communist China, (vii) Conviction about the contribution of non-alignment to peace; and (viii) Belief that non-alignment can contain communism."[17]

(III) *The period of Growth of Economic Content of NAM Since 1973.*

The character of NAM began to change by the time of Lusaka Summit of 1970. In the beginning NAM and its

leading light Pandit Nehru tried to play the role of the "honest broker" between the USA and the USSR. But the events of 1962 and after made the leaders of NAM increasingly incapable of and unwilling to play this role. After the Cuban crisis of October 1962, the Cold War was gradually replaced by 'Detente' and Helsinki Accord of August 1, 1975 made Cold War a thing of past. Secondly, India's humiliation at the hands of China in 1962 decreased the capacity of India and other non-aligned countries to play the role of "honest broker." Later on development of Pindi-Peking-Washington Axis during 1970s convinced Indian leaders that the exigencies of our national interest necessitated a firm friendship with the USSR. Moreover the lesser powers in the NAM were more concerned with economic development than with genuine independence. They have no inhibitions in leaning towards one or the other super power, if it served their national interest. This change in the character of NAM, from a political movement aiming at genuine independence to an organization of underdeveloped countries keen to improve their economic condition, began action programmes for economic co-operation. At the New Delhi Summit of March 7-11, 1983, which was attended by 101 countries, Indira Gandhi was elected chair-person of NAM for three years. The Summit called for "a tharough-going restructuring" of the existing. economic order "through a process of negotiations". It also proposed "the immediate convening of an international conference on money and finance for development with universal participation and a comprehensive restructuring of the international monetary and financial system.

The membership of NAM continues to grow. At the Havana Non-Aligned Summit of September 1979 nations like Iran and Pakistan sought and were given full membership of Non-Aligned Club—Slowly the distinction between aligned and non-aligned nations is becoming more and more blurred. The NAM is becoming more and more some sort

of a pressure group of underdeveloped countries. An accidental fact is that most of the developed countries are situated in the northern hemisphere. This has given currency to the terms North and South for developed and underdeveloped countries respectively. In 1975,27 States—19 developing and 8 developed—participated in the North-South Dialogue (Conference of International Economic Cooperation) in Paris, but the outcome was not encouraging. In 1977 UN set up the Independent Commission on International Development under the Chairmanship of Willy Brandt. The Brandt Commission submitted its report in December 1979. The report sounded alarm at the precariousness of the situation and concluded that the rich would have to come forward to cooperate with the poor in their struggle against poverty. A two-day North-South Summit in Cancun, Mexico in October 1982 discussed the recommendations of the Brandt Commission. At this 22 nation meet, the world leaders agreed that aditional funds be made available to help the poor countries develop their energy resources. But to the dismay of developing countries no agreement could be reached on the form in which these resources should be channelled and the suggestions of the former World Bank President McNamara were not accepted. This dismay began to be visible at Lusaka Summit of September 1970 when they called for promoting the rapid economic growth of the developing countries. At the first UNCTAD Conference in 1964 a coalition of 122 countries was formed, which came to be known as the Group of 77. Most of these countries joined NAM and began to stress economic objectives. At the Algiers Non-Aligned Summit of 1973, the economic content of NAM was openly stressed. This Conference accepted the principle of unconditional right to control and nationalise natural resources. It demanded that developed countries should fulfil their obligations under the Second Development Decade and in view of the structural imbalances in world trade, the General System of Preferences (GSP) for

developing countries should be extended. India and Indonesia were appointed joint co-ordinators of Economic Action Programme.

Pandit Jawaharlal Nehru was the architect of the nonaligned idealism. At Colombo Non-Aligned Summit of August 16-20, 1976 Indira Gandhi emerged as the architect of nonaligned pragmatism. She rejected the argument that growing 'Detente' of Great Powers had made non-alignment out of date. She welcomed 'Detente' and stressed the need of extending it to smaller powers. Detente should include respect for non-aligned and other small countries. Emphasising the economic aspect of Non-alignment, she pointed out that the attitude of developed countries towards the needs of New International Economic Order (NIEO)[18] has been unfavourable. Therefore, the non-aligned countries must cooperate among themselves. The Colombo Summit extended the mandate of India and Indonesia to work as Coordinator of the Colombo Economic Action Programme on financial and monetary cooperation between non-aligned countries until the next Summit at Havana in 1979. The Havana Summit, which was attended by over 90 countries, laid stress on economic cooperation but the proposal that an energy affiliate of the bank, similar to the International Development Association (IDA) be formed, was overuled. The efforts to persuade the developed countries to extend greater aid to developing countries have not borne fruit. At the deliberations of "Group of 10" (Developed countries) and "Group of 24" (Underdeveloped countries) which preceded the meeting of the International Monetary Fund's (IMF) Interim Committee at Helsinki in June 1982, the Group of 24 sharply criticized the lack of interest shown by the Group of ten in granting aid to the third world.

Thus we see that, the contours of Non-Alignment have greatly changed over the years. NAM's image as a group of nations uncommitted to either the Western or the Soviet Union block has dimmed. The Soviet Block had taken NAM

to it bosom from the very beginning, partly because it perceived that NAM's battle against political and economic imperialism could be supported and turned into an asset in the ideological confrontation between the East and West. In the 1980s the conversion of NAM into a weapon to fight poverty of the Third World has brought it into a sort of limited confrontation with the Western World. Consequently NAM has gained an undeserved reputation of being closer to the Soviet block.

Has NAM been a success or a failure ? On the positive side it has gained acceptance both inside and outside the Third World. In the Third World NAM is a crowded shop with a queue outside and its shares are in great demand. Outside the Third World both the Western and Soviet blocks find it nacessary to woo it. On the negative side the quantitative explosion has made NAM a group of ideologically disparate countries It has become a misnomer because many of its members are member of military alliances of the two power blocks. Genuine independence of foreign policy is no longer insisted as a precondition to its membership. It has not been successful in diffusing crisis conditions even among its own members. It suffers from internal strains arising out of individual members' differing perceptions of such issues as Kampuchea and the Russian move into Afghanistan. Yet when all is said and done we have no hesitation in conculding that NAM is vibrant and full of life, though its contours have changed and will change because Non-Alignment is not an end but a means—a means of promoting National Interest.

References

1. Quoted in F. L, Shuman : INTERNATIONAL POLITICS (6th Edition, New York, 1958), p. 641.
2. Quoted in P. D. Kaushik; ANTAR-RASHTRIYA SAMBANDH (3rd Edition, Kalyani Publisher, New Delhi, 1981), p. 232.
3. Monroe, quoted in IBID., p. 235.
4. Nehru in Lok Sabha, March 17, 1950.

5. J. L. Nehru; quoted in P. D. Kaushik : *Thn Congress Ideology and Programme* (Allied, Bombay, 1964), pp. 337–38.
6, K-M. Panikkar; quoted in S. N. Dhar, INTERNATIONAL RELATIONS AND WORLD POLITICS SINCE 1919 (2nd Edition, Asia, London, 1967), p. 577
7. Refer, Peter Lyon, NEUTRALISM (Leicester, 1963); Hans J. Morgenthau, THE DECLINE OF DEMGCRATIC POLITICS (Chicago, 1962), etc.
8. L. Oppenheim, INTERNATIONAL LAW, Vol. 2 (7th Edition. Edited by Lauterpacht), p. 653.
9. J. L. Nehru, INDEPENDENCE AND AFTER (New Delhi), p. 125.
10. IBID, p. 254.
11. J. L. Nehru in THE HINDUSTAN TIMES, December 9, 1956.
12. See, THE INDIAN ANNUAL REGISTER, July-December 1946. Vol. II (Calcutta), p. 239.
13. See, P. D. Kaushik, ANTAR-RASHTRIYA SAMBANDH, Bhag 2, 1945-1982 (Kalyani, 1982), p. 505.
14. NEW YORK TIMES, 10th June 1956; quoted in Mahendra Kumar, ANTRRASHTRIYA RAJNEETI KE SAIDHANTIK PAKSHA (2ud edition, Shivlal, Agrabal 1979), p 376.
15. See; Official report of the Conference of the Heads of State or Governments of Non-Aligned Countries (Belgrade, 1961, p. 344; D. N. Mallik, "Belgrade : New Phase" in K.P. Karunakaran ed. outside the contest (New Delhi, 1962), pp 189-214.
16. The Hindustan Times, January 29, 1983.
17. William Henderson; "The Roots of Neutralism in Southern Asia," *International Journal* (Toronto) 13 (Winter 1957-58), pp. 30-40.
18. New International Economic Order (NIEO) is the name given to principles and proposals which UN General Assembly formulated in 1974 with the subject of reducing disparities between developed and developing nations.

THE UNIQUE UNITY

Dr. PRAN NATH*

In an earlier issue of this esteemed journal[1] we had occassion to enumerate certain unique characteristics of the number 'zero' besides tracing the history of two most significant events in the development of mathematics. These two events are the 'invention' and the 'discovery' of zero whose impact on the growth of mathematics is far reaching. Unity or the number 1, the first natur al number is unique in many more respects as will be seen here.

The very first notion of a number comes with the recognition that there is a difference between *one* and *more than one*. A normal child begins to grasp this distinction at the age of 18 months. This marks the beginning of the process of counting. It has been also observed that certain birds and animals possess number-sense. For instance birds which lay four or more eggs will abandon their nest if two or more eggs are removed from the nest, but will continue to hatch if only one egg is taken away. The number-sense of man is far more highly developed than that of birds or animals. Numbers have been looked upon by all ancient peoples with veneration—worshipped by some and used as charms by others. They continue to be used even now by some in this manner.

Number *one*, (1) is unique in several respects : it is that special number which generates the infinite set of natural numbers - the foundation upon which the huge edifice of the 'theory of numbers' has been erected. In other words it is the unit used for construction of all other numbers—the very brick used in the erection of the elegant edifice mentioned

* *Retd. Professor of Applied Mathematics, Instt. of Technology, B. H. U.*

above. Then again it is that unique number multiplication by which leaves the number multiplied unchanged, i. e. the product is that very same number. Also on division by 1, of any number whatsoever the quotient is again the self same number. Remembering that in theory of numbers one number is considered to divide another number only when the answer obtained is a whole number, 1 is the only number which no other number divides i. e. it is the only number with only one divisor, namely itself. All other numbers are divisible by at least two numbers, namely themselves and 1. It is also the only number which is a divisor of all numbers. In this respect 'zero' is its antithesis as zero is the only number which is not a divisor of any other number, while all other numbers divide an infinitude of numbers.

Unity or number 1, during the middle ages of mysticism also stood for God the Creator, the First Cause, the Prime Mover, एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति as the followers of अद्वैतवाद believe. Thus like zero (शून्य) which found a place in Hindu Philosophy and religion, unity (एक) has a place in the philosophy and religion of several sects.

Coming now to the classification of numbers the oldest classification was based on their divisibility by the number 2. Those divisible by 2 were classified 'even numbers' and those that left 1 as remainder on division by 2 were classified 'odd numbers'. The Greeks regarded 'even numbers' as 'ephemeral' and so female and the 'odd numbers' as indissoluble, and hence male. But number 1 was set aparat in this classification and was not regarded as the first odd number which role was assigned to number 3. In fact number 1 was looked upon as the *Great Even-Odd* as addition of 1 to odd numbers produced even numbers and its addition to even numbers generated odd numbers.

Another important classification of numbers is that numbers like 2, 3, 5, 7 which are divisible by themselves and number 1 only and thus have only two divisors are called

'prime'. It may be mentioned here that there is no number which has no divisors. And numbers like 4, 6, 8, 9 which are divisible by some other numbers as well besides themselves and 1, are called 'composite' numbers. And every composite number can be produced by multiplication of primes alone. In this classification 'zero' has no place as it is not a prime, being divisible by infinitude of numbers, besides itself nor is it composite as one of its factors is always itself, and it cannot be produced by primes alone. And interestingly enough, 1 too is technically not a prime since its inclusion amongst primes will not conform to the principle that 'the prime factorization of numbers is always unique'. (We could, for instance, multiply a number by 1 any number of times—thus $7 \times 1 = 7$, $7 \times 1 \times 1 = 7$ and so on and this leaves the number unchanged). Besides its exclusion from primes and quite obviously from composite numbers, this number 1 was also set apart in the former 'even odd' classification, as we have already seen.

Lastly in the binary system, on which the modern computers have been built to perform such fascinating feats and tremendous tasks, there are only two numbers, 0 and 1. Leibnitz, the great French mathematician, was greatly fascinated by the fact that all numbers could be represented with these two numbers only. He saw in this system the 'Image of Creation'—'Unity' the 'God' and 'Zero' the 'Void'.

Reference

1. The Invention and Discovery of zero :
प्रज्ञा, अंक २८, भाग २ एवं २९ भाग १, वर्ष १९८३.

SCIENTIFIC ATTITUDE AND DEVELOPING SOCIETY

PARAMANAND SINGH* AND SACHIDANAND YADAV**

1. Science has not only radically changed man's material conditions of living but has also vastly extended his mental horizon. It has provided new techniques of production to meet the ever multiplying requirements of the society. Development of any country without proper education in science and appropriate use of technology is inconceivable. But, proper utilization of science and technology requires a scientific environment. If the society lacks scientific temper, not only the cause of science suffers but also the creative tasks of social reorganisation and development are hampered. The scientific temper demands the scientific attitude of mind from the members of the society. The societies which lack this state of mind are unable to provide decent civilised life for their members even if they have immense material resources.

Our society is basically traditional and theocratic in nature. The state is secular and democratic in principle. Most of the people are anti-scientific in outlook and nurse many irrational and dogmatic beliefs. So, we are facing two types of problems. Firstly, the lack of scientific outlook among the people and secondly, the required change in environment. Elimination of obscurantism and superstition is essential for the evolution of a rational and just society. This is what Pandit Jawaher Lal Nehru had in mind when he stressed "Scientific Temper".

2. *Nature of Science*

The word "Science" originated from the Latin word Scientia meaning knowledge but, its meaning has changed

* Lecturer in Education, Evening College, Banaras Hindu University, Varanasi-221005.

** Lecturer in Economics, University of Gorakhpur, Gorakhpur.

with the passage of time. Early man discovered a large number of empirical relationship which helped him to under stand the environment. Significant and valuable contributions were made by Hindu, *Egiptian*, Babylonian and Greek civilizations. The Greeks provided mankind the Aristotelian system of classification and the syllogism as the basis for further deductive systematization of our experiences. The syllogical approach was considered to be true, relevant, adequate and satisfactory for all purposes during the Hellenistic and Roman periods and upto the days of Galileo and the *Renaissance.*

Francis *Becon,* in the later half of the 16th Century broke the stronghold of the deductive method, and rejected logic and authority as a source of truth and turned to study of nature and inductive method for the solution of man's problems. Boyle[1] believed : "The good of mankind may be much increased by the naturalists' insight into the trades".... Empirical proof of an hypothesis was emphasised rather than logic and authority. Charles Darwin's method is a combination of Aristotelian deduction and Baconin induction and consists of the following steps : (a) Accumulation and classification of experience (b) Quantification (c) Discovery of relationships and (d) Successive approximation to the truth. According to Waddington,[2] "Science is the organised attempt of mankind to discover how things work as causal systems". He further says : "None of man's major activities, like science, art or religion, can be captured and pinned down on a dissecting tray with one single phrase". Conant[3] defines science as an inter-connected series of concepts and conceptual schems that have developed as a result of experimentation and observation, and are fruitful for further experimentation and observation. Science is an accumulated and systematized learning, in general usage restricted to natural phenomenon. The progress of science is marked not only by accumulation of facts, but by emergence of scientific method and of the scientific attitude.

Science is both a process and a product. As a process, it adopts a specific mode of enquiry, that is the scientific method and the scientific attitude. The product of science is a systematized body of knowledge obtained through a series of a large number of empirical observations. Today, we identify the chief characterstics of science as (i) a set of systematized body of knowledge, (ii) the scientific method of enquiry and (iii) the scientific attitude.

3. *Importance of Science Education*

Social functions of science may differ depending upon the character. In developed countries, it has to provide better conditions of living for the millions. In developing countries, it can further improve the quality of living. The utilitarian value of science has been recognised throughout the globe. Science is being taught in schools as a compulsory subject. The Indian Education Commission (1964)[4] has realized the importance of science education in the following words : "There is of course, one thing about which we feel no doubt or hesitation, education, science based and in coherence with Indian culture and values, can alone provide the foundation as also the instrument for the nation's progress, security and welfare".

After World War II, the objective of teaching science shifted from mere knowledge of facts to the development of concepts, abilities, attitudes, skill, asthetic sense etc. Science teaching also helps in developing the scientific attitude. If education fails to instil the spirit of experimentation and habit of basing conclusions on verifiable facts, the people will lapse into obscurantism, and dogmatic behaviour. Obscurantism acts as powerful *deterant* to all the forces of progress and development. Promoting the scientific attitude is necessary for achieving many of the objectives of teaching science.

4. *Meaning of Scientific Attitude*

According to Dictionary of Education[5], "Scientific attitude is a set of emotionally tonned ideas about science

and scientific method and related directly or indirectly to a course of action; in the literature of science education the term implies such qualities of mind as intellectual curiosity, Passion for truth respect for evidence, an appreciation of the necessity of free communication in science". According to Waddington[6], scientific attitude can be "Contrasted with other attitudes, which have different interests, for instance the magical, which attempts to make things work not as material system but as immaterial forces which can be controlled by spells, or the religious, which is interested in the world as revealing the nature of God".

The scientific attitude may be defined as : "Openmindedness, a desire for accurate knowledge, confidence in procedures for seeking knowledge, and the expectation that the solution of the problem will come through the use of verified knowledge (Rethinking in science education, 1960). The nature of scientific attitude may be defined as (1) Turth is what it is searching for, (2) No ways should be missed that might help to find truth, and (3) What may seem to be true at one time, may later after the discovery of new facts, prove to be something less than the truth.

Thus, it is clear that scientific attitude relates human life with the total envirnment in general. It is a disposition towards a certain object or person, which is based on the judgement of facts. It is, prompted by actual and factual state of conditions in which we do not employ our affective consideration. A man with scientific attitude of mind has the following traits : (1) To be objective, (2) Decides an objective reality and accepts the consequences with courage and dignity, (3) To share failure, if necessary (4) Accepts that which is inevitable and not changeable, (5) To be reality oriented, hence may be somewhat *pessimistic* in outlook, (6) To have correct attitude towards sex.

Dimensions of scientific attitude are as follows :

(a) Personal and intimate life

(b) Inter-personal relation

(c) Future orientation
(d) Decision making
(e) Reality testing
(f) To see things in totality of the situation
(g) To assess proportionately things and situations

5. *Development of Scientific Attitude*

Development of scientific attitude through science education is as important as providing basic facts and principles of science. It developes through (a) Knowledge and information, (b) Practical experience and training and (c) Critical experience. The teacher bears the responsibility of developing scientific attitudes among students. He can succeed best if he is an example to the students for his professional honesty, respect for other's point of views, unbiased and impartial behaviour in his dealings and feelings. In formal education, scientific attitude can be developed through (1) curriculum (2) Practical experience and (3) Teaching of scientifically planned lessons.

Scientific attitude succeeds even in changing *affective* behaviour in society. A scientific reorientation of society would involve socio-economic, political, technological and moral changes which are generally resisted by most of the people who are adversely affected by it. In developing societies, the intensity of resistence is much more felt because of the backward and inappropriate educational system. Even educated persons and scientists may not be scientific in affective behaviour. At present, in most of the developing societies of Asia, Africa and Latin America, economically stranger forces seem to be acting as barriers in the path of evolution of a society based on scientific attitude. In the words of Waddington,[7] "The fundamental problems of today lie far more in the sphere of ideals and values ... in the spiritual sphere", ... "than in the technological." Scientific attitude alone can solve most of the problems of developing societies.

Thus, scientific attitudes can well be inculcated among students and masses by carrying out a well planned scheme of science education and mass education as well.

References

1. Waddington, C. H., Scientific Attitude, Penguin Books, West Drayton, Middlesex, 1948. p. 30.
2. Waddington, C. H., Scientific Attitude, Penguin Books, West Drayton, Middlesex, 1948. p. X.
3. Conant, J., Science and Common Sense, New Heven, Yale University Press, 1951, p. 25.
4. Indian Education Commission, 1964.
5. Good, V. Carter, Editor; Dictionary of Education (Third Edition), p. 49, McGraw-Hill Book Company.
6. Waddington, C. H., Scientific Attitude, Penguin Books, West Drayton, Middlesex, 1948, p. X
7. Waddington, C. H., Scientific Attitude, Penguin Books, West Drayton, Middlesex, 1948. p. (vii).

AIMS OF THE STATE IN ANCIENT INDIA

RAJESH KUMAR MISHRA AND KAUSHAL KISHOR MISHRA*

The basis of state in Ancient India was the welfare of the people. There was no meaning of state in Ancient India without the prosperity of people. Modern state is, only, theoratically, the welfare state, but in practice the people must accept the state supremacy. Although, society forms the state but the centre of all power and sovereignity is only existing in the state in modern time. In Ancient India theoretically and practically both, the state was formed only by the people and for the people. The king was the head of the state; if the king ignored his duty towards the people, the people had the right to revolt against him or right to kill him. Right to revolt in Ancient India was a form of right to recall.

Protection of life and property has been universally accepted as an essential function and important aim of Government; it was the supreme and primary duty of the king. Every writer on polity in Ancient India recognised the significance of this vital task. The Rig-Veda calls the King as the protector of the people. The hymns of Rig-Veda Chant—Oh powerful King, even as the sun shatters the clouds, defuses his light giving rays and lets flow water that help human being and other creatures to live in peace, so do thou destroy the wicked, give wide encouragement to righteous conduct and thus making thy empire acceptable and respected, rule over it, so that thou and thy subject may ever enjoy all happiness."[1] In a mythical episode in the Mahabharata, Prithu the son of Vena who had been slain by Rishis for having turned unrighteous and failed in the duty of protection had to take the oath of protecting the earth and the established religion in thought, word and deed

* Research Scholars, Deptt. of Political Science, B.H.U.

before he was invested with sovereign authority.[2] Bhisma asserted at one place, "protection of the subject is the very cheese of kingly duties. The divine Brihaspati does not applaud any other duty as this one."[3] According to Gautam the highest duty of a Kshatriya (the King) was to protect his subject, and a monarch who failed to afford protection was a dead and not a living King.[4] Manu wrote that the Lord created a king out of the divine particles of various gods for the protection of the people." "Therefore a Kshatriya who has received sacrament according to the prescribed Vedic rules should protect the wórld."[5]

So much stress on the duty of protection shows that the ancient theorists were fully conscious of the condition which would follow in its absence. In a discourse of Brihaspati and Vasumanas, related by the auther of the Shantiparva, Brihaspati replying to vasumanas question, as to why divinity is attached to the King, ascribes, into the King's importance by virtue of protection which he affords. The series of verses given in this connection emphasizes necessity of protection.

"All creatures becoms unable to see one another and sink into utterdarkness if the sun and moon do not rise, as fishes in shallow water .. rove as they please and repeatedly attack and grind one another with force and then meet with certain destruction, even so men sink in utter darkness and meet with destruction if they have no king to protect them."[6] The verse continued "If the King did not exercise the duty of protection, the strong would appropriate the possessions of the week .... no body with reference to any article in his possession would be able to say this is mine. Sons, wives and food and other kinds of property would not then exist."[7] Moreover in the absence of the King, diverse kinds of weapons would fall on those that righteous . . . and unrighteousness would be adopted by all . . . In the absence of royal protection men would disregard or even injure their very mothers, fathers if aged, their very preceptors and

guests."[8] But, "In consequence of royal protection men can every where sleep fearlessly .... without shutting their doors .... and women with ornaments may fearlessly wander everywhere without male relatives to attend them."[9] Speculations made here into the state of affairs to follow in the absence of the King shows that security of life, possession of property observance of religion and morality and enjoyment of such fundamental liberties as freedom of movements and family rights, are possible only under the shelter of the king's protection. The Santiparva there prescribed one should first select a king and only after that should go in for marriage and earning wealth.[10] The entire conception of Matsyanyaya which was the favourite theme of our ancient thinkers[11] was based on such speculations about pre-political state. Matsyanyaya signified a state of affairs in which logic of the fish reigned supreme, where might determined the rights. It was a condition of anarchy and insecurity in the absence of restraining authority.

Our political theorists had used the term protection very comprehensively. Protection means, security not only against the physical threats to life and property but also a protection against miseries of poverty and ill health. Because of this, in the Indian Political traditions; the ancient political Scientist laid stress on the King's duty for the care of poor and helpless people. Gautam laid down, that the King should support the helpless people, needy students, to promote education of the State and others, who were exempted from taxation.[12] This exemption was granted in the state in Ancient India to the aged, the infirm and others who were unable to maintain themselves as women and children.[13]

Alongwith protection, promotion of prosperity was another important feature before the state in Ancient India. Kautilya in his Arthasastra, prescribes ways and means for the King to remove the hindrances in the way of the material well being of the subject. Some of the regulations laid down under the heading 'Kantakasodhanam' were meant to

protect the subject against fraud by the artisans, weavers, goldsmith's and merchants.[14] Chapter three of the same book prescribes remedial measure against national calamities ruining agriculture and creating other havocs in the country. Alongwith the preventive measures against calamities impoverising the people, state traded to promote the prosperity of the country with more positive measures calculated to increase the resources of the country.

The conception of state responsibility to secure the prosperity of the nation, had its basis in the ancient Indian view of life. The supreme aim in life was to attain salvation through renunciation. But the way to renunciation did lie through the path of the pursuit or pravritimarga. Let not one try to achieve Moksha without acquiring the three viz, Dharma, Artha and Kama. He should constantly follow the path of Moksha without discarding the other three. This is the meaning of all religions.[15] Artha and Kama denote material existance which should precede, according to the above quotation; the ultimate spritiual objective of Moksha. This harmonious blending of spiritualism with materialism manifested itself in the end of Dandniti. It also, aimed at acquiring and augmenting the resources of material existence for ultimate purpose of cherishing the virtuous with them.

At one place in his Arthasastra, Kautilya, while giving the description of Kingly duties, in a nut shell mentions that the King ensures the Yoga-Kshema of his subjects and removes their aims.[16] The term 'Yoga-kshema' occurs in the Yajnavalkya Smriti,[17] also where it has been explained by Mitakshara as the acquisition of what has not been acquired and preservation of what has been acquired. It is not clear whether Kautilya used the term in a similar sense. This much is, however, evident that the term conveyed some idea of acquisition and preservation. Kautilya refers to Danda as a means of securing the Yogakshema of the other branches of knowledge, viz. Anvikshaki Trayee, Varta. The science

of the proper exercise of Danda aims at acquisition, preservation, augmentation and distribution of possessions.[18]

The other duty for removing of Sins of the people, perhaps implied that the King should check them from immoral and sinful acts. Morality according to Indian conception lay in the observance of Dharma. He considers amongst other things of certain general rules of righteoussness and a set of particular rules upholding the established social order. Therefore for removing the Sins of the people which they incurred through the breache of Dharma, the King had to see that his subject observed ethical rules in their dealings with others, and that they abided by the rules of their social organisation.

Thus in ordinary terminology, Yoga Kshema and removal of sins, put together, signifiying nothing more than ensurance of protection, prosperity and moral well being preservation means protection of that which is already in possession should be acquired suggesting thereby effort towards increasing the resources. The increase of resources imply prosperity, and removal of Sins clearly bear moral implification.

The ultimate objective of the State was to pave the way for the salvation of its people. It had to create conditions which might enable the individual to attain the ultimate goal of his life. Aims of the State thus indicate that the individual and not the State was the end. The later was only a means to that end. Here the Ancient Indian tradition accepted one of the most fundamental requisit of Democracy. But, within the framework of this broad principle of democracy. The detailse provisions are such that they are the very purpose of Democracy. The entire social organisation is based on such caste rules that the individual is completely submerged under caste length. The spritual merit of an individual which leads to his salvation lies in the faithful observance of the rules of the caste to which he belongs by

virtue of his birth. Individual is thus denied freedom in the choice of his profession. The way to the higher pursuits of life are closed to the men of the lower castes, even though they may be endowed with talent and natural inclination for learning and for other finer pursuits of life. This is a sheer negation of Democracy. But there is a relieving feature too. The statesmen in ancient India, who carried on actual administration appear to have taken sufficient liberty with the dictates the Law givers. If all the injunctions of Varnashrm system were translated into practice to the very letter, spartan regimentation would have been introduced in India.

Another deviation from the principle of Democracy resulted from the facts that authors of literatures on the art of government both Kautilya Manu, and others, brought the entire economic life of the State under Government control, on the plea of promoting the properity of the nation. As the consequences of such extensive spheres of State interference, individual who is the end, is reduced to insignificance. The all powerful state, the King who was supposed to be only the means, over shadowed the individual. Thus while attaining the end the means become important the end was lost sight of and the means, itself appeared to have been the end. This is particularly true of the depiction by Kautilya.

There is however, a very redeeming feature in Ancient Indian theory of the aims of the State. Moral purpose of the State has now received so much importance as has been attached to it by our theoriests, moreover, employment on the whole state machinery for the propagation of an ethical doctrine and utilisation of the entire state resources for moral upliftment of the people-as was....by Ashoka, is an unique instance in the History of the World. The Indian ideology that salvation follows after successive better births which depend on the faithful observance of duties and on the attainment of moral excellence, acted as a great incentive for a general effort in raising the moral standard of realm. Be-

sides this the conception that the salvation of the King lay in the proper fulfilment of his Rajdharama and that he earned spritual merit when his subjects were good and moral, led to the enforcement of moral rules under state penalty, to bounteous charities to the learned and the deserved, and to works of ethical leaning and propagation.

References :

1. Rigveda I, 80, Divine Ecclesia, p. 303.
2. Shantiparva, LIX, pp. 87–89.
3. Shantiparva, LVIII, p. 1.
4. Gautama, Sacred Books of the East, Vol. II, p. 238, Laws of Manu, VII, p. 143.
5. Manu, VII. S. B. E., Vol. XXV, p. 210.
6. Shantiparva, LXVII, pp, 10–13.
7. Ibid., LXVII, pp. 14–15.
8. Ibid., LXVII, pp. 17–18.
9. Ibid., LXVII, pp. 30–31.
10. Ibid., LXVII, p. 40.
11. Kautilya 1, 4, Manu, VII, p. 20.
12. Gautama X, pp. 10–12, S. B. E., Vol. II.
13. Sabhaparva V, Trans, P.C. Ray, p. 21. also LXIV 27, SCI, 38 and LXXXVI, 24, Kautilya I, 19, III. 1, Manu VIII 394, S. B. E. Vol. XXV.
14. Kautilya, 1 & 2.
15. Sukraniti III, pp. 4–5.
16. Kautilya, pp. 1–13.
17. Some Aspects of Ancient Hindu Polity, By D. R. Bhandarkar, p. 174, Yajnavalkya Smariti 1, 100, compared with Manusmriti.
18. आन्वीक्षकीलयोर्वातानां योगक्षेमसाधनो दण्ड 1/4, तस्य नीति दण्ड नीतिः । 5 । अलब्धलाभार्थ लब्धपरिरक्षणी रक्षित विवर्धनीबुद्धस्य तीर्थेषु प्रतिपादनी च ।। 6 ।।
Kautilya I, IV

ANIMALS REMAINS FROM THE NEOLITHIC CULTURES OF THE NORTHWESTERN INDO-PAKISTAN SUBCONTINENT

MOHD. NASEEM*

The available archaeological evidence bearing on the domestication of animals in this subcontinent is regrettably sparse. Before 1947, the archaeologists did not take any pain to collect animal bones but they mostly paid their attention for the collection of other archaeological materials, e. g., stone tools and pot tery etc. Since 1950, the archaeological reports began to give some space in this regard. Some of the reports provide little more than bare identification of species, but the number giving details regarding other matters, such as the changes brought about by domestication, is still very small. For a general history of domestic animals in the subcontinent the data available are still so limited that there is a serious danger of misinterpreting them.

The Northwestern Indo-Pakistan subcontinent consists of the following excavated neolithic sites :—

1. Baluchistan, (i) Mehrgarh, (ii) Kile Gul Mohammad, and (iii) Rana Ghundai
2. The Gomal Valley, Gumla
3. The Potwar Plateau, Sarai Khola
4. The Punjab, Jalilpur
5. The Kangra Valley, Ror, and
6. The Kashmir Valley, Burzahom

The description of animal remains are dealt below accordingly the excavated sites.

* *Deptt. of A.I.H.C.;& Archaeology B. H. U., Varanasi*

1. *Baluchistan* :—

(*i*) *Mehrgarh* :—

The site of Mehrgarh is situated in the north of the Kachi Plain, at the foot of Bolan Pass. The archaeological deposite is divided into 7 continuous and successive cultural periods, where Period I (lowermost) is Aceramic Neolithic and Period II is Ceramic Neolithic.

Very meagre information is available about the faunal remains, because no detailed study has been made in regard. At the present state of our knowledge, it can be inferred that the people of Periods I and II had herds of cattle because many cattle bone were recovered in the excavations (Jarriage and Lachevallier 1977, p. 7).

(*ii*) *Kile Gul Mohammad* :

The Neolithic mound is situated about 1/2 Km. northeast of the village of Kile Gul Mohammad in the Quetta Valley. The cultural meterial is divided into 4 distinct periods. Period I is Aceramic Neolothic and Period II is a mixture of Ceramic Neolithic as well as Chalcolithic.

The bones of following animals are exhumed :

(*a*) *Sheep and goat* :

The bones of these animals are predominant. They are found without any change throughout the Aceramic and Ceramic period. The excavator has grouped these two species because is very difficult to distinguish them separately (Fairservis 1956, p. 382)

The teeth of animals indicate that many of them were slaughtered when they were around two years old. But some very worn teeth indicate that some were kept alive for a late age.

(b) *Oxen* (*Bos-indicus*):

The bones of *Bos* are not reported in a good number than the above mentioned species (sheep and goat). The

wear of teeth indicates that calves and young adults were slaughtered, but cattle were kept longer than sheep or goats (Fairservis 1956, p. 382).

It may be guessed that probably cattle were milked or they were not slaughtered because of some religious factor.

(c) *Equines*:

The remains of *Equus* have been found throughout the periods. The animal belongs to Equus-hemionus family. (Fairservis 1956, p. 382).

Besides, the above mentioned domesticated animal remains, some wild species are also reported at the end of Period I. They are bandicoot rat (Nesokia), and red for (*Vulpes-vulpes*).

(iii) *Rana Ghundai* :

This site is located 20 Km. from Sur Jangal and is about 12 Km. east of Loralai. Here 5 periods have been identifiied. Period I is ceramic Neolithic.

The bones of domesticated animals are common throughout the period. The bones are in a very fragile condition. The animals represented by their bones are domesticated Indian Ox, domesticated sheep, ass, goat and horse (Ross. 1946, p. 296). However, some scholars doubt the presence of horse at this level.

The presence of domesticated Indian ox in this period is also evidenced by the painting of humped Indian bull on the pottery from succeeding Period II.

2. *The Gomal Valley* (*Gumla*) :

Only one site, Gumla has been excavated so far. This site is very near to the Gomal village. Six cultural periods, with interruption between them, have been noticed. Period I is Aceramic Neolithic.

Very scanty information is available regarding faunal remains. Only the bones of *Bovine* are reported. They are burnt and bear cut marks indicating that they were eaten by the neolithic inhabitants. The flesh was used by roasting it. (Dani 1970-71, p. 97).

3. *The Potwar Plateau* (*Sarai Khola*)) :

Like the Gomal Valley, in this region also only one site, Sarai Khola has been excavated. The occupational deposit is divisible into 4 periods. Period I is Ceramic Neolithic.

Unfortunately no information is available regarding animal domestication (Halim 1972).

4. *The Punjab* (*Jalilpur*) :

Jalilpur is the only excavated site. The cultural material is divided into two distinct continuous periods. Period I is Ceramic Neolithic.

The Neolithic folk of Period I kept herds of animals like, cattle, sheep, goat and gazelle (Mughal 1972, p. 119).

5. *The Kangra Valley* :

The only excavated site is Ror, which is devoid of faunal remains (Mohapatra 1966).

6. *The Kashmir Valley* (*Burzahom*) :

In the Kashmir Valley, Burzahom is the only excavated site. The excavations have brought to light four phases, of which the earliest two phases (Phase I and II) are Neolithic.

There is no published information about the animals kept by the Kashmir Neolithions, because the monographs containing information about the Kashmir's Neolithic are silent on this issue. But the presence of bones of dogs, wolves, *Barasingha* and Himalayan ibex in the human and animal burial pits indicates the names of some of the animals eaten and hunted by them (Pandey 1970, p. 32).

Besides, Shri T. N. Khazanchi has very kindly furnished some unpublished information about the animal herds kept by the Neolithic people of Burzahom. The bone tools were analysed and these also furnished an important information about the animals herded by them. Though it is surprising that no animal bones are available.

Phase I :—

This phase comprises the bones of following animals :

Domesticated pig (Sus-scrofa)
Wagner (Kashmir-stag)
Nilgai (Bos-elaphus)
Domesticate sheep (Ovis-orientalis)

Phase II :—

This phase includes the bones of Domesticated dog (Cannis-familiaris), Wolf, Kashmir stag, domesticated humped cattle (Bos-indicus), domesticated buffalo (Bubalisbubalis), domesticated goat (Capra-hircus), and domesticated sheep (Ovis-orientalis).

Thus, the above informations hows that the Neolithic people of Burzahom had domesticated animals along with wild animals.

When one looks at the information given above, it is clear that very scanty evidence is available about the faunal remains from this region. The animals kept by these neolithians are not much varied. People were familiar with the domesticated animals like cattle, goat, and sheep. From the evidence mentioned above from Kile Gul Mohammad and Burzahom, it may be surmised that people of these two sites were also in the contact of wild animals.

It seems that in Baluchistan and adjacent areas bones of cattle, sheep and goat occur during the first stage of settlement represented by Mehrgarh, Kile Gul Mohammad, and Rana Ghundai etc. Since the information about faunal remains is very meagre, it is very difficult to trace the evolu-

tion of neolithic animals from their wild variety. However, significant attempt has been made regarding the later period (the Harappan period). With the help of this the evolution of each animal may be suggested.

It is inferred that the cattle were mainly of the humped zebu variety, as the terracotta figurines in this area almost always show cattle with a prominent hump (Allchin 1969, p. 318). Alur's observations seem to indicate that Bos-indicus was already clearly differentiated from Bos-primigenius, and that its domestication must have been from an indigenous species (Allchin 1969, p. 319).

The relationship of Indian buffalo (Bosbubalus) to its wild counterpart leaves little doubt that it was domesticated locally (Allchin 1969, p. 319).

There has not yet been sufficient study of sheep and goat bones to indicate the nature of the early specimens but Prasad concludes that the Harappan sheep could have been locally domesticated from feral Ovis-vignei. The position is no clearer with regard to the goat. Prasad also concludes that the Harappan pig belonged to the domestic variety of the Indian wild pig Sus-scrofa (Allchin 1969, p 319).

When one looks at the evolution of domestic variety of each animal from its wild variety it may be said that these animals were domesticated locally from the indigenous wild animals. This suggests that in the post-Pleistocene period Baluchistan and neighbouring areas were inhabitated by the wild varieties of domestic animals. From these wild species people domesticated them. It is quite erroneous to say that people from West Asia brought these animals with them, when they migrated from West Asia due to influx of population (Allchin and others). Further researches may throw some important light on this problem.

Some authorities have expressed doubt regarding the presence of horse in Rana Ghundai Period I. In their view the bones of horse are clearly those of an imported animal.

Zeumer is of the view that the teeth obtained by Ross from the surface of the section of Rana Ghundai I should be treated with suspicion, and that in any case they are more likely to be of the onager, Equus-hemionus (Allchin 1969, pp. 319-20).

The bones of cattle, sheep and goat bear cut marks and suggest that they were roasted, and their flesh was used as diet There is also evidence of the use of the bones for making tools. Cattle and horse were used as pack-animals and were presumably drafted in carts etc.

References

1. Allchin, F. R. 1969, "Early domestic animals in India and Pakistan", *The domestication and exploitation of* plants and animals, (ed) Peter J. Ucko and G. W. Dimbleby, London, pp. 317-22.
2. Dani, A. H. 1970-71, "Excavations in the Gomal Valley", *Ancient Pakistan*, Vol. 5, Peshawar, pp. 1-177.
3. Fairservis, W. A. 1956, "Excavations in the Quetta Valley, W. Pakistan", *Anthropological papers of the American Museum of Natural History*, Vol. 45, Pt. II, New York, pp. 169-402.
4. Halim, M. A. 1972, "Excavations at Sarai Khola Pt. II", *Pakistan Archaeology*, Vol. VIII, Karachi, pp. 1-112.
5. Jarriage, J. F. and M. Lachevallier, 1977, "Excavations at Mehrgarh, Baluchistan; Their significance in the prehistoric context of the Indo-Pakistani Borderlands", *South Asian Archaeology*, No 4, Paris, pp. 1-67.
6. Mohapatra, G. C., 1966, "Preliminary report of the Exploration and Excavation of stone Age sites in Eastern Punjab", *Bulletin of the Deccan College Research Institute*, Vol. 25, Poona, pp. 221-237.
7. Mughal, M. R., 1972, "Excavations at Jalilpur", *Pakistan Archaeology*, Vol. N. 8, Karachi, pp. 1-10.
8. Ross, E. J. 1946, "A Chalcolithic site in Northern Baluchistan". *Journal of the Near-Eastern Studies*, Vol. 5, No. 4, Chicago, pp. 284-316.

Zeuner is of the view that the teeth obtained by Ross from the surface of the section of Rana Ghundai I should be treated with suspicion, and that in any case they are more likely to be of the onager, Equus hemionus (Allchin 1969, pp. 319-20).

The bones of cattle, sheep and goat bear cut marks and suggest that they were roasted, and their flesh was used as diet. There is also evidence of the use of the bones for making tools. Cattle and horse were used as pack animals and were presumably drafted in carts etc.

References

1. Allchin, F. R., 1969, "Early domestic animals in India and Pakistan", *The domestication and exploitation of plants and animals* (ed) Peter J. Ucko and G. W. Dimbleby, London, pp. 317-[illegible]
2. Dani, A. H. 1970-71, "Excavations in the Gomal Valley", *Ancient Pakistan*, Vol. 5, Peshawar, pp. 1-177.
3. Fairservis, W. A. 1956, "Excavations in the Quetta Valley, West Pakistan", *Anthropological Papers of the American Museum of Natural History*, Vol. 45, Pt. 2, New York, pp. 172-[illegible]
4. Hakim, M. A. 1883, "Excavations [illegible]", *Ancient [illegible]*, Vol. VIII, Karachi, pp. 1-[illegible]
5. Jarrige, J. F. and M. Lechevallier 1979, "Excavations at Mehrgarh, Baluchistan. Their significance in the prehistoric context of the Indo-Pakistani Borderlands", *South Asian Archaeology*, No. 4, Paris, pp. 1-68.
6. Mohapatra, G. C. 1966, "[illegible] in the Punjab [illegible]", Bulletin of the Deccan College Research Institute, Vol. 23, Poona, pp. [illegible]
7. Mughal, M. R. 1972, "Excavations at Jalilpur", *Pakistan Archaeology*, Vol. No. 8, Karachi, pp. 1-[illegible]
8. Ross, E. J. 1946, "A Chalcolithic site in Northern Baluchistan", *Journal of the Near-Eastern Studies*, Vol. 5, No. 4, pp. 284-316.

THE ART OF SCROLL PAINTING IN BENGAL

SHIV KUMAR SHARMA*

The art of scroll painting has a hoary antiquity in the Indian subcontinent. The very fragile nature of cloth scrolls has been responsible for the decay of all ancient examples though China is fortunate enough in preserving many an ancient example. Moreover the tropical climate had caused the decay of ancient examples. Ravages of nature and vandalism by man have been no less responsible for the same. Almost all parts and regions in the ancient and mediaeval periods had produced scrolls or Patas both religious and secular in nature. Bengal had not been an exception to this general tendency. The heavy downpour and the humid climate as well as the fragile bamboo houses of the Bengali people that easily were consumed by fire during summer months had created such conditions under which no example of Patas dating beyond the last two centuries have survived. The art of Pata painting was prevalent in both the eastern and western wings of Bengal. Hindus, Muslims and the tribes who were influenced either by Hindu or Islamic practices produced their respective Patas following religious or semi-religious directives. These survive in the museums of Bangladesh, India and a few western countries. Till the early days of the present century Pata painting was in a flourishing state catering for the religious needs of the people and also providing them with entertainment and instruction in the traditional lores.

Being an example of folk art Pata painting was popular in every part of the Indian subcontinent and each region produced them in a local style. But in one point they were common, i. e., they were all long scrolls which were kept rolled up and displayed occasionally as a show or as a part

* *Research Scholar Deptt. of History of Art, B. H. U.*

of religious festivals. But Bengal also produced separate cloth paintings which were kept like sets and the illustrations were based on one particular theme. Such Patas were known as Chauka Pata or square Paṭas though more often than not such pieces were rectangular in shape.

Bengal Patas can be primarily divided into three varieties, viz., Hindu, Islamic and tribal. Among the Hindu specimens the largest number deal with Krishnalila, Manasamangala, Ramayana, Sitala worship, and also with Chaitanyalila. Islamic Patas concern the exploits of the Ghazis and are known as the Ghazir Pata; while another variety is known as the Kazir Paṭa.

Patas were originally on long stretches of coarsely woven cotton cloṭh. A fine coating of clay mixed with cowdung was applied on the scroll to smoothen the surface and seal the pores of the cloth. When dry the surface was rubbed for making it even and thus ready to receive the paints. The film of clay and cowdung was kept very thin so ṭhat the coating would not crack when the scroll was rolled up. Later on, however, paper was being used. Late examples even show the use of newspaper sheets sometimes reinforced by pasting ṭwo layers of sheeṭs together. Sheets were joined by pasṭing Sheets sideways thus producing a long stretch of painṭing to hide the printed surface as well as ṭo give a neutral background for paintings.

Usually the Paṭas were made of cloth but G. S. Dutt had found an important exmple of a Krishnalila Pata from western Bengal made on strong yet supple paper. The Pata was fragmentary when he found it and measured eleven feet in length and was two feet broad. There were ten different scenes in separate panels arranged horizontally one afṭer another.

The full length of a Pata was between twenty and twenty five feet and had a width of two feeṭ approximately. It contained twelve to fifṭeeņ scenes wiṭhin which the story was narrated to the full.[1]

As already mentioned the colours of the Patas were pure and bright. The five primary colours used, included Sveta (white), Pita (yellow), Krishna (lamp-black), Haritala (green-brown) and Rakta (red). For embellishment gold-leaf or powder gold-leaf or powder as well as silver leaf and powder were also used.[2] The blue to be met with in Krishna's complexion was a vivid indigo. For fixing the paints they were often mixed with the pulp of boiled tamarind seeds. In some places paints were mixed with barley paste also.[3]

The painters or Patuas formed a caste and it was not unusual to find Muslim Patuas. As a matter of fact it seems that gradually from a strictly caste group (chitrakara) it turned into a professional group not unlike the ancient Indian Sreni. Skill and profession brought the Hindu and Muslim painters together who were jointly known by the professional appelation Patua or scroll-painters. In Birbhum area of Western Bengal there is a concentration of Patuas in the village of Panur. The origin of their caste traditionally believed by its member was narrated to Binay Ghosh by Chabilal, a Patua, is that they were born of Visvakarma, the divine artist and were degraded due to the curse of an enraged Brahmin.[4] Another class of painters known as the Malakara inhabit the village of Itagaria near Siuri in Western Bengal. Primarily they were decorators and florists but gradually took to painting. In recent memory the famous painter Sudarshan is acclaimed for his creativity. The Malakaras are Hindus in manners and customs but they also offer the Namaz of Islam which they had embraced due to neglect by high caste Hindu.[5] Like all painters Malakaras are also regarded as belonging to a low caste among Hindus.

Among the Malakaras of Western Bengal even women paint.[6] In Eastern Bengal the painters who have embraced Islam mainly paint the Ghazir Pata. But the worship of Dharmaraja and consumption of large quantities of wine is common to all painters of Bengal.[7] The worship of Dharmaraja hints at their having been Buddhist at a remote time

from which faith they might have been directly converted to Islam. There are isolated habitations of painters in southern west Bengal. They are mostly found in the area stretching from Midnapore to the Diamond Harbour. These painters are known as Patidaras in the Kumirmara village of Tamluk subdivision of Midnapore district.

The Patidaras are also influenced by Islam and observe Namaz and practise circumcision. Visvakarma and Lakshmi are also worshipped by them. The Patidars are completely endoganous[8]. Higher up in the province painters are to be found in Sarisha, Akhra, Sonarpur and Kalighat in Calcutta. In Calcutta there are areas known as Patuatola and Chitpur where traditional painters were concentrated till the beginning of this century. Their patron deity is goddess Chitresvari who is worshipped in a temple at Chitpur from whom the name of the locality is derived.[9] In Vishnupur region painters still survive and they use the general family name Pal which is common among image maker of Bengal. They claim to belong to the Chitrakara caste, their special branch being Chitra or painting. Some of these were given the title of Faujdar by the Malla Rajas of Birbhum. They are not influenced by Islam like the Patidaras.[10] Vishnupur painters are, however, specialised in preparing Ganjifas or native playing cards.

Patas were produced for both tribal and non-tribal or Samajika[11] Bengalis. Among the Samajikas there were the Buddhist community of Chittagong district. There is not any kind of scroll painting among them at present, though there are reasons to believe in its existence.

The most well known Pata which has also been published, is the one described by G. S. Dutt, I. C. S. in the J. I. S. O. A., Vol. I, No. 1, 1933. It is a Krishnalila Pata from western Bengal and consists of ten scenes arranged horizontally one after another. The present length of the Pata is about eleven feet though some portions are missing at the

beginning and at the end, the actual width of the panels is about twenty one inches and about three inches are distributed at the top and the bottom as borders.[12]

The Bengal Patas can be subdivided into two broad types the miniature type and the mural type.[13]

A Pata from Murshidabad area has more of late Mughal influence though the subject matter is Puranic. It is deposited at the Guru Saday Museum, Thakurpukur, West Bengal.

The Asutosh Museum of Indian Art in the Calcutta University has an array of important Patas. There are several Yama Patas showing different punishment in hell for corresponding sins on earth. "Kamale-Kamini" figures as a very popular item in Patas. This form of the deity combines the elements of Durga and Lakshmi.

The Asuthosh Museum has two good examples of Islamic Patas also. One is a Kazir Pata from Comilla and the other is Ghazir Pata, the provenance of the latter being uncertain. In the Ghazir Pata the faithful rendering of the Bengali Muslim culture is noticed in the costumes of men and women as well as in the accessories of daily life. In one scene a book on which a line in Arabic is written is placed on a book-stand. It, in such a case is a copy of the Quoran which guided the Quazis in the dispensing of justice.

The Birla Academy of Art and Culture, Calcutta, among a few of its Patas can boast of a Manasa Pata (CP 401) for the faithful depiction of the riverine culture of Bengal. Through the centre of the Pata the river meanders its course vertically. It is dotted in the upper zone with the boats of Chand Sadagar and his sons while in the lower section shows the raft of banana stems on which Behula sits with the decaying corpse of her husband Lakhindar. All along the banks of the river life in a Bengali village is faithfully portrayed. The river is full of myriads of fish and aquatic animals. Even the lobster and the tortoise have not

been forgotten. The Pata is an indication that the life of the Bengali people is intimately connected with rivers a large number of these criss-cross the entire country. Thus it is an authentic document of the folk culture of Bengal.

References

1. Dey, B. and Irwin, John, Marg, Vol. I, No. 4, The Folk Art of Bengal, p. 47.
2. Mookerji, Ajit, Folk Art of Bengal, P. 24.
3. Ibid, P. 26.
4. Ghosh, B., Paschim Banger Sanskriti, p. 701, Calcutta, 1957.
5. Ghosh, B., Paschim Banger Sanskriti, p. 701.
6. Ghosh, B., Paschim Banger Sanskriti, p. 701.
7. Ibid, p. 702.
8. Ghosh, B., Paschim Banger Sanskriti, p. 703.
9. Ibid, p. 704.
10. Ghosh, B., Paschim Banger Sanskriti, p. 697.
11. Ray, S.K., The Ritual Art of the Bratas of Bengal, p. 52, Calcutta 1961.
12. Dutt, G. S., The Indigenous Painters of Bengal, J. 17. S. O. A., Vol. V, No. 1, 1933, p. 21.
13. G. S. Dutt, Ibid, p. 20.

COLOURS AND COLOURING OF ANCIENT GLASSES

RAVINDRA N. SINGH & SANTOSH SARAN*

Glass an ancient substance, a fourth state of matter that combines the rigidity of a crystal with the largely random molecular structure of a liquid. It may be regarded as both an undercooled liquid and as an inorganic polymer with highly crosslinked structure. It is made by fusing together alkalis, lime and sand.[1]

The technique of glass making was known to ancient Indian people from very early period. It was known in the other part of the world with in the period of c. 2700 and 1500 BC. In India, origin of glass or glass like material can be traced back to the Harappan period (2300BC)[2]. The evidence from Bhagvanpura (Harayana)[3] confirms the occurrence of beads and bangles of true glass in various colours from Late Harappan—PGW overlaped phase, which, according to J. P. Joshi,[4] is the earliest evidence of true glass from India. The evidence from Hastinapur,[5] Roper,[6] Ahichchhatra[7] and Alamgirpur[8] testify its antiquity to the PGW Level (C. 1100-800 BC), while those of Maski[9] ascribe its occurrence from the Chalcolithic levels also. The specimens of glass has been reported from a number of sites of NBP ware levels such as, Rajghat, Taxila, Sravasti, etc.[10] The most prolific periods of glass manufacturing in ancient India was Mauryan and Satavahana.

The colours have been used for decorative purposes since prehistoric times. The technique of colouring and glazing of glass and ceramics was known in ancient India with the use of paints and pigments. The people of early Baluchistan (i. e. fourth millenium BC)[11] were acquainted with the art of making baked or burnt clay pottery, as well

* *Dept. of A. I. H. C. & Archaeology* B. H. U.

as painting the same with two or more colours. A polished bright red slip is occasionally found at Arikamedu.[12] Egyptian blue was one of the early pigment used for colouring.[13] The colouring of a pottery is very much different from the colouring of a glass. Colouring a glaze and a glass require advance knowledge of colour chemistry. Generally the early coloured glazes and the glasses were used to produce imitations of precious and semiprecious stones. They embrace imitations of such natural materials as turquoise, lapislazuli, red jasper, etc.[14] Both colourless and coloured, transparent and opaque glasses as well as coloured glazes were popular in ancient India. On the surface of faience from Mohenjo-daro is a glaze—transparent glass in various colours e. g. blue, green, pale-blue, yellow, white, grey, black and also chocalate red.[15] Glass bangles from Bhagvanpura are of various colours, i. e. sky blue (transluscent), white and black. The extant glass specimens show that the ancient glass makers were highly competent in the art of using multi-coloured shades.

The glass makers of Maheshwar and Navdatoli[16] (c. 400-100 BC) had used various combination of colours in the fabrication of bangles. The glass manufacturer of Nevasa[17] (C. 50 BC-AD 300) used monchrome and polychrome with different shades in them. The Nasik[18] (1 st cent. AD) consist of yellow matrix covered over by a green glass. Similar beads of composite colours have a fair distribution in southern. India. A typical type of glass beads found from a number of sites, e. g. Ahichchhatra, Nasik, Brahmapuri, Kondapur' etc, known as gold-foil beads[19]. The technique is that a gold-foil is sandwitched between two layers of glass, when hot[20]. Another skillful technique of the craftsmen of Brahmapuri[21] (C. 1st AD) is found in the case of a bangle where thin strands of two or three colours are twisted together in a very thin band.

Fragments of a glass-bottle (1 st cent. AD) found at Taxila,[22] having glass of two different colours dark brown

and white. The excavations from Rajghat[23] have yielded hundreds of glass beads and bangles. The colour variations include, from light yellow to different shades of green and blue with buff, red, brown, black, and white and black and red, many of which are transparent and quite a few are opaque. Tiles (3rd cent. B. C.) found in Dharmarajika *stupa* at Taxila[24], reveal a floor of glass of bright azure blue and a few other colours, viz. black, white and yellow.

Chemical analysis[25] of some of the coloured specimens of glass have shown that the colouring agents were derived generally from the appropriate ores and minerals added to the body material of glass and glazes. Coloured vitreous paste consisted of the mixture of soda, silica, lime and colouring agents, i. e. metallic oxides, was prepared after firing, which finally reduced the mixture into the powder. Analyses revealed that:—

Red	—	Cuprous oxide
Red haematinum	—	Metallic copper
Choclate	—	Cuprous oxide and Feric oxide
Green	—	Cupric oxide
White	—	Antimony oxide and stanic oxide
Black	—	Ferrous oxide and Manganese oxide or Ferrous oxide and Cupric oxide
Greenish	—	Ferrous oxide
Amethyst	—	Manganese oxide and Feric oxide
Bluish violet	—	Manganese oxide and Cupric oxide
Deep Violet	—	Manganese oxide in high proportion
Brown	—	Ferrous oxide and Manganese oxide

Bottle green	—	Ferrous oxide
Orange (opaque)	—	Cuprous oxide and Tin oxide
Yellow	—	Ferrous oxide
Turquoise blue	—	Cuppric oxide
Greenish blue	—	Cuppric oxide and Feric oxide
Deep blue	—	Cobalt oxide
Bluish green	—	Cuppric oxide and Feric oxide

Opaque glasses and the glazes were prepared by the mixture of oxides of Tin and Antimony.

The colours vary from deep to light shades due to the variations of quantity of the colouring agents and the temperature of fusion.

From Lal's qualitative analysis of Hastinapur[26] glass it is evident that iron oxide was responsible for the brownish and black colours. The colours of the Arikamedu[27] glass specimens are free from metallic copper but they contain cuprous oxide which imparts a brick red to liver red colours to the specimens. High proprtion of manganese accounts to ford a deep violet colour. The green colour had been obtained due to copper and blue colour due to cobalt oxide. Cobalt oxides have also been found in our analysis of Rajghat glass beads (Pd. II) to give deep blue colour, in contrast to the E. R. Caley's[28] observation that it was not used by ancient Indian glass manufacturers. Though cobalt has been in the vitreous paste of Mohenjodaro. Blue colour of Ahichchhatra[29] glass has copper oxide as the colouring agent while the colour of green one was due to the combined action of copper and lead oxides. Lal's analysis of Kolhapur[30] polychrome glass bangles showed that various coloured glasses were superimposed one over the other and the line of demarcation was clearly seen in the

enlarged cross sections. He analysed one fragment of a light blue coloured transparent glass bangle. Its colouring agent was known to be copper. The glass from Kopia ware analysed by Varsheney and Roy[31]. These show significant absence of copper as colouring agent and presence of Manganese oxide and Titanium oxide. The Nalanda[32] glass owe their colour to the presence of ferrous-silicate and cuprous oxide. Lal opined that, no such material has been discovered elsewhere in India so far.

Opacity in ancient Indian glasses attributed mainly to tiny air bubbles present in the glasses. Subramanium's[33] microscopic examination of blue opaque glass of Arikamedu showed the presence of numerous small seeds. A white opaque glass of Taxila[34] showed the presence of Antimony as an opacifier.

Among the various colours—red colour had always occupied important position in man's choice. Accordingly red jasper, red coral and carnelian were particularly used in ancient civilizations of Egypt, Mesopotamia and India. The chocolate red faience material from Mohenjodaro[35] is probably the earliest example of the use of cuprous oxide as a colouring agent in glaze any where in old world. But the true glass specimens of red glass are known only from- later archaeological sites e. g. Rajghat, Kausambi, Ahich-chhatra, Taxila, Nasik, Vaisali, Nevasa, Maski, Sulur and quite a few other site.[36] Ancient copper red-glasses were generally opaque. These have in general high content of cuprous oxide.[37] In some cases elemental copper is reported (Taxila and Assam). Presence of lead in high proportion in red glasses looks to be purposeful and needs further re-search. It is to be noted that accurate conditions required for production of red colour by use of copper compounds may have prevented large scale use of copper ruby glasses.[38]

Besides copper, metallic gold and colloidal gold can give ruby red colour to glasses.[39] However, gold is not

traced in ancient Indian glasses so far used as colouring agent. Gold also give purple colour to glasses known as purple of cassius.[40] So far as sources for colouring agents are concerned, almost all clays contain iron in one form or another, it is seldom necessary to look beyond these for a source of iron oxide.[41] Feric oxide also derived from wood ash.[42] Copper oxide might have been introduced by any of the common ores, malachite, azurite, cuprite, etc. Manganese may have been introduced as maganiferrous oxide perhaps by wood ash.[43] The commonest source of cobalt oxide might have been asbolite. Nickel oxide may have been introduced from mineral millenite (NiS) and Tin oxide was normally introduced as cassiterite (SnO_2).

Thus, from a general perusal, it can be safely inferred that ancient glass makers had evolved a highly advanced technique of colouring glass objects with different shades of colours. As to the standard of glass, both colourless and coloured, transparent and opaque made in ancient India. The following observations made by Pliny[44], the famous Greek historian, deserve mention here :

Pliny (C. first century AD) has referred to the glass of India as superior to those of all other countries from the circumstances of its made of pounded crystal. He states : 'the people of India by colouring crystals have found a method of imitating various precious stones, beryls in particular.' His statement is that the ancient Indians were acquainted with the art of making glass and colouring it by the addition of metallic salt or oxides.

Thus, we may conclude that, ancient craftsmen had developed a fair knowledge of colour chemistry for attributing different coloured shades to glasses and glazes by varying the tinctorial agents or decolouring agents and also its temperature—e. g. reducing or oxidizing. Various shades were manipulated by adding ancialliary chemicals like, lead, antimony, tin, manganese, etc.

References

1. Brill, R. H., 1962, A Note on........*J. of Glass Studies* Vol. IV, pp. 127-38.
2. Bhardwaj, H. C., 1979, *Aspects of Ancient Indian Technology*, Delhi, p. 28.
3 *I. A. R.* 1975-76 , p. 16.
4. Information from Dr. J. P. Joshi, A. S. I., Delhi.
5. Lal, B. B., 1957, Hastinapur, *A. I. No.* 13, pp. 13, 23.
6. Sharma, Y. D., 1954, Excavations at Ropar, *Lalit Kala* Nos. 1-12, p. 12.
7. Dikshit, M. G., 1952, Beads from Ahichchhatra, *A. I. No.* 8, p. 53.
8. *I. A. R.* 1958-59, p. 54.
9. Thaper, B. K., 1957, Maski, *A. I. No.* 13, pp. 20, 106-113.
10. Bhardwaj, H. C., 1979, *Aspects of Ancient Indian Technology*, Delhi, p. 28.
11. Stein, A., 1929, An Arch. Tour in Wazir. & N. Baluch. *M. A. S. I. No.* 37, pp. 40-41, 60-61.
    .... 1931, An Archaeological Tour in Gedrosia, *M. A. S. I.* pp. 53, 93,
12. Wheeler, M. et al., 1946, Arikamedu, *A. I. No.* 2, p. 7.
13. Chase, W. T., 1971, Egyptian blue as Pigments or as Ceramic Material, *Science and Archaeology*, (Ed,) R. H. Brill, Washington.
14. Ray, p., 1956, *History of Chemistry in Ancient and Medieval India*, Calcutta, p. 7.
15. Marshall, J., 1931, *Mohenjodaro and Indus Civilization*, Vol. II, Delhi, pp. 574-75.
16. Sankalia, H.D., 1958, *Excavations at Maheshwar and Navdatoli*, 1952-53, Pune, p. 217.
17. Sankalia, H. D., 1960, *From History to Prehistory at Nevasa*, Pune.
18, —do— 1955, *Excavations at Nasik and Jorwe, Pune*,
19, Singh, Ravindra, N., 1983, Antiquity of Gold Glasses, *Puratattva*, Vol. 12, pp. 1957-59.
20. Shuler, I., 1966, A Note on Jewish Gold Glass, *J. Glass Society*, VIII, Corning, N. Y.
21. Sankalia, H,D. and M.G. Dikshit, 1952, *Excavations at Brahmpuri (Kolhapur)* 1945-46, Poona, p. 151.
22. Marshall, Sir, J., 1951, *Taxila*, Vol. II, Delhi, p. 689.
23. Narain, A. K. et al., 1979, *Excavations at Rajghat*, Vol. III, Varanasi.
24. Marshall, Sir, J., 1951, *Taxila*, Vol. II. Delhi, p. 689.

25. Bhardwaj, H.C., 1979, *Aspects of Ancient Indian Technology*, Delhi,

— Singh, R.N., 1983, Technology of Glass in Ancient India : Some Facts and Problems, Abs. Paper for Symposium on *Archaeometry* Naples, Italy.

— Singh, R. N. and Santosh Saran, 1983, A note on Glass Objects from Gupta Levels, Paper read in XVth Ann. Con. Ind. Archaeological Society, Pune.

26. Lal, B.B., 1957, Hastinapur, *A.I.No. 13*, pp. 20, 106-113.

27. —do— 1952, Examination of Ancient Indian Glasses, *A.I.No. 8.*

28. Caley, E. R., 1962, *Analyses of Ancient Glasses*, Corning, N. Y., p. 88.

29. Lal, B. B., 1952, Examination of Ancient Indian Glasses, *A. I. No. 8*.

30. —1956, Studies in .... Glass like objects, Bellary, Kolhapur, Maski, Nasik and Maheshwar, *B. D. C. R. I.*, *Vol. XIV*, pp. 48-55.

31. Varsheney, Y. P. and P. Ray, 1953, Ancient Kopia Glasses, *Glass Industry Vol. 34*, pp. 366-68, 392.

32. Lal, B. B., 1952, Examination of Ancient Indian Glasses, *A. I. No. 8.*, pp. 22-25.

33. Subramanian, A., 1950, Glass in Ancient India, *Current Science, Vol. 19* pp. 19-20.

34. Sana Ullah In *Taxila* Vol. II, Delhi, pp. 688-89.

35. Marshall, J., 1931, *Mohenjodaro and Indus Civilization*, Vol. II, Delhi, pp. 574-75.

36. Bhardwaj, H. C., 1979 *Aspects of Ancient Indian Technology*, Delhi,

37. —do—, 1970, Copper Red Glasses Through the Ages, *Puratattva No. 3*, p. 55.

38. Atmaram and S. N. Prasad, 1962, Mechanism of Formation of Colour in Copper Red Glass, *Advances in Glass Technology*, N. Y., pp. 256-259.

39. Newton, R. G., 1970, Metallic Gold and Ruby Glasses, *J. Glass Society*. 12, pp. 165-70.

40. Hunt, L. B., 1976, The true story of purple Cassium, *Gold Bull.* Vol. 9, No. 4, pp. 134-39.

41. Bhardwaj, H. C., 1979, *Aspects of Ancient Indian Technology*, Delhi, p. 67.

42. Newton, R. G., 1978, Colouring Agents used by Medieval Glass Makers, *Glass Technology*, 19. No. 3, pp. 59-60.

43. —do—, 1978, Ibid, p. 60.

44. Pliny, *Natural History*, XXXVII, 20; XXXVI, 66, Tr. by Mc. Crindle.

YOGA
THE PSYCHODYNAMICS OF BIOFIELD

DR. RAMA KANT PANDEY*

Incessantly, our mind is beaten by violent thoughts, tossed by gushing sentiments, blown off by surge of desires and, no less often, blinkered by benign ingnorance. Having little knowledge of our inner, mental ebullience we go on restlessly hunting for the enemy in the outer world of senses. But whenever we happen to have a sigh of relief from the tempest of emotional excitements, a bit of heart-searching reveals that our sworn enemy is sitting in our own fort. In order to drive him out it is enough to let him sense that we are wide awake. The invader inside us is our own king-size ego.

Our continuous struggle with the outer forces of nature is fated, at long last, to end in smoke and thus a pervading gloom envelops our mind which could otherwise be made into a radiating centre of light and sweetness. The infinite glory of the nature has to be lived in full on the plane of mind i. e. active consciousness. But shrouded with ignorance, our mind keeps itself tied to the body-bound pleasures of life derived through sensual perceptions. Unless it changes its course inward, from the senses to experiences, it is utterly deprived of the unfading charm of internal visionscape that sets all tissues of life a-tingle.

Isolation—The First Principle.

Modern biology holds that an essential factor of evolution is isolation. Although it is an inherent tendency of our senses to fan out in the outer world in order to suck in the nectareous quintessence of the objective manifold, their basic propensity is just to get at some immutable and unified entity of eternal 'endurance'. Our senses, sooner or later, stumble upon the truth that their frequent contacts and correlations

* Asstt. Director, Physics-cell, Banaras Hindu University.

with the objective realities lead them nowhere. When the mind is tired of triviatities, disillusioned with the unending will-ó-the-wisp, vanquished and exhausted it makes off to the background. There, the soothing sea of tranquillity, with its vastness extending far into infinity, awaits the comback of the mind to wash the dust of time out of its face in a flash. In fact, the constant movement of mind is an indication of its quest for the absolute bliss. It goes on jumping restlessly, 'like a mad monkey stung by a scorpion', as puts Swami Vivekanand, for living in peace with the non-relative rest. Once our mind takes a correct angle to let it go, off the jumpboard, for a dive into the pool of pure existence, all the extraneous impurities get dissolved in the cosmic waters of divine consciousness.

So long as our mind is infected with the virus of vainglorious phenotypic connections, its vital brilliance is eclipsed by false identification. Isolation involves a sharp cut-off of the organism, achieved through the process of *'neti-neti'*, which finally makes the mind shine forth in its crystalline purity. In that transparent self-sameness of the mind the reflection of the infinite turns into a tangible, perceptual reality. This marks the merger of the 'pot-space' of the self into the 'super-space' of the overself. The rapid fluctuation of mind, from glittering objects to dark sense-data, ultimately relegates into the steady glow of pure awareness where the shadowy patches of perceptual impressions instantly melt away. This is on account of an innate urge of the organic system for spontaneous isolation. For, isolation is not only necessary for the building up of ordering forces and the structural organisation of the system but it also constitutes an essential factor for the unfoldment of greater evolutionary potential.

The ancient seers of India have tactfully exploited the natural vagrancy of mind for the purpose of mental isolation with an eye to devise a spring-board for leaping into the

upper ocean of boundless existence (*ūrdhva samudra*). They have tongued the truth of mental abstraction and withdrawl of the outgoing senses towards the central source of untainted intelligence. The flight of mind on the wings of thought and its non-stop flippancy, in the final analysis, turns out to be an expression of the centripetal power of the supramental consciousness. Our mental activities belong to the impulses at the surface level of consciousness. With a view to reach the centre of our being we have to dig deep into the para-personal field of sublime realities by dropping the burden of discursive thoughts.

Yoga and Thought-mechanism

Yoga is not based on vague doctrines or pious assumptions but on positive and practical method of controlling the physical and mental rhythms to reach the state of highest evolution. In the yoga-terminology, the ingathering of mind from its wanderings and getting it merged into a state of dazzling delight is known as *pratyāhār*. Yama, Niyam, Āsanās and Prānāyām are different preliminary footholds which allow the mind gradually to descend deeper and take a dip in the calm lake of divine radiance. The well verified physical postures along with the rhythmic breathing, act as a catalyst to bring about psychsomatic balance and mental poise. On the physical level, yoga suggests certain tested methods to keep our spinal cord flexible, our breath-rhythm even-spaced and our thought-pattern subtle and superfine.

The thought mechanism is employed to wipe out the dirty impressions stamped on the mind in course of its interactions with the transient objects of the world. Our joys, hopes and merriments; our sorrows, sufferings and depressions; our illusions, charms and enticements; our dejections defeats and antipathies all keep our mind bouncing, back and forth, all the time with a terrible frequency. Yoga provides an in-built technique to bid adieu to all these

phoney facade of sense-impressions which not only exert jarring influences on our nervous system but also throw our mind into a state of perpetual turmoil. To top it, yoga offers us a long-tried experiential procedure to bring our mind back to its source and then to trascend the ego-barrier, for, prior to it, the glimpse of the glorious supreme is hardly ever possible. The anatomical harmony caused by these practices goes a long way in attaining the purity of nervous system. In that event, the invisible knots of neuronic net-work untwist themselves which results in the release of stress and strain. Purity, chastity and honesty in all our words, deeds and thoughts are of primal importance for stepping ahead on the regal path of divine destination.

The latter steps of yoga i. e. *dhārṇā dhyān and samādhi* are meant for the mental control of thought impulses which are chiefly responsible for the excitation of brain-waves. It is the pulse behaviour of thoughts that determines the fundamental characteristics of human personality. Just as there are finer and finer levels of elementary particles, so there are a good many number of energy-states of thought which overlap one another in an unforeseeable fashion. The thought-quanta keep on jumping and jostling together so swiftly and erratically that they defy any sobering effect to attune them to the cosmic rhythm. Either through quiet poignancy of concentration or through imaginative interiority of contemplation one can master his mental predicament and soar higher into the ethereal space of soothing ambience or, effortlessly and innocently, by means of the technique of "let go", one can drown the polyphonic nuances of mind-waves into the monotonic transparency of beatific trance. It may occur as an eyewash or at best a vain glorification of unreason to the fools of the first kind, i. e. those who have never cared to cross their bestial confinements. But those who have ever heard the mellifluous tune of the infinity flowing alike from the dancing atoms and the gyrating metagalaxie whirling through, the physical space, know it

for truth that yoga, which lulls our senses into aweful joy, can best the expressed as an enchanting music of mind.

Yoga suggests us to select a suitable value of the inter-state coupling-constant of thoughts in accordance with one's life-style and self-image. This temperamental insignia of mind has been referred to by the sages as *mantra* which comprises of two facts : the one of meaning and the other of sound. For quick and easy achievement of the goal set by the spiritual masters the sound value of mantra is etched out for mental repetition. It brings about a distinct dove-tailing of the incoherent and unbridled thoughts. The mind comfortably climbing on the band-wagon of the *mantra* loses the potency of playing truant with the thoughts. In turn, the thoughts go on getting finer and finer, metabolic rate falls down, oxygen consumption turns low, heartbeat be-comes slower and ultimately our mind sinks into a sort of 'bioelectric silence'.

The appearance of a thought is an indication of the fact that a stress which is elementally a foreign material for the organic system is thrown out in a natural and sponta-neous way. It is the nature of the mind to plunge into the ineffable abyss of consciousness all by itself in its involuntary inward stroke. Luxuriating in the lap of *mantra* it fuses its differential identity with the radiant glimpse of the absolute bliss. In case, some knots in the organic complex are un-tangled, the mind comes up again on the functional field of consciousness in its outward stroke, followed by the emission of a thought. This recurring state of inward and outward stroke continues till the mind coalesces with the unmanifest phase of existence. Then, a condition beyond word is bred in the bone, wherein every nerve rings with a sibilance— *somam pib, somam pib* (drink deep the nectareous essence) and the whole body seems to be suspended as it were, with the mysterious threads of glowing awareness.

This state of mind has been aptly mentioned by the Vedic seers at various moments of transcendental revelation: *yānah peeperdaświna jystiṣmati tamastirah, sante' gāvastam āvartayanti jyotiryachchanti, yat'a somah suyante, yatra yajnyo ghṛtasya dhārā abhi tat' pavante'* i. e. where a state of soulful dynanism, all aglow with the light of truth, ferries the mind forward beyond darkness, where the rays of consciousness do away with the darkness and open the floodgate of celestial light to spread all over the mental space, where the divine ambrosia seeps and the sparkling wind of transcendental consciousness gently blows all around.

Meditation links our mind to the highest state of existence where it bathes in the ambient moonlight of sublime bliss-consciousness. A single touch of that rubiscent dawn is sufficient to evaporate all our sorrows and miseries in a trice. There the aught is not neither the tremblings of simmering desires. Between the interval of two consecutive thoughts there lie the junction points of the mind and the transcedental being. Ancient sages have admonished to take advantage of that superb moment to enter into the field of the infinite, in order to mentalise a clairvoyant vision of the undifferentiated sublimity, rising above the stream of 'space-time', like "the rainbow resting on the raging torrents". Samadhi is the apex of elemental reality conceivable by our mind as a halo of existential grandeur which descends from the unknown to the known sphere of our consciousness. Words fail and the images appear quite ineffectual to convey in conventional terms the glory of the timeless reality. Patanjali has rightly called it a state of '*ṛtambharā prajnā*' and worded it in an aphorism as—*viśokā vā jyotiṣmati*, i. e., a state of thoughtless serenity or gleaming effulgence.

As time is a function of mind and the mind is a variant of thoughts, it appears logical to assume that time is a second derivative of thoughts. Therefore for mind to take a leap out of time, it has to make a sort of double quantum jump— one

for thoughts in time and the other from finer thoughts to out of time. It is an innate commitment of thoughts to take our mind beyond the mathematical fourth dimension for therein lies the ultimate abode of mind i. e. in the realm of transphenomenal reality. In this ultramental field of timeless tranquillity our conscious personal ego disappears just by dancing to the tune of the wood-wind of eternity.

Yoga and Modern Psychology

Modern psychology falls short of its high-sounding objective of eliminating the mental derangement and neurotic imbalance of man in that it takes account of only outer symptoms but leaves the root cause of erratic behaviour unimpaired. In being concerned with the surface consciousness alone it sacrifices the whole for the part. The practical approach of yoga based on the universal tenets of Sānkhya psychology strives, on the other hand, for a dynamic equilibrium between the apparent forces of evolution as well as the latent undercurrents of involution because the manifest 'ego-mind' and the unmanifest 'cosmic being' both are inseparably interrelated like the systolic and the diastolic actions of the heart.

Earlier, there were two clashing views regarding the specific characters of individual development of a multicellular organism, namely, the preformation theory and the theory of epigenesis. The exponents of preformation theory held that the basic characters of an adult organism are seeded in the core sperm itself that turn into transparent behaviour in course of their temporal development. According to this theory, the fundamental determinant of organic tendencies are involved in the inmost centre of the cell which gradually evolve, under certain environmental conditions into the manifest modes of action and response, to keep their integrity intact under extraneous situations. The totality of the reaction-mass of one's being is translated into a kind of

bivariant modality of thought and behaviour which is called personality in common parlance.

On the contrary, some others declined to extol this doctrine with obvious deference. They were of the firm opinion that the characteristic development of the action-mode of an organism is determined, in the main, by the outer influences of the environment. The environmental matrix imparts a vital prevision to the organism so that through some sort of formational impetus it advances towards its maximum evolvement. Paradoxically, the epigenetic concept, followed to the end of its logical conflation, at last leads to preformism with the only difference that it substitutes a 'living force' of nonmaterial quality in place of the material forces of predetermination. However, the dispute between preformism and epigenesis was reconciled and a synthetic view emerged in which the involved characters are identified with the structure of the cell-nucleus and the environment is recognised not only as a manifold of conditions for growth but also as an essential component of organic evolution.

The present-day psychology hardly takes into account the basic nature of finer biological forces and deals only with the functional level of surface consciousness. But the yoga, in its wide sweep to encompass the totality of existence aims at achieving the supramental state of consciousness, for anything less is incapable of disembodying the duality and dichotomy of mind and world. The technique of meditation or the training of mind enhances the possibilities of self-regulation and adaptive response and makes an allowance for the unobstructed inflow of external information and the internal absorption thereof. The holistic approach of yoga embosoms the primal and potential field of both the forces of involution and evolution. It injects a kind of sweet orderliness into our mind which is otherwise a miniature pandemonium of devilish desires.

The champion of modern wave-mechanics Erwin Schrodinger has given a pointed reference to the effect that "to live is to suck orderliness from the environment". The Vedic sages right at the dawn of human civilization have cognized on the plane of their revelatory experiences that in the state of cosmic consciousness the divine forces thwart away the uncouth obstacles and dissolve the darkness in the lambent flame of self-illumination (*ud gā ājad abhinad brahmaṇā valaṃ aguhattamo vyachakshat swah*). Thus, in yoga the engorgement of celestial glow *ad gustum* has been presented as the most potent antodyne to the mind of the man dwarfed or deranged. Through meditation the mind enters into communion with a mysterious dimension remaining neutral to the delights or disappointments of the relative world, and intimately shares the silences of the absolute, with calm composure and tranquil equanimity.

Brain-waves and Biofield

According to modern physiology each nerve-cell consists of several filaments conjoined to it that shoot out in different directions. Out of a number of these filaments, technically termed as dendrites, one is quite a bit thinner and longer than the others which is called an axon. The electrical impulses of the cerebral cortex course through these axons to the other axons of the nerve cell. The point of contacts between the two axons are known as synapses which act like valves in that they allow the stimulus to pass in a single direction and whittle down their chances of comeback to zero. Through these agencies the receptor nerves screen out the impulses and transfer them to the affector or motor nerves for appropriate action. The human brain is an enormous store-house built up of tiers upon tiers of innumerable axons which, on account of their microscopic chemical reactions, continuously generate exceedingly weak electrical currents and keep our mind in a state of perpetual excitement.

The faint electrical impulses produced by the excited axons are called brain-waves. In normal state of waking the brainwaves transmitted by the frontal lobe of the brain are of mixed frequencies, random, inconsistent and generally out of phase. But during meditation they show a marked uniformity of frequency and amplitude. In that event, a sort of constructive interference takes place which is a pointer of better perceptual co-ordination. This neurophysiological state of mind is called brainwave synchrony in which the discordant noise pattern of the waves turns into a tuneful music of harmonious symphony.

Recent developments in neurophysiology have shown that the yogic practices improve the functional integrity and the orderliness of one's mind and body. Enlightenment, the focal point of yoga, may be defined as a subjective experience of perfect order which in itself is a means of maximum stability with the minimum adaptative disturbances. In concrete scientific terms, yoga is an adroit device for neurophysiological refinement in order to secure the state of blissful existence and peaceful harmony. The deep metabolic rest attained during meditation does not represent a half-sleep or drowsiness, but instead, indicates profound wakefulness which is a physiological equivalent of unbounded awareness.

When the random, active impulses of the mind settle down, there occurs a total coherence of the brain-wave pattern and the mental biofield attains the state of least excitation. Just as the vacuum state of quantum physics is the creation field of all possible configurations of matter and energy in the universe, so too, the perfect brain-wave synchrony in the state of least bluster of consciousness is found to be full of all possibilities i. e. it has the capacity to create anything within itself, as in that state, all the creative impulses flow with an utter lack of friction. Thus, through the mental technique carved out by the ancient yogis the state of highest

degree of integration of the central nervous system obtains which brings about perfect co-ordination between the cerebral impulses and the physical responses. This closely resembles, on the biological level, with what the physicists call the state of infinite correlation. It is an established fact that high coherence of brain-waves makes available all the neurons to the gentle cosmic pulsation which, flowing through all the feedback channels of the nervous system, imbues our mind with a sense of rhapsodic wholeness and a panoramic serinity of creative fullness.

The Russian biologist Inyushin Sergeyev has put forward the concept of bioplasmic radiation associated with the various parts of the body which assumes appreciable accentuation in certain cases of psychic sublimation or spiritual excitement. It characterises a new state of energy beyond the four states of the physical world—solid, liquid, gas and plasma. It is quasinon-electrical in nature and shows a marked similarity to elementary particles. It appears most pronounced in the brain; the fingers and the solar plexus being the other remarkable radiating centres of the bioplasmic field. Various forms of paranormal phenomena can be attributed, in all probability, to the discernible changes in the spectrum of electrobioluminescence associated with bioenergetic potential of mind. The bioplasmic force-field has been found to affect other objects through an invisible transference of mental power.

All the modern researches in the field of metaphysical phenomena, including those of the noble prize winner Charles Richet and the English Physicist W. J. Crawford, lend sufficient evidence to the fact that in trance state the body-cells are found, in some cases, to exude a basic biological substance known as *ectoplasm* which, once outside the body, assumes several uncertain shapes and at last gets sucked up into the source-body. It has been observed in some single-celled creatures, viz. amoeba, that their cell-nucleus is

enclosed by a mucous protrusion of protoplasm, the inside of which is underlined by some thin films containing minute dots and droplets named as *entoplasm.* The sleek exterior layer of the protoplasm is called ectoplasm. The ectoplasm has the peculiar characteristics of an unstable, amorphous extension and a rootlike excrescency in different directions. On account of this obvious semblance, the substance emanating from the body in supramental state of consciousness was labelled as ectoplasm. The extrusion of ectoplasm from the body is an indication of deep meditational intensity and sharp concentration i. e. *agryā budhi.* It is supremely subtle but extremely effective force-field which can work wonders beyond our normal rational comprehension. The powers of our thoughts and ideas are directly related to the efficacy of the bioplasmic field-strength guiding our life, behaviour and destiny. Many of us intutively make use of this field in forming a positive mental attitude towards life which offers a grand promise of solace, peace and fulfilment.

Yoga in its all-embracing manifold shows a way to the optimal programming of the mental causal field mingled with the psychic sphere of man. Patanjali has clearly mentioned in his Yoga-Sutra that in order to get at the root of one's subtle causative level one has to extirpate even the finest trace of inner incitement, elsewise, the complete consonance with the unmanifest phase of cosmic consciousness is a far cry. From the transcendence of the source of thought ensues the elimination of egocentric manifestations of mind and our individual organic entity is full to the brim with the soft glow of divinity- *nirvichār vaisharadye adhyātm prasādah.* According to yoga the very interaction of the subjective content with the observable elements, needs avoidance for the incadescence of the absolute to descend on our functional consciousness (*draṣtridriśya samyogo hēya hētuh*) where in the wide range of the observables it includes all the action and reactions pertaining to light, the impressions of

the moving or unmoving things and every sensation or stimulus entertained by the senses (*prakaś kriyā sthitiśeelam bhūtēndriyātmakam bhogāpavargārtham driśyam*). Along with the extinction of the after-images of memory, yoga sets its goal at the total ejection of the latent genotypic imprints from the mind, so that, the whole nervous system is turned into a spotless sanctum of supreme glory.

The four forces of the present day physics viz. weak nuclear, electromagnetic and gravitational are quite inadequte for explaining the exact nature of bioplasmic transmutation. But the modern scientist cannot afford to be dogmatic and some of them have begun to pause and ponder about the possibility of a fifth kind of psychokinetic force that lives and moves, in and through, all the objects of the world. The dynamic direction of the biofield is implicit in the operation of the force of the psyche itself. That gives an account of why the mind is always mobile and restless. Yoga makes the best use of this natural tendency, for, it holds that the constant movement of the mind is all the time directed towards the greater charm and culminates into the attainment of supreme bliss where the mind feasts *ad libitem* on the delicacies of celestial gratification.

A CRITIQUE OF LOGICAL POSITIVISM

KRIPA SHANKER OJHA*

In the beginning philosophy was mainly concerned with the knowledge of reality. Its main function was to know the ultimate reality, the fundamental stuff of the world which analyses the beginning and the end of the universe. In the words of a Parsian poet[1] "World is a book whose first and the last pages are missing. After reading the whole book, to add the first and the last page is known as philosophy." In this stage philosophy may be called a "Critique of reality". Latter on, especially, since the time of Kant, philosophy became the "Critique of Knowledge", But in the present century, i. e. in the hands of our contemporary philosphers it became the "Critique of Language"[2] in which Analysis plays main role.

If we go through the whole history of philosphy we will find that the "Analysis" was not a new concept for contemporary philosopher altogether. That the thought and language are intimately related, that they may be identical in the 'ultimate analysis, that each of them grows with the aid of the other, is a fact admitted by most of the thinkers both of past and of present. Socretic Method was nothing if it was not philosophical analysis. In Plato's dialogues we find this Method of analysis amply exemplified. Upnisads are no exception to this case, they also exemplify the Method of analysis which is evident from their philosophical debate or discussion.

It should be noted with great care that in the traditional philosophy 'analysis' was a means to some higher end, but the present-day conception of 'analysis' in philosophy has altogether changed. Now it has become entirely 'linguistic'

* *Lecturer, Evening College, B. H. U.*

and the end in itself Unlike the traditional philosophers our contemporary innovators of it hold that "linguistic analysis" is not one aspect or branch of philosophy, but is all philosophy. The problem of meaning is basic. Philosophy according to them may be re-defined as a "Critique of Language."

Our endeavour in this paper is to see whether the claim of 'linguistic analysis' is acceptable and philosophy is rightly to be equated to linguistic analysis without doing any harm to it. ·We shall try to see whether philosophy is merely the clarification of meaning of statements or is something more than this. First, we shall see what the expression 'linguistic analysis' stands for. Perhaps, however, everyone will agree that analysis is 'of something' and 'by' means of something. 'Linguistic analysis' may mean either;

(i) Analysis of language by means of something which is not itself language or.

(ii) Analysis of anything but by means of language or

(iii) Analysis of language by means of language.

This last meaning of the phrase is admitted by all the analytic philosophers. It is clear from this that,

(a) Philosophy is concerned in a peculiar sense with the language or linguistic expressions,

(b) It is concerned with the clarification of language or linguistic expressions.

(c) This clarification is effected by the rewriting or recasting of a given sentence or expression or the translation or transformation of one sentence or expression into one or more expressions :

All the analytic philosophers hold the view that the object of philosophy was the logical clarification of thought. In the words of Wittgesteine 'a philosophical work consist entirely of elucidations'. He emphasized the view that philosophy should solve puzzlements arising out of confused

linguistic usage.[3] This, it appears, can be achieved by "bringing words back from their metaphysical to their every day use."[4] Thus we are told that what he wants is to establish an order in our knowledge of use of language....an order with a particular end in view, to which end, he would, constantly be giving prominance to distinctions which our ordinary forms of language easily make us overlook. John Wisdom, Prof. Lazerowitg and Miss Alice Ambroce maintain this view that philosophical theories are nothing but, verbal innovations, i. e. recommendations or proposal to other language or linguistic analysis.

Now we will try to clear those arguments which are advanced to prove the thesis that philosophy is a linguistic analysis as follows :

(a) The analysts first dispose philosophy of its traditional status. They agree that for centuries philosophers indulged themselves with the problem of knowledge of reality but in vain. The problem of existence do not belong to the province of Philosophy. It is only the sciences which have to deal with them, philosophers have nothing to do with them. Philosophy is not one of the natural sciences.[5] The only business left to it is linguistic analysis.

(b) The study of common experience which was within the realm of philosophy, now according to the, analytic philosophers, is studied more systematically and more rigorously by the natural sciences. Philosophers can not claim that though common experience is excluded, there is still uncommon experience left which philosophy might explore. Here logical positivists offer their principle of 'verification', and uncommon experience can not be verified, verification, being always in terms of common experience.

(c) Philosophy does not also deal with concepts except in restricted sense. The concepts that are traditionally reserved for philosophy are all postulates of science which alone is competent to study them because it alone is conversant

with the situations that are called for those concepts. Philosophy is not, again, a special type of study (speculative as it is called) of these concepts. No one knows what this special study is, unless it be clairvoyance which is unverifiable.

(d) Philosophy is sheer analysis of language in both its semantic and syntactical aspects. So far as the semantic aspect is concerned it analyses a complex word or sentence into simple reals and so far as the syntactical aspect is concerned it discovers the linguistic relations that have cemented those reals into a complex concept.

In philosophy, therefore, "there is no proof there are no theorems and there are no questions which can be decided 'yes' or 'no'. "We do not use arguments in order to prove or disprove any philosophical news............" "We only describe we do not explain". (Prof. Waismann). In the words of Wittegestine "We must do away all explanation, and description alone must take its place.[6] And this prescription gets its power of illumination, i. e., its purpose, from the philosophical problems". He continues that Philosophy is a battle against the bewitchment of our intelligence by means of language."[7] According to Prof. Waismann "A Philosopher has not to give an answer. A philosophic question is not solved, it dissolved." This opinion Wittgestein gives when he says proplems are solved not by giving new information but by arranging what is always known.[8] Again, "Our consideration could not be scientific one".

In his tractatus Wittgestein Profounded the 'Picture theory of meaning' for which an ideal language was necessary. But latter on in his book' Philosophical Investigation' he established the "Use theory of meaning" for which ideal language was useless. This view is also supported by Moore when he says "This ideal and absolute precise language is of no use since it obstructs from the real life and the situation in which it works."[9]

Thus according to Prof. Carnap[10] "The function of analysis is to analyse all knowledge, all assertions of science and everyday life, in order to make clear the sense of each assertion and connection between them." So Wittgestein says "Do'not look for the meaning look for the use,"[11].... What is our aim in philosophy ? To show the fly the way out of the fly bottle[12] ?

Prof. Waismann says "yet philosophy is not dissolved. It derives it weight, its grandeur, from the significance of the question it destroys," A philosophical question, if pursued for enough may lead to something positive. For instance, to more profound understanding of language."

Thus we have established the thesis that philosophy is a linguistic analysis. Now in the following lines we shall try to see that the thesis can not be maintained.

(1) Can the term 'linguistic analysis' be substituted for the term philosophy without affecting the truth value of all the sentences in which the latter term occurs ? It is correct to say that "Kabir is a philospher" but it is irrelevent to say that "therefore Kabir is a linguistic analyst" Philosophy is something more than linguistic analysis.

(2) The 'Verification'[13] theory of meaning on which the elimination of Metaphysics is grounded, is itself, self contradictory. 'Verification' is not possible everywhere. There are mental states. They are always private, being experienced by their possessors only and there is no conceivable way to demonstrate them publicly verifiable. The principle of verification itself can not be verified since it is apriori like philosophical assertions.

(3) Again, the appeal of analytic philospher that 'Analysis' helps us in the clarification of the problem, is admited by us with fulhearted approval. But to equate it with philosophy is wrong. It may be a side function of

philosphy but not the sole function. Indian thinkers like Bhartihari[14] in his 'Vākyapadīyam' and the Mīmānsakas have also admitted analytic feature of philosphy but not in the sense of contempoary philosophy.

(4) It seems also absurd to think or to say that philosophical problems arise out of linguistic confusion. Other disciplines like economics, politics, psychology or physics also make the use of some sort of linguistic apparatus. There are and there may be linguistic confusions also but no thinkers have so far asserted that their problems arise out of some sort of confusion in the use of language. Why is that such a question is posed in the realm of philosophy alone.

Thus we may conclude that philosophy is not mere linguistic analysis, if by that term one means analysis 'of' or 'by' language or both. We do not deny that there is something like analysis in philosophy. Philosophy has indeed to analyse linguistic expression through which it studies the ultimate nature of things which are so expressed and which are known by pramāṇas. Philosophical analysis may also be taken as 'by language' provided that language is used as Means to carry, On reflections, and is, therefore, subordinate to thought. The method of philosophy is principally the pramāṇas and conceptual analysis. Conceptual analysis does not mean analysis of concepts. It means thinking analysis as a result of which concepts may emerge to our view as ulterior realities. Philosophy is concerned with the real objects of pramāṇas (sources of right cognition), as much as science is, and niether of them is wholly concerned with "expressions." Thus if we keep our attention upon the real sense of the term 'philosophy' we will find that philosophy, though highly developed in its analytic aspect in the present thinking, is something more than this analysis.

References

1. माजि आगाज़ ओ जि अन्जामे जहस विखबंर-ईम ।
   अब्बलो-आखीरेईन कुहन किताब् उफ़ताद अस्त ॥
2. Wittgestein, Tractatus, 4.0031.
3. „ Philosophical Investigation.
4. „ Ibid.
5. „ Tractatus, 4.111, 4.113.
6. „ Philosophical Investigation.
7. „ Ibid.
8. „ Ibid.
9. G. E. Moore—The problems of Philosophy Vol. 1, Cambridge University Press.
10. Carnap. R.—Logical syntax of language Kegan Paul 1937.
11. Wittgastein, Philosophical Investigation.
12. Ibid.
13. A. J. Ayer, 'Language Truth and logic'.
14. Bhartihari, Vākyapadiyam—
    "न सोऽस्ति प्रत्ययः लोके यः शब्दानुगमादृते ।
    अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वंशब्देन भाषते ॥ 1.132 ॥
15. Mīmānisāsūtrabhāṣya—*Sphotavāda*
    Kumārilla's, Slokavārtika on the same.

SAFFLOWER, AN IMPORTANT OIL SEED CROP OF OUR ECONOMY

H. R. SANT AND LALIT KUMAR*

Agriculture is the foremost basic sector of economy not only in India but in all countries whether, underdeveloped, developed or developing. In India one half of the national income is countributed by this sector alone and it provides livelihood to 75 percent of the population. Out of the total area of 32,87782 sq. kilometers spreading to 3214 km. from north to south and 2933 km. from east to west, it has a total crop area of 16.70 crore hectares as per the statistics of 1976-77. The net sown area in 1976-77 was 14.2 crore hectares and the area sown more than onc was 2.68 crore hectares.

The Government of India has planned a comprehensive programme for all round development of agriculture in the productive year 1982. It has been decided to increase the production of various agronomic products. The main characteristic of India agricultural production is that food crops dominate non food crops although a number of crops are raised to provide raw materials to several primary industries of the country.

Particular attention has been paid to increase production of pulses and oil seeds in the last several years. It has been proposed to raise pulses output to 135 lakh tones and oil seeds to 130 lakh tones in the year 1981-82. With the view to making the programme a success, it has been aimed to double the availability of improved varieties of seeds of crop plants.' National Seed Corporation has been asked to produce 25,000 quintals of seeds of oil yielding crops in 1982 as against 12,000 quintals in 1981.

Centre of Advanced Study in Botany, Banaras Hindu University.

Oil yielding crops are the only source of unsaturated fats for human consumption. It also provides raw materials to several industries of the country. The area and production of oil seed crop in India for the year 1980-81 had been compiled and presented below :

Crops	*Area ('000 ha)	*Production ('000 ton's)
Ground nut	6904.40	5019.60
Castor seed	501.50	210.40
Sesamum	2442.50	437.10
Rape seed & Mustard	4063.00	2247.20
Lin seed	1710.40	427.50
Niger	598.20	146.20
Safflower	719.90	338.40
Coconut	1081.60	5667.40**

* Source—Agricultural situation in India Sept. 1982.

** Million Nuts.

Safflower is a cultivated annual. Its cultivation extends over many parts of the world both in the tropics and in the temperate zones. Its cultivation extends from India, China and East Indies to Persia, Caucasus, Egypt, Italy, Germany and Spain and has been of late introduced in Australia and the United States of America.

Safflower is commonly called Kusum in most of the states in India. In India, Safflower crop appears to have been in cultivation from time immemorial. Its cultivation extends over Maharashtra, Karnataka, Andhra Pradesh, Tamil Nadu, Madhya Pradesh, Bengal, Bihar, Uttar Pradesh and Punjab.

Safflower crop has established itself as a potential oil seed crop of the world due to its varsatile nature and superior yield potential under limiting moisture conditions. The area and production of Safflower in India for the year 1980-81 and 1981-82 are presented below :

States	Area ('000ha)		Production ('000tons)	
	80-81	81-82	80-81	81-82
Andhra Pradesh	34.9	35.8	5.5	7.3
Bihar	0.3	0.3	0.1	0.1
Karnataka	157.8	175.4	84.2	89.0
Madhya Pradesh	1.0	0.9	0.2	0.2
Maharashtra	519.9	542.2	245.6	324.4
Orissa	6.0	6.0	2.8	2.8

Source—Agricultural situation in India Sept. 82.

Like a cultivated plant Safflower presents an array of complexity in its botanical characters Photographs (1 to 4). It belongs to a group of closely related diploids (2n = 24). Chromosomes at meta phase are rod like relatively short and more or less equal in size. Plant desplays intense poly mor-phioms in some of its developmental features. The species is unique in exhibiting certain abnormal characters like ovarian fusion, multiovulate ovaries, development of orthotropous ovules, occurrence of endosperm nodules and the develop-ment of adventive embroys from the cells of integument. Two distinct exomerphic forms namely spiny and spineless exist among cultivars of Safflower. Plants of spiny form are strong, spines hard and found on the tips and margins of leavs and bracts. Flowers are generally yellow in colour. Spiny form is good oil yielding form of Safflower. Spineless forms are slender without spines and yellow to orange coloured flowers. Spineless forms are generally grown for dye and fodder. It yields oil also, but the oil percentage is low compaired to oil percentage of spiny form.

Safflower crop yields to valuable products viz Safflower oil and Safflower dye. Natural dye obtained from florets of the plant was once a very popular dye all over the world. However with the advent of synthetic dye stuffs on commer-cial scale. The safflower dye has lost its popularity. It is likely that safflower seed was used as a source of oil during

Roman period or perhaps earlier in Egypt. However only towards the end of 19th century safflower crop has established itself as a potential oil seed crop of the world. Safflower oil is edible and is best for use for the heart patients, because it is an excellent source of unsaturated fatty acid. It has maximum 67.3% Linoleic acid which is a cholesterol lowering factor. A comperative account of fatty acid contents of different fats and oils is presented below.

Source	Fatty acid comosition (%)		
	Saturated	unsaturated	
		Oleic	Linoleic
Ghee	64.20	33.20	Nil
Vanaspati	25.30	72.80	1.90
Coconut oil	90.00	6.00	2.50
Butter Fat	57.30	29.50	3.60
Mustard oil	5.50	32.30	18.10
Ground Nut oil	19.00	60.00	21 00
Til oil	13.00	49.30	37.70
Cotton seed oil	25.50	24.70	49.7
Safflower oil	6.10	26.40	67.7

In addition to its value as a edible oil, safflower oil has some medicinal properties also. It is a mild purgative, diuritic, lonic, a cooling medicine and a valuable remedy for rheumatic pain and skin diseases.

On exposure to air, safflower oil absorbs oxygen and dries into thin elastic film which is useful for the manufacture of varnishes and paints. The oil is also used in soap making industry and for illuminating purposes. The oil cake is a good cattle feed and is also used as manure. Safflower plants in their early growth are used as cattle fodder.

Some doubt seems to exists about the origin of cultivated species of Safflower (*Carthamus tinctorius*). The species has never been found in wild state. In the evolution of culti-
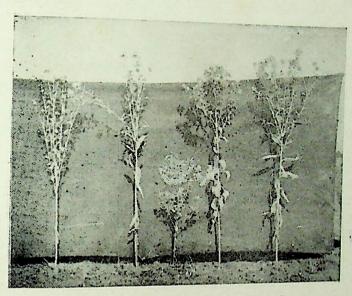
1	2	3	4	5
HUS 966	CTS 7403	29-A	HUS-304	HUS 260

Spineless (1–2) — Spiny (3–5)

Photographs—(1) *Different varieties of Safflower*

Different Exomorphic forms of Safflower
Cultivar HUS - 304, A Local Spiny form
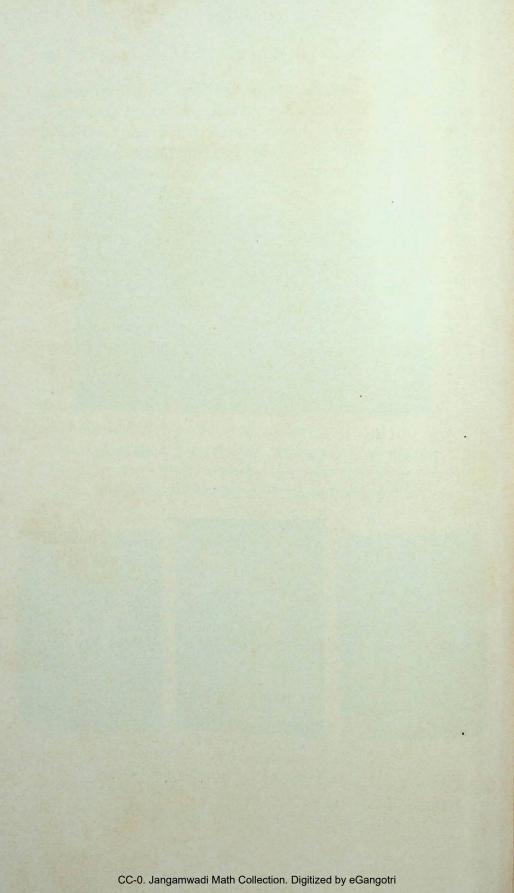
vated safflower it appears that *Carthamus lanatus*, *Carthamus oxyacantha* and *Carthamus palaestinus* form one complex containing both wild and cultivated races. However *Carthamus lanatus* is an amphiploid and its crosses with *Carthamus tinctonus* are stenile, seeds of *Carthamus oxycantha* and *Carthamus tinctorius* differ in their basic characters such as shape and pappus. Therefore *Carthamus lanatus* and *C. oxyacantha* are unlikely to be progenitor of cultivated species of Safflower. *Carthamus palaestinus* or a closely related species may possibly been the progenitor of a cultivated species.

In speculating on the origin of cultivated Safflower, it was noted that *Coxyacantha* and *C. flavescence* are adopted to a habitable associated with man. Both are commonly found near by the crop fields. This suggests that both originated when a non madic way of life gave place to a more settled existence with permanent agriculture. *C. palaestinus* is however a species of disert and grows without the assistance of cultivation.

The supposed primary centres of origin of Cultivated safflower are India, Africa and Arabia. As the plan has not been found wild either in India and Africa, although probably cultivated in both these countries from time immemorial, De candole suggested that it may possibly had originated in Arabia and spread from there to other countries.

K. P. JAYASWAL—THE HISTORIAN AND THE MAN

LALLANJI GOPAL

"He was a historian by choice and instinct and a lawyer by compulsion. His own inclinations and talents attracted him towards history but the demands of the flesh dragged him towards law courts and law reports....He was more at home in the archaeological museum and the library than in the High Court and if India were a free country his talents would have borne greater fruit than they did on account of his professional preoccupation".

These lines from the pen of Dr. Rajendra Prasad are the most apt epitaph for Kashi Prasad Jayaswal bringing out into bold relief his main achievements and at the same time underlining the element of tragedy that dogged him throughout his life.

Kashi Prasad was born on November 27, 1881 at Jhalda in Manbhum. He spent his early years at his maternal grandfather's place. He belonged to a Jayaswal family of Mirzapur in Uttar Pradesh. The Jayaswal community, concentrated in U. P. and Bihar, is rich on account of its virtual monopoly of many items of trade. Kashi Prasad's father Sahu Mahadeva also had amassed a fortune in the shellac trade. He cared much to give proper education to his children. Beginning his education under a private tutor, Kashi Prasad studied at the London Mission High School, Mirzapur. He passed the Entrance Examination and joined the Queen's College, Banaras.

For higher studies he went to England in August 1906. He graduated from the Jesus College, Oxford and was awarded the Davis Chinese Scholarship for 1909. Finally he received the M. A. degree at Oxford and was also called to the Bar at Lincoln's Inn.

M. A., D. Phil. (Allahabad), Ph. D. (London), Professor of Ancient Indian History, Culture & Archaeology, Banaras Hindu University

On his return journey Jayaswal took the overland route through Turkey, Egypt and Arabia reaching India in July 1910. He set up practice at the Calcutta High Court. In 1912-13 he joined the post-graduate teaching department of the Calcutta University but resigned the post after some time. When Bihar and Orissa were separated from Bengal to form a new province, a High Court was set up at Patna in 1914. Jayaswal shifted to Patna and established a lucrative practice carving out a high status as an authority on Hindu Law and as a specialist in Income Tax Law. In 1917 he was elected Tagore Law Lecturer in the University of Calcutta. He was the first to be offered the Carmichael Chair for Ancient Indian History by the same University. But this and other teaching offers at some other Universities could not be accepted by Jayaswal because of his roaring legal practice.

Jayaswal was diabetic. This caused him his life. A virulent carbuncle resulted in his confinement for two months after which he breathed his last on August 4, 1937.

Jayaswal's *Magnum opus*, which has carved out for him a permanent place in the international world of Orientalists, is his much debated and discussed *Hindu Polity*. The work has its own history. The results of his initial study appeared in the form of articles in the *Calcutta Weekly Notes* and *Modern Review* in 1911 and 1912. A connected account of the same was read at the Bhagalpur session of the All-India Hindi Sahitya Sammelan (1912). The article *An Introduction to Hindu Polity*, published in the *Modern Review* (1913), is an English translation of the same. At the instance of V. A. Smith and other friends and to fulfil the needs of a comprehensive book on ancient Hindu Polity for the recently opened postgraduate course in ancient Indian History, Jayaswal started the revision of *Introduction* towards the close of 1917 and finalised the manuscript in April 1918. The only copy of the manuscript was stolen and plagarism attempted. Later it was recovered. Jayaswal could publish the book

finally in November, 1924 incorporating his other researches done after April 1918. Jayaswal's claim to be the pioneer in this field is undisputed. His sketch of the constitutional life of the Hindus raised it to the status of a distinct discipline. He established the thesis that parliamentary and democratic governments with representative assemblies existed in ancient India.

Jayaswal is to be credited for dispelling the existing misconception that Hindu law is fixed and static. He demonstrated its historical growth. His articles on Hindu Law published in the *Calcutta Weekly Notes* (1911 to 1913) were hailed by Prof. J. Kohler, the leading comparative jurist in Europe, as marking a new stage in the study of Hindu Law. As Tagore Law Lecturer Jayaswal delivered in 1919 twelve lectures on *Development of Law in Manu and Yajnavalkya*, published in book form in 1930.

The volumes of the *Journal of the Bihar and Orissa Research Society* and other research journals are full of articles by Jayaswal. Some of these opened up new chapters in Indian history. Here we can take notice of only a few of the more important ones. His writings on Pataliputra statues (1917), in which he claimed to have identified Saisunaga rulers, triggered a lively controversy in which many historians participated. His thesis on Brahmanical revival in the post-Mauryan period first appeared as an article 'Brahmin Empire' in the *Express*, a periodical of Patna, and was worked into a comprehensive article 'Problems of Saka-Satavahana History' (1930). This was followed by his brilliant book *History of India 150 A.D. to 350 A. D.*, published in 1933, in which he very ingenuously brought out the role of the Nagas and Vakatakas in emancipating the country from the yokes of the mighty Kushanas.

His attempts at deciphering the Hathigumpha Inscription of Kharavela testifies to his great mastery over the difficult discipline of palaeography and reveals to good effect

the tenacity and perseverance with which he devoted himself for full fourteen years to the task of restoring the reading of the highly damaged and disfigured inscription and making some sense out of the enigmatic legends to reconstruct the personality and achievements of King Kharavela who was lost into oblivion. Rakhal Das Banerjee collaborated with him and the final readings were published in the *Epigraphia Indica* (1930).

An Imperial History of India published by Jayaswal (1934) presents the history of imperial dynasties on the basis of the ninth century Buddhist text *Arya-Manjusri-Mulakalpa*. In collaboration with Rahul Sankrityayan, he brought out an improved edition of the text, interpreted its cryptic statements and identified the riddle-like names in it. Jayaswal realised fully that many an aspect of India's glorious past is still hidden in the manuscripts which require to be carefully collected, catalogued and edited. He took keen interest in the search for manuscripts in Bihar and edited the *Catalogue of Manuscripts on Hindu Law and Sanskrit Literature*. In collaboration with A. Banerji-Sastri he edited the *Pratipadapancika*, a commentary on the *Arthasastra*, and a few volumes of the Mithila manuscripts. He also recovered a manuscript of the *Rajanitiratnakara* of Chandesvara and brought out a critical edition of the same.

In 1936 he visited Nepal on the invitation of the Government of Nepal and tried to restore order and fill up the gaps in its history and chronology. His *Chronology and History of Nepal from 600 B. C. to 800 A. D.* was Jayaswal's last important contribution and was published first in the *Journal of the Bihar and Orissa Research Society* (1936).

Through Durga Prasad, Jayaswal developed interest in numismatics. His scholarly insight and laborious studies made even the dumb coins without any legend on them to proclaim vocally their meaning and significance. As the first Indian to be invited to address the Royal Asiatic Society

of London (1934), he forcefully presented his views on the identification of the Mauryan Coins. He made such a deep impression on the scholarly audience that he was applauded as the second Sir Alexander Cunningham. The Numismatic Society of India twice elected him its President and in recognition of his remarkable researches awarded him a special medal. He had a passion for coins and is known to have carried to the courts a number of enigmatic coins in his pocket and utilised spare time to scrutinise them to unravel their mysteries. The experts of the subject respected his opinion as final verdict. His mastery of palaeography was his strong point. His personal influence contributed much towards the prestige of the Numismatic Society and the limited discipline it represents.

Jayaswal took a total view of Indian history and culture giving due importance to all the branches and all sorts of evidence and subsidiary disciplines. Without caring for the formalities of official permission he excavated at many places deemed to represent ancient Pataliputra. A bubbling enthusiasm for archaeological discoveries characterised Jayaswal. He had an equal infatuation for ancient sculpture and architecture. In his bold originality he traced the origins of the *sikhara* style of architecture to the pre-Gupta period.

Jayaswal was closely associated with the Patna Museum ever since its inception. It was largely due to his active interest that the Museum collected a rich store of all sorts of priceless antiquities. He began as a member of the Managing Committee of the Museum, but later was appointed its President. Sir Edward Gait, who founded the Bihar and Orissa Research Society in 1915, acknowledged that Jayaswal was 'its mainstay from the beginning.' The Journal of the Society was edited by Jayaswal from its first issue to the end of his life. Under his personal scholarly control the Journal established its reputation for high standards of research.

Jayaswal had the distinction of receiving the Gaekwad Golden Jubilee Medal (1930). It was a coveted honour described as the Nobel Prize of the Baroda State. Earlier the distinction was conferred only on Rabindra Nath Tagore and C. V. Raman. His Highness, a most enlightened ruler, himself selected a scholar of established reputation and invited him to deliver lectures in the presence of His Highness. This was a befitting recognition of the intellectual eminence of Jayaswal.

K. P. Jayaswal in his own life time established world-wide reputation as a scholar and intellectual. All sorts of honour and academic distinctions were showered on him during the last four years of his life. Besides those which we have mentioned elsewhere in this note, we find that he was elected President of the Sixth All-India Oriental Conference held at Baroda (1933) and to the end of his life he remained a member of its Council. He was the President of the Bhagalpur session (1933) of the Bihar Provincial Hindi Sahitya Sammelan. At the Indore session (1935) of the All-India Hindi Sahitya Sammelan he was President of the History section.

Patna University and Banaras Hindu University conferred on him honorary doctorate degree. The minutes of the meeting of the Patna University Senate reveal the spontaneous and unanimous support given to the resolution by all the distinguished members who grew eloquent in referring to the achievements of Jayaswal and in recording that 'every Indian, wherever he may reside, feels it a proud privilege to call him his own.'

Jayaswal was keenly alive to the need and desirability of writing a comprehensive history of India by Indian scholars. Babu Rajendra Prasad appreciated the merit of the idea and on May 31, 1936 went personally to Jayaswal's house and discussed the mechanism for implementing the scheme. The result was the foundation of the Bharatiya

Itihas Parishad which formulated a twenty volume history of India and received the active cooperation of all the important historians. Under its meaningful title *New History of Indian People*, vol. VI on Vakataka-Gupta age and vol. IV on the Age of Nandas and Mauryas were published. In 1948 at the instance of the Government of India the scheme of the Bharatiya Itihas Parishad was amalgamated with that of the *Comprehensive History of India* planned by the Indian History Congress.

Jayaswal had a passion for the cause of re-writing and teaching of Indian history. We have to feel the yearning and mental agony of the man. His responsibilities to his family and the persuasions of his friends in the bench and bar dragged him to the court. But his soul was in libraries, museums and class-rooms. In those days, when the British rule suppressed all possible traces of disloyalty, he was made to give up his teaching assignment in the University of Calcutta offered to him by Sir Asutosh Mookerji, that fine judge of man and scholarship. As soon as he was in a position to ignore the demand to earn, he yearningly tried to go back to his main love for Indian history. Chances came his way, but the frank and straight-forward man that he was, he could not see his way through the difficulties that were created by manipulators in academic circles.

Some critics belittle the importance of Jayaswal's writings by pointing out that in his historical researches he assumed the role of a pleader and not that of a judge. Objectivity, though an ideal to be pursued by a historian, is difficult to define. Absolute objectivity is only a despair for a historian. The very choice of a theme and the emphasis on it amount to a particular predilection. A historian has to choose areas of research according to the problems agitating the contemporary mind. Without trying to assume the role of a pleader for Jayaswal, I must point out, in all fairness to the wronged historian, that some of his topics were no doubt of direct relevance to the struggle and political debate which

were of supreme concern for the Indian people and their masters. But his conclusions were scientifically derived after a very sincere and sustained search for and scrutiny of the evidence. It was only in presenting his inferences that he could not give up his professional training as a lawyer. He argued for his point of view with the commitment of a lawyer who does not give any quarters to his opponents and presses into service all the force and vehemence of logical argumentation which he can command. His glorification of India's past, it is said, smacks of nationalism. It is his bold assertions that are taken by some critics to brand him as a 'nationalist' historian as against the class of 'scientific' historians. To quote one example, Jayaswal says: 'The constitutional progress made by the Hindu has probably not been equalled, much less surpassed by any polity of antiquity....There is no such thing as Blue Blood in political and constitutional evolution .. And even if such Blue Blood be a reality it is certainly present in the veins of the Hindu.' It is clear that his views were not the result of bigoted patriotism and narrow parochialism. His liberalism and correct appreciation of the different phases in Indian history can do credit to the best exponent of the current view about the composit character of Indian culture. 'There is much unthinking and unreasonable mortification at times witnessed at the thought of being "conquered". But conquest is only a mode of receiving new thoughts and new life. What great modern community was not conquered ?...India would have become another Siam, Ceylon or Korea but for the Muhammadan incoming'. He had a true and correct understanding of the social history of India and the forces that have fused together to form the integrated Indian personality. With a firm conviction he says about the Hindu : 'His modern history begins with the seventeenth century when Vaishnavism preached the equality of all men, when the Sudra, the helot of the ancient Hindu, preached shoulder to shoulder with the Brahmin (who welcomed and encouraged it), when the

God of the Hindu was for the first time worshipped with hymns composed by a Muhammadan. When Ramadasa declared that man is free and he cannot be subjected by force, and when the Brahmin accepted the leadership of the Sudra in attempting to found a state.' His socio-political philosophy is very expressingly pronounced in the brief but meaningful and poetic words in which he dedicates his *Hindu Polity* 'to the memory of' the ancient republics 'who announned philosophies of freedom from Devas, death, cruelty and caste'.

In words fit to be used as quotable quotes Jayaswal remarked : 'The Golden Age of his (Hindu's) polity was not in the past but in the Future'. This evidently cannot be the language of a person with sensibility benumbed by the narcotic obsession of glorifying his country's past. It can be employed only by a person who has a concern for improving the present and shaping the future of his country. Jayaswal had an irrepressible faith in the future destiny of his country. Speaking of the contact with the west he said, almost with a prophetic vision : 'The contact is electrifying, it can either kill or rejuvenate the Race. Probabilities however are....for the latter.'

Jayaswal was a born nationalist and social worker. Even in his young days, before he left for England, he organised a sabha each for social reform in his own caste (Kalwar sabha) and trade (Chapra sabha). In those times the nationalist intellectuals had taken up the cause of Hindi. Jayaswal also wrote articles in Hindi and attracted immediate attention. Jayaswal fondingly nourished in his heart his love for Hindi and enriched the *Nagari Pracharini Patrika* with his scholarly contributions. Jayaswal can easily rank among the top people who in the first four decades of the present centurly strengthened Hindi as a forceful medium for expressing serious and scientific researches. When he shifted to Patna, for sometime he functioned as the editor of *Pataliputra*, a Hindi weekly. Jayaswal was a stong supporter

of the view that vernaculars should be the medium of instruction. His powerful advocacy was an important factor helping the adoption of Hindi in Patna University.

Jayaswal's innate nationalism took a concrete shape as an abiding passion when in England he came into close contact with fiery exiled revolutionaries, such as Shyamji Krishna Varma, Har Dayal and V. D. Savarkar. Though Jayaswal did not actively participate in their programmes, his intimate friendship with them was a strong moulding force reflected in his choice of areas of research. He was not sorry when he had to relinquish his cherished teaching job in the Calcutta University on account of his political views. He was not prepared to compromise his nationalism and was willing to pay any price for it. When he was repeatedly oppressed by administration he thought of leaving the country but did not recant.

Jayaswal was frank and honest to the core. Two important influences, which shaped his personality as an Indologist, were Handiababa and Don Martino De Zilva Wickremsinghe, and Jayaswal was never weary of publicly acknowledging his profound indebtedness to these two whom he respectfully remembered as his *gurus*. The first was not a formal school-teacher. He was a Sadhu named Handiababa because he took his meal only from a *handia* or earthen pot. It was he who introduced young Jayaswal to the intricacies and niceties of Sanskrit grammar. The command and confidence which Jayswal thus gained was a source of strength to him and gave him an advantage over other Indologists who had learnt Sanskrit in a modern school. Wickremsinghe, a Ceylonese whom Jayaswal met in London, initiated him into Indian epigraphy and archaeology. The interest aroused by Wickremsinghe turned Jayaswal from areas of his earlier academic love to the study of India's past. This was the source which gave Jayaswal the grip over original material and enabled him to browbeat other historians who had a second hand acquaintance with ancient records.

Jayaswal was a man of finer feelings and sensibilities. He had a poetic heart. His letters to his personal friends reveal the highly sensitive heart that was throbbing in him along with the rigorously logical brain that expressed itself in his professional and scholarly activities. He was a gentleman to the core. He lived a decent and dignified life. He had a taste for good dishes and loved to invite people to his dining table. Once he asked a traditional Pandit about the food he would like to have, Vedic or Upanishadic. As expected, the Pandit preferred to be ranked as a follower of Vedic ways. Non-vegetarian items tastefull prepared were served. But the furious guest was pacified by Jayaswal by quoting chapters and verses in support of his views about Vedic food and at the same time by lavishly offering sweets, fruits and milk preparations. His academic preoccupations did not spoil Jayaswal to become a dull and boring pedantic snob. His sense of humour enlivened his academic activities. Once he sobered down an over enthusiastic palaeographist, trying to read legends on coins and seals, even when there were none, by pointing out that he would soon end with seeing Brahmi legends in every single Jalebi.

The importance of Jayaswal is to be realised not so much from his published works but from the people he inspired, influenced and shaped. He was an intellectual giant and received the admiring regard of his celebrated contemporaries. No body who came in his contact could go without being influenced by his personality. He was always keen to give all possible support to any significant and new attempt at discovering and determining facts about the history of India. Whether it was Durga Prasad identifying the enigmatic Punch-marked coins or Rahul Sankrityayana feverishly collecting manuscripts or searching for unknown facts or Jaychandra Vidyalankar defining the historical geography of India, Jayaswal extended full intellectual and moral support. He had an eye for hidden talent. He spotted many a young scholar and saw to it that they received necessary support and encouragement for pursuing their studies in Indology.

But for his patronising care in their career, they would not have blossomed into the fine scholars that we know them to be.

The present generation of students of history, fed on text books written by authors, who relish to refer only to those views of others they want to find fault with, without apportioning to them credit for their positive achievements, cannot appreciate properly the genius and contributions of Jayaswal. But it has to be realised that after Jayaswal Indian history ceased to be what it was earlier. Through his researches Jayaswal illumined many a dark chapter of India's past and added to its richness and fullness. The best tribute to Jayaswal's findings comes from V. A. Smith, the renowned historian of the age of British imperialism, who at the time of the second edition of his *Early History of India* made a pointed reference to the researches done by Jayaswal. The subsequent historians could not afford to ignore the views and writings of Jayaswal, whether they agreed with them or laboured to disagree with them. His impact is writ large on the subsequent historical writings. Jayaswal's greatest contribution was to create an awareness for the rich Indian heritage. Considering the confidence he generated in the Collective Consciousness of Indian mind, when it was fighting a spirited battle against the superior physical forces of the British imperialism, which loudly professed a high tradition of liberalism and parliamentarianism, no praise can be adequate for Jayaswal's achievements. If we are to judge a man by the foot-prints he leaves behind on the sands of time, Jayaswal was a truly great man and scholar.*

---

* This paper was prepared on the occasion of the Centenary celebrations in November, 1981.

ENGLISH POETRY—THE DISCOVERY OF THE MAINSTREAM

R. P. PRADHAN*

It was round about nineteen twenty that T. S. Eliot and Ezra Pound sponsored the Modernist movement in poetry to restore it to the main line of wit. Their immediate resentment was caused not so much by the practices of the early romantics as by those of the Georgian poets who carried on an empty and debased romantic tradition. Eliot remarked, "The situation of poetry in 1909 or 1910, was stagnant to a degree difficult for any young poet of today to imagine."[1] By and by, they set out to challenge the whole of the romantic poetics and created entirely a new idiom of poetry which was quite in keeping with the changed literary and cultural climate of the age. It was alleged that the central tradition of English poetry had been one of wit, irony and conceit as exemplified by the Metaphysical poets. In this context we propose to study some of the issues and problems involved in the movement : what is the main stream of English poetry ? Is it composed of wit or of something else ? Is the poetic restoration of the 1920, representative of the central tradition of English poetry or is it merely a digression ? what is the attitude of posterity towards this established order ? Is the movement merely an 'aberration' and has it come to a 'dead end' ?

The poetic movement of the 1920s started with an assumption that contemporary English poetry had lost its moorings and was flowing into artificial channels The movement sought to create a new idiom "of controlling, of ordering, of giving a shape and significance to the immense panorma of futility and anarchy which is contemporary

**Head, Deptt. of English, Post-graduate College, Ghazipur.*

history."[2] Withdrawing into an ivory tower, at such critical times, when the First World War was threatening the human existence, might have amounted to shirking a responsibility which the destiny had imposed upon them. Besides the immediate contemporaries, the victorians like Tennyson were attacked for their smugness, narrow nationalism and love for status quo and Arnold for his limited range of poetic vision. They further aimed at restoring poetry to the main line of wit which conformed to the classical ideals of writing.

The most vehement attack of Eliot and Pound was made on the romantic poets and their poetic creeds. T. E. Hulme exerted the greatest impact on these poets with his declaration : "I prophecy that a period of dry, hard classical verse is coming."[3] The Imagist poets were the first modernists to break away from old conventions under the influence of Hulme. They wrote hard and clear verse and discarded the use of soft, dreamy, vague and decorative words. Hulme disliked the abstract and had a belief in "dry classical spirit."[4] He was a firm believer in the Christian concept of the original sin, and questioned the whole of the Humanist traditions of Renaissance and post-Renaissance art and literature. Humanism viewed man as an exalted and dignified creature. The concept of original sin regarded man as the first sinner, hence a paltry and insignificant creature. Since man was 'essentially bad' in the opinion of Hulme, only discipline and order could recreate something through him. Elizabethan romanticism as well as the 19th century romanticism had established the dignity of man. Such ideal was incompatible with Eliot who described himself as a 'royalist in politics, an Anglo-Catholic in religion and a classicist in literature.' It was under such influences that Eliot directed his attack on the cult of personality and emotion developed by the 19th century romantic poets. His theory of order and impersonality in poetry may be taken to be a modified form of

Hulme's Classicism and dogma of original sin. He was out to deface personality so much so that poetry became with him 'an escape from emotion' and an 'escape from personality'. In his opinion the poet was merely a catalytic agent in the presence of whom diverse emotions formed a new whole. Ordinary man's emotion could be chaotic and fragmentary but the poet's emotion must be regulated and homogeneous. Perfect poetry resulted when there was 'unification of sensibility', and bad poetry was produced when there was 'dissociation of sensibility'. The emotional and the intellectual, the creative and the critical faculties must work in harmony to produce a great work of art. The subjectivity, the inner inspiration and the spontaneous flow of the romantics were thrown to the winds. They were replaced by 'a historic sense of tradition' which was imperative for the artist in his literary creation. The artist was no longer an inspired creature in the romantic sense, he had to be a conscious craftsman. He had to feel the 'simultaneous existence' of the whole literature from the days of Homer down to the present. Thus, Eliot's theory of tradition came into conflict with the romantics who believed in freedom, spontaneous expression and the breaking of fetters. Besides general attacks, the romantics also bore the brunt of individual attack. Coleridge was found guilty of 'facile generalisation'. Keats was criticised for his 'egotism', and Shelley for his 'shabby ideals'. Wordsworth's theory of poetry as 'emotion recollected in tranquillity' was taken to be the description of his own methods. Pound had already attacked Milton for having started 'a noise tradition'. Eliot also made attack in the beginning but later on brought about modifications It is, now, evident that romantic traditions coming from the days of Renaissance and passing through Milton in the 17th century and Wordsworth and others in the 19th century could not form the main current of English poetic stream as envisaged by T S. Eliot, Ezra Pound and T. E. Hulme.

We may review the claim of wit for being the central tradition of English poetry. Eliot and his associates discovered the main line of wit in the works of the Elizabethan and Jacobean dramatists and also in the works of the Metaphysicals and the 18th century poets. The Elizabethan and Jacobean poetry possessed subtlety of expression, witty and condensed metaphors, coined words and quaint phrases. The works of Shakespeare, Ben Jonson and other poet-dramatists are full of wit and humour. Wit at that stage was a sharp and pointed remark, a joke, a retort, a repartee, an ingenuity and a condensed intellectual statement. The Elizabethans were fond of making experiments in a variety of styles. They made their language smooth and flexible through these devices. Their imagery was fresh and concrete and it absorbed comprehensive thought. Their range of feeling was wide. Wit had to play a vital role in the assimilation of diverse thoughts. The metaphysical poets made use of wit, irony, paradox and conceit. We find in them a 'sensuous apprehension of thought.' Their intellect and heart worked together. They kept intellect at the tip of their senses. Eliot noted that most of them like Donne, Crashaw, Vaughan, Herbert, Marvell and Cowley were "in the direct current of English poetry."[5] They brought about an alliance of wit and seriousness. Their use of wit was subtle and skilled, it may be inferred that wit and conceit for them formed a centrally poetic attitude. In the time of Cowley and Dryden wit became equivalent to poetry. It was 'almost synonymous with imagination and fancy.' It covered the whole field of poetic creation. Dryden defined it as the product of imagination. By the time of Pope wit had been accepted as an integral metaphor :

> True Wit is Nature to advantage dressed,
> What oft was thought. but never so well expressed.[6]

Dryden, Gray, Collins, Johnson and Goldsmith were praised by Eliot for their witty and condensed expression and also for their classical restraint. The concept of wit suffered

deterioration during the 19th century. In modern age F. R. Leavis hailed the poetic achievement of Pound as equivalent to the 17th century wit and mentioned wit as the central tradition of English poetry.

It is evident, thus, that the main stream of English poerty discovered by T. S. Eliot and his associates was composed of classical ingredients such as wit, irony, conceit, intellect and objectivity. It regarded brevity, condensation, wit, and intelligent conception as the essential parts of good poetry. It incurred the displeasure of such critics as Graham Hough who criticised the achievements of the movement. He admitted its contribution in the field of diction and rhythm. These poets, no doubt, introduced living speech and conversational language into poetry. They included a large section of unpoetical materials which had been formerly neglected by the poets. They widened the range of human emotions and feelings. It was, however, fundamentlly a technical revolution, and unfavourable critics described it as 'sterilising and self-annihilating'.

Whatever the charges, the movement did not end in fiasco, and it left a legacy for the poets of the succeeding generation. Though basically technical in nature, the modernist movement in its pioneers, like Eliot, had sound ethical base. Auden and his friends realised it deeply in 1930s but they felt unhappy with Eliot's cultural and spiritual obsessions to the neglect of political and economic problems of the day. The functional use of metaphor, the introduction of common speech, the use of myth and symbol were some of the poetic devices that the poets of the Auden generation valued much and tried to use them in their verse. The English poetry written after the Second World War, the period of post-modernism as it is dubbed, has not been able to completely avoid the modernist bias of complexity. And it may loosely be described as extension of modernism.

As regards the main stream of English poetry, we may state that apparently there seem to flow two simultaneous currents, they are the currents of romanticism and classicism. They do not run parallel to each other all the time but merge into one to form a confluence. No poet is exclusively classical or exclusively romantic. No age is entirely romantic or entirely classical. No theme is set apart either for classicism or for romanticism. Sometimes the romantic current gains the upper hand and sometimes the classical one. Both the movements have been healthy and creative, both the movements have been corrupt and imitative. English poetry is an amalgamation of these two currents. However, the central stream seems to contain greater stuff of romance. The romantic tradition of English poetry appears to be more dominant than the classical one. The experimentalists of nineteen twenties have done injustice to the mainstream of English poetry by repudiating romanticism.

Regarding the growth of the romantic idea in English poetry we may mention that romance is as old as life itself. It had its birth in the garden of Eden. It is part and parcel of human life. There are traces of romance in the old English poetry. Beowulf, the earliest of the English poems (700 A. D.) contains abundant content of romance. The traditional beginning of romance in English as well as in European literature is generally made from the 12th century. France is regarded as the homeland of romance. The battle of Hastings in 1066 which established Franco-Norman rule in England inspired this spirit all the more. The first crusade in 1095 which initiated two hundred years struggle between the cross and the crescent for the supremacy of Jerusalem contributed much to the growth of romance. It gave rise to the age of chivalry. It made war religious and emotional. Love and religion were the stuff out of which romances were woven. The vernacular languages which came into prominence as opposed to the classical languages in this period fanned the flame of romance. They generally dealt with

romantic and adventurous themes. There were mainly three cycles of romances : the Matter of France, the Matter of Rome and the Matter of Britain. The matter of France sought inspiration from the story of Charlemange, the first emperor of the Holy Roman Empire. The matter of Rome dealt with the fall of Troy and also with the story of Alexander. The matter of Britain moved round the story of King Arthur who was supposed to be a 6th century British hero who had fought out the Saxons. The Arthurian cycle was the richest among these. It continued to inspire English poetry even upto the modern period.

There were other romances which satisfied the popular taste. Roman de la Rose was a french poetical romance of the 13th century. It left its impact on Chaucer, whose poetry is the meeting ground of classical and romantic ideas. The greatness of Chaucer lies in the fact that he made a departure from the romance tradition of the 13th century. His poetry is real and life-like. There are lively flashes of wit, humour and fun. However, it is the excess and artificiality of contemporary romance that is got rid of. The main poetry of Chaucer springs from romance. The stories of Boccaccio left deep impression on his mind. They were full of love and adventures. 'Troilus and Cressida,' 'The Legend of Good Women,' and 'The Canterbury Tales,' are full of romantic adventures. His romances are not airy, fantastic and queer, his tales are not cock and bull stories. The fifteenth century carried on the traditions of Chaucer and added nothing new to it. It was a century of preparation for Renaissance.

The 16th century saw the full flowering of romance. The climate was very congenial for its growth. The discovery of the Mariner's compass made possible the Age of Discovery. New countries were found out. The east and the west came into contact with each other through the new routes of the sea. Tales of adventure were being written. England shattered the power of Spain and embarked on the conquest of the world. Partiotic feelings were inspired and

they were akin to those of romance. This was the Golden Age of queen Elizabeth. Shakespeare wrote romantic comedies, tragic romances and love-sonnets. Marlowe's blank verses were no less thrilling. There was free flow of emotion and imagination. Shakespeare's comedies like *Twelfth Night, As You Like It*, and *Merchant of Venice* are full of wit, humour and fun, but above all, the spirit of romance is dominating. It is on the romantic ground that wit becomes more fertile. Wit and romance are fused together. The poems of Spenser are rich in wit and romance. They glorify the medieval institutions of Knighthood and chivalry. The spirit of war and love is all-pervading. There are references to dragons, lakes, forests, caves and castles. They create a romantic atmosphere of awe and mystery. The Greek cult of beauty which is a typical trait of Renaissance expresses itself in his poems.

There started a spirit of reaction against emotion and imagination in the 17th century. English poetry suffers deterioration owing to the play of wit and satire. The Metaphysical poets had already written a poetry of wit and conceit which was obscure and which did not embrace the people. The classical age made poetry rational and scientific. It killed the spirit of sentiment and made poetry dry and prosaic. The range of poetry became narrow besides, it was confined to urban life and its manners. Classical poetry on the whole floats on the surface of human life. The second half of the 18th century saw the revival of romance in England. Native and continental factors contributed to its growth. The romantic movement contributed to the liberation of human spirit from dry reason and mechanical conception of the universe prevalent in the 18th century. It introduced the cult of nature and country life in poetry and thus widened its range. It glorified the cult of the common man which was opposed to the cult of urban elites during the neo-classical age.

Victorian poetry was in certain respects an extension of romantic poetry. Two currents flowed throughout the period : moral and aesthetic. Both had their emanation in the romantic movement. The moral stream flowed through Tennyson and Arnold. The aesthetic stream flowed through the Pre-Raphaelites, Rossetti Morris and Swinburne. They were the votaries of pure art and beauty. They presented every minute detail of life and nature in a pictorial and vivid style. Their poetry was racy and musical. The romantic tradition was carried further partly by W. B. Yeats in the early 20th century. He contributed to it through his poetry of sybolism. He borrowed symbols from Celtic legends of Ireland. He made abundant use of old Irish myths. Walter de la Mare was another poet who created a land of dreams and fairies through his poems. His poem on Arabia is the creation of romantic utopia on this earth. The Georgians represented a decadent romantic tradition in the second decade of 20th century. They aroused the indignation of Eliot and his associates and for two decades the romantic current was on the wane. Again it was revived by Dylan Thomas who rebelled against the intellectual and social poetry of the thirties and created a religious and romantic poetry. The poets of 'fifties and 'sixties were mixed bags. Round about 1950 there started a reaction against the Neo-romantics of the forties. Some of them also opposed the political obsessions of 'thirties. A few of them disapproved the learned and abstract poetry of the 'twenties, as well.

Inspite of all these reactions the romantic current has been flowing throughout the ages. Sometimes the stream has been muddy and filthy but on the whole its flow has been perennial. The stream of romance is not opposed to that of wit. Wit is the product of this stream. The poetic restoration of the 1920s is not in keeping with the central tradition of English poetry.

References

1. Cited by Hugh Kenner, *The Invisible Poet : T. S. Eliot* (London : Methuen, 1965), p. 12.
2. T. S. Eliot, "Ulysses : Order and Myth", *Dial*, 75 (Nov. 1923), 483.
3. *Speculatians*, p. 133
4. *Ibid.*, p. 33
5. T. S. Eliot, *Selected Essays*, p. 290
6. Pope, *Collected Poems*, ed. Bombay Dobree (London : J. M. Dent & Sons, 1978), p. 65.

———

DIFFERING APPROACHES TO CONSUMER PROTECTION

DR. H. C. CHAUDHARY*

Fundamentally, sellers and consumers have an identity of interest : there can be no sellers without consumers, and vice versa. While mutual dependence is the essence of their relationship, it is also characterized by conflict because sellers and consumers have different objectives. Primarily, sellers seek to satisfy their organizational objectives. For this reason, sellers tend to state their goals in terms of revenues and profits rather than the satisfaction of individual consumer needs. On the other hand, the primary motivation underlying consumer purchases of goods and services is the satisfaction of individual needs with little, if any, regard for welfare of the sellers.

This difference between seller and consumer motivation causes each of them to perceive the problem of consumer protection in different ways. Each has different ideas as to the source of the problem, its nature and extent, the need for remedy, and the manner in which remedy can be effected.

Consumer movement is multi-dimensional and its advocates are of all stripes and persuasions. One effect of this diversity is lack of general agreement with respect to the existence of specific consumer problems and to the priorities which should be assigned to them.[1] For example, citizen groups might be primarily concerned with the consumer problems of the elderly and the poor, and would have little interest in consumer programmes relating to the need for toy safety. There are not only disagreements among them

* Associate Professor, Institute of Management, Tribhuvan University, Kathmandu.

with respect to goals and priorities, but differences are also found with regard to the necessary remedial action. Because of this, we find that what is typified as the consumer movement really consists of three distinct groups in both buyers and sellers.[2]

The 'adaptationists' are the first of these three consumer groups. The basic premise under which they operate is that circumstances generated by the sellers are such to which consumers should adapt themselves as intelligently as possible. Consequently, they emphasize on consumer education to help buyers avoid fraud and deception, rather than additional legislation for consumer protection. Members of this group tend to be on compromising terms with the seller's interest as they advocate consumer protection coinciding with that of the sellers. Many consumer educators fall into this group. The primary concern of the second group of consumerist called "Protectionists" deals mainly with consumer health and safety. Their orientation is directed towards matters concerned with the tangibility and untangibility of the product rather than other aspects of the seller-buyer relationship. Their activities are mostly confined to the field of harmful food ingredients. Since many of the issues involved therein are scientific and technical, the protectionists comprise of technicians, scientists, physicians, engineers and professional experts. The "reformists", the third group, are primarily concerned with broader spectrum of issues relating to the entire seller-consumer relationship, besides seeking improvement in consumer guidence, education and protection of their health and saftey. A major aspect of their task is delineation of consumer rights vis-a-vis those of seller. Among these rights are the right to access to consumer welfare and the right to have more accurate product information. This group is comprised of the political liberals but the breadth of scope of the reformists includes participants other than politicians.

In the same way, there is lack of unanimity in response to consumer protection issues on the part of sellers. Firstly, there are 'adaptationists' who do not actively seek the kind of change proposed by consumerists but willingly adapt to changes when they occur. This adaptation may be relatively passive, as exemplified by a food processor who changes his label to conform with new government regulations without explicit expression of opposition to the change. Adaptationists of this type constitute probably the largest group in the world. There is also a small minority in the adaptationists who have incorporated the required changes as a explicit component of their marketing strategy. A second group of sellers are characterized as "protectionists" whose basic interest lies in the maintenance of status-quo with regard to seller-consumer relationship. They are a large and powerful group among sellers. Such 'commercial terrorists' turn the market place into a dump for their financial gain and are apprehensive of the losses if their exploitive practices are eliminated. This business community opposes the just cause of the consumerism. Finally, we fined a group of sellers who are relatively small in number but their ranks are steadily growing. They are 'reformists' sellers who not only recognize the legitimacy of the causes expoused by consumer advocates but have made constructive efforts to remedy the proble ms confronting the consumers.

In a nutshell, there are marked philosophical and practical differences among consumers and sellers of the world in their approaches to consumer protection. Much of their conflict is centered round the perceived disparity of interests between seller protectionists on the one hand and consumer reformists on the other.

References

1. L. P. Feldman, "Consumer Protection : Problems and Prospects", (New York, West publishing co. 1978).
2. R. O. Herrman, "Consumerism : Its Goals, organisations and Future", (New York, Journal of Marketing, October, 1970).

In the same way, there is lack of unanimity in response to consumer protection issues on the part of sellers. Firstly, there are 'adaptationists' who do not actively seek the kind of change proposed by consumerists but willingly adapt to changes when they occur. This adaptation may be relatively passive as exemplified by a food processor who changes his label to conform with new government regulations without explicit expression of opposition to the change. Adaptationists of this type constitute probably the largest group in the world. There is also a small minority of the adaptationists who have incorporated the required changes as a explicit component of their marketing strategy. A second group of sellers are characterized as 'protectionists' whose basic interest lies in the maintenance of status quo with regard to seller-consumer relationships. They are a large and powerful group among sellers. Such commercial deviants turn the market place into a dump for their financial gain and are apprehensive of the losses if their exploitative practices are eliminated. This business community opposes the just cause of the consumerism. Finally, we find a group of sellers who are relatively small in number but their ranks are steadily growing. They are 'reformists' sellers who not only recognize the legitimacy of the causes espoused by consumer advocates but have made constructive efforts to remedy the problems confronting the consumers.

In a nutshell, there are marked philosophical and practical differences among consumers and sellers as reflected in their approaches to consumer affairs. Much of their conflict is centered round the perceived disparity of interests between sellers-profit motives on the one hand and consumer concerns on the other.

References

1. [illegible], "Consumer Protection : Problems and Prospects", New York: West publishing co. 1976.
2. R. O. Herrmann, "Consumerism : its Goals, organisations and Future", New York, Journal of Marketing, October, 1970.

SPATIAL DIMENSIONS OF RESOURCE MANAGEMENT IN NATURAL AND BUILT ENVIRONMENT

DR. RAM BABU SINGH*

Introduction

The technological disturbance of the natural environment, rapid population growth, unsystematic use of resources both physical and cultural, leads to a disturbance of the ecological equilibrium and poses danger for a balanced and healthy survival in the future. Some observers fear that our present industrial growth will lead to increasing environmental damage and resource depletion, and result in the collapse of society[1]. Such dangers are expected even in the less industrialised developing countries. In predominantly traditional rural society like India, this problem gets complicated in the context of socio-economic factors and socio-cultural ecology. Any change of resource use in imbalanced way is a potential source of disruption and the task of resource managers is to watch these new developments so that the disharmony can be reduced to a minimum. In this task, two main concepts must be made use of (i) site requirements and conditions and (ii) different degrees of compatibility[2].

As geographers are associate with man-environment relationship since long, recent active association of geography and ecology or environmental studies known as "Eco-Geography" or "Environmental Geography" will provide a strong platform and strategy for protecting, conserving and transforming the environmental and its resources to promote integrated welfare of society[3].

* Department of Geography, Banaras Hindu University.

It is not particularly studies of land, vegetation, water and soils in the frame of cohesion and distinctiveness but a more integrated rational ecological approach which enhances the prestige of geographers within the academic world[4]. Resource management also concerns not only the use of natural resources, but also the problems thereby ensuring the interaction between man and environment. It must be regarded as relating in equally important ways to the question of 'management' and that of the available potential'[5]. Integrated studies of 'Man, Society and Environment' include assessment of reciprocal influence of man and enviromment, analysis and comparison of changes between natural and cultural environment, forcasting processes and their control for the protection and improvement of the human environment along with rational use of natural resources for the benefit of mankind[6]. The paper is an attempt to work out the geographical approach to the understanding of environment and to suggest measures for an environmentally sound development without destruction in a spatio-temporal dimension.

Mental maps vs Perception of Environment

From a geographers view point the environment includes four parameters, i. e., (i) geographical, (ii) operational, (iii) perceptual and (iv) behavioural, and its interaction between geographical and non-geographical environments are the main concern of perception surfaces. How rural people perceive their physical and cultural resources and environment engage the crucial attention of the geographers. In this way, mental maps came into existence which deal with spatial view of human behaviour and environmental relations; also called behavioural ecology. The application of typology of different cross-sections of environment could be quite fruitful. They relate to different concepts of the perception and utilization of resources along with quality of environment, specifically in terms of two

ways in which resource managers and users respond to natural hazards and environment.

The studies of environmental perception look at the way in which people perceive images of other places and how these images influence many decisions including one to move. The distance between the persons and places affects the manner of construction and the final product of this image building process[7]. There is found to be wide variation in the perception of resource managers and users about natural hazards, environmental pollution and misuse of resources. Land owners, landless and different social groups perceive environment in their own way according to their understanding. Such variations are also found due to local conditions, adaptation, and training, local interest etc. Mental maps play vital role in this way towards resource management in rural environment. It is particularly useful to provide thoughtful solution to the problems of dealing with hazards like floods, droughts, air and water pollution[8]. The geographic work on perception of natural hazards has been studied by several researchers[9].

Resource Mapping

Geographical resource maps are broadly used for development planning and shaping or implementing regional policies including those involving the development of new areas. The development of geography of natural resources and rapidly growing demand for research into the society and nature will be within geographical aspects and finally as a fundamental and constructive science make claims on cartography including thematic cartography[10]. These cover forest, land, vegetation, climatic zones, water and resources of fauna etc. River erosion, desert lands, floods and droughts can also be mapped. The different series of maps of rural resources can be very helpful for work on local, national and global problems of interaction between man, society, culture and environment, particu-

larly, the constraints involved in the conservation and reproduction of renewable natural resources, increasing their productivity and spatial balanced distribution.

Spatial Analysis and Priority

Priority areas may be demarkated on the basis of spatial analysis of ecosystem for suitable technology transfer and financial allocation. In this way ecosystem can play vital role to minimise the development gaps. Emphasis not only be given on economic growth but spatial equity too based on regional specialization. Sectoral and territorial divison should not be separated but should promote complementary to each other, ensuring eco-development on the basls of physio-economic, technology and social relationship. Then people's involvement in the improving quality of life may be expected.

Resource Management vs Balanced Spatial Development

Optimum use and management of rural resources become feasible strategy of balanced development and environmental planning. The rural ecosystem consists of both aspects of man's environment, the natural and man-made. The component can be categoriesed as follows[11].

Items/System	Components
Physical	Water, air, land, minerals and fossil fuels, tidal process, climate, chemical and geological processes etc.
Biological	Animal wildlife, vegetation, microflora, foodwebs, specific ecosystems etc.
Man-made	Villages, roads, fields, rural infrastructures, transport and communications, agricultural economy.
Societal	Social-groups, political groups, cultural groups, social structures, legal structures, levels of technological development, etc.

Knowledge of above environmental components are essential in establishing environmental priorities. Rural resource development without environmental control and ecologically sound basis will lead to environmental degradation which will reduce the quality of life.

References

1. Goldsmith, E. et. al., 1972 : *A Blue Print for Survival* (printed for the Ecologist), Harmondsworth : Penguin Books.

„ Meadows, D. L., et. at., 1972 : *The Limits to Growth*, London, Earth Island.

2. Edington, J. M. and Edington, M. A., 1977 : *Ecology and Environmental Planning*, London, Chapman and Hall, p. 1.

3. Singh, R. B., 1982 : 'Ecological Approach of Irrigation System : Potentiality, Constraints, Management in Traditional Society' op. cit. (ed) H. G. Mensching, Hamburg.

„ Singh, R. B. and Singh Rana, P. B., 1979 : 'Ecological Perspective of Rural Development in North Indian Plain : Case of the Siwan District' *Geographica*, Vol. 13, Kuala Lumpur, pp. 49-57.

„ Singh, R. B. and Singh, U. R. 1980 : "Ecological Geography and Rural Development : Problems and Perspective" *Tropical Ecology and Development*, ed. J. I. Furtade Proc. of Int. Sym. on Tropical Ecology, Kuala Lumpur, pp. 433-439.

4. Eyre, S. R., 1964 : "Determinism and the Ecological Approach to Geography", *Geography*, Vol. 49, p. 374.

5. Mensching, H. G. (ed), 1982 : 'Introduction' *Problems of the Management of Irrigated Land in Areas of Traditional and Modern Cultivation* Report of the Inter-Congress Meeting of the IGU-WG on 'Resource Management in Drylands, 22-31, March, El-Minia, Hamburg.

6.10. Gerasimov, I. P., 1975 : "*Man, Society and the Environment*, Moscow : Progress pub., p. 117, 234,

7. Gould, P. and White, R., 1974 : *Mental Maps*, Harmondsworth : Penguin Books, p. 17.

8. Saarinen, T. E., 1976 : *Environmental Planning : Perception and Behaviour*, Houghton Mifflin Company, Boston, pp. 151-52.

9. Burton, I., Kates, R. and White, G., 1968 : "The Human Ecology of Extreme Geophysical Events", *Natural Hazards Res. Working Paper* No. 1, Univ. of Toronto, Deptt. of Geography. 1978 : *The Environment as Hazard*, New York, Oxford Univ. Press.

11. Lohoni, B. N., 1980 : "Environmental Impacts of Rural Transformation, Activities and their Assessment", *Rural Habitat Transformation in World Frontiers,* eds., Singhs R. L. and Rana, P. B., Varanasi, NGSI, Pub, N-30, p. 70, 81.

DRUG MARKETING—CHALLENGE OF THE EIGHTIES

DR. ABRAR AHMAD*

Pharmaceutical manufacturers[1] used to devote themselves with medical profession. The new 'Public' is the ultimate consumer. A third public is government. Various inter-relationships exist as between the public of medical profession, the consumer and government. A survey of 39 medical representatives in Varanasi indicates that drug manufacturers no longer coast on wonder product break-throughs, they must develop the level of marketing sophistication achieved in many of the consumer goods industries. With marketing innovation and public relations, marketing gains will benefit not only producers but physicians and consumers as well.

Manufacturers of prescription drugs had always been keenly aware of employees and stockholders as special groups, but among those in what might be called the 'outside' public, they concrned themselves exclusively with professional people who prescribed or directly administered their products—physicians, dentists, nurses and hospital administrators. Even the pharmacist as compounder and dispenser of the prescription was neglected.

There were reasons for this concentration of communications to the practitioner and relative neglect of other public groups. First, the doctor is the industry's no. 1 customer who decides what product his patient would purchase, If the manufacturer was able to convince the physician that a particular product was safe and effective in the treatment of a particular ailment, his primary communications task was considered accomplished. A second reason for remaining aloof from the public at large was a desire not to interfere in the traditional doctor-patient relationship. It was not considered proper to extol the virtues of particular products

* Reader in Marketing Managememt, Banaras Hindu University.

or the accomplishments of particular companies, since this might cause the patient to bring irrational pressure to bear on the physician in the choice of drugs-something in the interest of neither the patient nor the doctor. Finally, Drug firms were inherently conservative. They did not like to brag publicly about their accomplishments. They considered it their exclusive task to find better and more effective medicines and to let their products speak for themselves. The public relations policy of cultivating good relations with the medical community alone worked well and there was good understanding between manufacturer and professional.

After the second world war and during the 1950's, the industry went through a period of prosperity due to a host of significant new products. Major reason for its success was the breakthrough nature of the products. These breakthoughs oriented the industry towards new products. These products also lured new comers to the drug field augmenting competition. The selling job was not too difficult. Physicians eagerly accepted these drugs simply because they provided effective therapy where none was available before. In sharp contrast to many consumer industries, successes had been relatively easy and had happened so fast that there had been no time for the evolutionary growth period where proficiency in marketing is developed. The industry could be compared to a spindly adolescent whose rapid growth had left him to face manhood on unsteady legs. Without exerting a great deal of marketing effort in cure-craving market, the industry's marketing skills remained under-developed in dealing with the publics of medical profession, the consumer and government.

During the last decade, an insatiable public curiosity about drugs and medical care began to develop. This was brought on by an earlier parade of so-called 'miracle-drugs' including remarkable progress in the field of Psycho-pharmaceuticals which inevitably arouse their curiosity. The success of the three decades merely whetted the public appetite for

more of the same. A review of literature over the past ten years testifies increased interest in health matters.

Ironically, creditibility of allopathic treatment is being questioned because ineffective vaccines, low-content medicines, spurious formulations, drug resistence, drug addiction and side effects, drug overdose or misuse, doctors administering unnecessary drugs and prescribing harmful broad spectrum and scores of other related drug manipulations are rampant with impunity.

Over and above there are no breakthrough products in the treatment of cancer, allergic disorders, diabetes, hypertension, renal failure, cerebrovascular, heart and other incurable diseases. Despite no 'countdowns' to herald a drug breakthrough or improved products in general, companies of no repute are mushrooming in the country with sub-standard products just to make profits.

The public impression of allopathic drug industry is gradually drifting from a beneficient discoverers of life-saving life-giving miracles to that of irresponsible profiteers foisting worthless and dangerous drugs upon unsuspecting public. Hence, attitudes towards the industry have been slowly changing from respect and admiration to fear and suspicion. The difficulty of convincing the consumer of value recieved for the cost of his prescription is something of a public relations liability.

Today, pharmaceutical manufacturers and drug marketing operate under different circumstances. They face the challenges of increased public awareness of medical care & drugs, expanded government control & regulations, fewer product breakthroughs and rising costs. There are more companies and brands competing in identical or almost similar product classes, and competing battles of detailmen for the physician's time and prescription. Individual physician receiving an estimated 500 or more calls monthly complains that pharmaceutical promotion and excessive product literatures are wasteful. Direct-mail and journal advertising com-

paigns are now too costly, and often unproductive. In comparison with other industries, distribution costs of drug manufacturereres have always been among the highest. Market trends indicate that all this will be even more and competition tougher as the eighties moves on.

This conceivably calls for far more marketing effectiveness and innovation than does the selling of a new product or significant old product. The mission of marketing-whether it be of ideas or products, is the 'conversion of medical problems and challenges into opportunities'. The mission requires the utmost organizational support.

Physician is the boss of ethical products and consumer of proprietary products. Public buy cure; not physical drugs. Hence drug marketing decisions must be made in the light of customer needs rather than company needs. The prescription drug manufacturers may not win a popularity contest but they may be recognized as responsible citizens of the community giving full value in return in the form of products that will reduce suffering and prolong lives.

References

1. The foundation of the industry was laid in 1901 when Bengal Chemical and Pharmaceutical Works was established in Calcutta. The progress made under the British rule was insignificant and the country depended largely on import for its requirements of drugs & medicines. After independence, the progress of this industry has been substantial. India is now producing a large quantity of varied pharmaceutical products. In 1950, the sale of drugs amounted to just Rs 100 million. The total turnover of formulations has increased since then to more than Rs 11,500 million in 1980. The capital investment in the drug industry has risen from Rs 240 million in 1952 to more than Rs 4500 million now. About 3982 firms engaged in the production of drugs and pharmaceuticals are spread over most of the States in India. However, the largest concentration is in Maharastra (1392) and West Bengal (421) followed by Tamil Nadu (315), UP (302) and Gujrat (247). Out of the 3982 units, 200 are on the list of the Directorate General of Technical Development known as the organized sector of the industry. These 200 units (40 of them having foreign equity of 50% or less) constitute the core of the industry and are responsible for over 40% of the total drugs production. Antibiotics form roughly about 75% in value of the drugs sold in the Indian market. (Indian Pharmaceutical Guide, New Delhi : Pamposh Publications, 1981).

FUNDAMENTAL RIGHTS AND THE SUPREME COURT

Reasonableness of restrictions

Author—Dr. Shashi P. Misra,

Publisher—Deep & Deep Publications, New Delhi, 1984.

Price Rs. 90/- pp. 231.

The freedom issue is closely tied to the issue of moral responsibility; indeed were it not so, there would probably remain little interest in whether or not man is free. In terms justiciability, the moral responsibility is transformed to the issues of reasonableness of restrictions or policy, committed to certain normative premises.

The sterile debate on the inviolability of freedom and 'necessity', so common in the love-democracy world, has been avoided, and Dr. Shashi P. Misra has critically analysed the issues involved in 'the reasonableness of restrictions' on the fundamental freedoms guaranteed under the Constitution of India. She has examined the issues involved in 'reasonableness as key to justiciability under the Indian Constitution and certain general policies adopted by the court.' She has given scholarly touches to the concepts of *substantive* and *procedural* reasonableness in Indian context, and holds, 'Reasonableness is the category employed by the courts to dispense justice according to the requirements of particular cases seen in the context of their wider implications' (p 192), though there is no test which has been uniformly and consistently applied in every case. Reliance upon the Directives to deduce reasonableness is limited in scope. The court, being free from constraints of precedents or absolute standards to decide about reasonableness of restrictions, 'has a very wide choice of instruments to achieve almost any result it likes depending upon its policy preferences' (p 195). Dr. Shashi Misra could find a hierarchical order in application of the

standrad of reasonableness with freedom of speech at the top and freedom of trade at the bottom. She gives convincing arguments in terms of the latent spirit of the Constitution, the planned economy of a welfare state, the interests of public health and morals, and abuse of power by administration etc. From her arguments one is convinced to note that, without reasonableness of restrictions, however tricky, the interested parties would have reduced the fundamental freedom to a facade in the name of democracy, though the reasonableness of restrictions constitute quite *soft* determinism viable under the Constitution. Though 'state measures' have been frequently referred in the arguments, but she would have given still more powerful arguments in support of her thesis if the theoretical foundations were derived from the interventionism of the modern state consisting of economic and ideological state apparatuses.

Dr Shashi Misra has raised a vital epistemological issue which brings her research study to the central theme of social sciences : whether 'reasonableness' is identical with 'public purpose' (the doctrine of harmonious construction). It is challenging in light of her claim : 'It is no doubt amply borne out of the present study that reasonableness is not a question of law but essentially of facts and policies' (pp 196-97). She earnestly raises a methodological issue in policy-research that 'researched facts' may provide vaild grounds of test of reasonableness than 'purely legal arguments'. The work, under review, deserves to be placed in midst of policy science researches in Indian Social Sciences, and shall definitely be of immense value in terms of facts, insight, and generalized statements to those who are engaged in policy-making and the students of constitutional law in India. She has rightly refrained from deducing *process* from *non-process*. The psychological variables of judges need not be reduced to social variables. A parallelism of this sort may prove fatal to socio-legal studies in the long run. The legal history of this nation is not to be reduced to an analysis of anybody's wish or

choice, and if by chance it seems so, it is certainly not because of it. The scholarly pursuit of Dr. Shashi Misra, her insightful arguments, and lively issues raised therein, deserve our appreciation. The book is useful to students of social sciences, lawyer, judges, and laymen who are interested in problems of policy, in general.

H. C. Srivastava
Department of Sociology
Banaras Hindu University

नियम

(1) 'प्रज्ञा', जहाँ तक संभव होगा, वर्ष में दो बार प्रकाशित होगी : प्रथम अंक दीपावली के तुरन्त बाद और दूसरा अंक होली के पूर्व ।

(2) सभी प्रकार का शुल्क संपादक 'प्रज्ञा' काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका, वाराणसी-221005 के नाम भेजें ।

(3) पत्रिका में प्रकाशनार्थ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के छात्रों एवं अध्यापकों के लेख प्रथम अंक के लिए 20 जुलाई तक और द्वितीय अंक के लिए 20 नवम्बर तक संकाय संपादकों के पास तथा संपादक-मंडल के पास क्रम से 30 जुलाई और 30 नवम्बर तक पहुँच जाना चाहिए ।

(4) लेख फुलस्केप कागज पर एक तरफ टंकित होना चाहिए और सामान्यत: 10 पृष्ठों से अधिक नहीं होना चाहिएं । लेखकों को उनके लेख की रिप्रिन्ट्स की 25 प्रतियाँ दी जायेंगी ।

(1) The 'Prajna', shall, so far as possible, be published twice a year: one issue immediately after the Dipawali, the other immediately before the Holi.

(2) All subscriptions should be sent to the Editor, 'Prajna'. B. H. U. Journal, Varanasi-221005.

(3) Articles intended for publication in this Journal by B.H.U. Scholars should be submitted to the Faculty Editor before July 20 for the first issue and November 20 for the next issue and should reach the Editorial Board on July 30 and Nov. 30 respectively.

(4) Articles should ordinarily be type-written on foolscape paper on one side only and should not ordinarily cover more than 10 pages. Authors contributing original articles to the Journal are entitled to receive 25 off-prints gratis.

विश्वविद्यालय के उद्देश्य

1. अखिल जगत् की सर्वसाधारण जनता के एवं मुख्यत: हिन्दुओं के लाभार्थ हिन्दू शास्त्र तथा संस्कृत साहित्य की शिक्षा का प्रसार करना, जिससे प्राचीन भारत की संस्कृति और उसके विचार-रत्नों की रक्षा हो सके, तथा प्राचीन भारत की सभ्यता में जो कुछ महान् तथा गौरवपूर्ण था, उसका निदर्शन हो।

2. साधारणत: कला तथा विज्ञान की समस्त शाखाओं में शिक्षा तथा अन्वेषण के कार्य की सर्वतोन्मुखी उन्नति करना।

3. भारतीय घरेलू धन्धों की उन्नति और भारत की द्रव्य-संपदा के विकास में सहायक आवश्यक व्यावहारिक ज्ञान से युक्त वैज्ञानिक, तकनीकी तथा व्यावसायिक शिल्प-कलादि सम्बन्धी ज्ञान का प्रचार और प्रसार करना।

4. धर्म तथा नीति को शिक्षा का आवश्यक अंग मानकर नवयुवकों में सुन्दर चरित्र का गठन करना।

OBJECTS OF THE UNIVERSITY

1. To promote the study of the Hindu Shastras and of Samskrit Literature generally as a means of preserving and popularizing for the benefit of the Hindus in particular and of the world at large in general, the best thought and culture of the Hindus, and all that was good and great in the ancient civilization of India.

2. To promote learning and research generally in Arts and Sciences in all branches.

3. To advance and diffuse such scientific, technical and professional knowledge combined with the necessary practical training as is best calculated to help in promoting indigenous industries and in developing the material resources of the country : and

4. To promote building up of character in youth by religion and ethics as an integral part of education.